

भारतीय ज्ञानपीठ
संस्थापक
श्रीमती रमा जैन
श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

सम्पादक
रवीन्द्र कालिया

नया
ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक साहित्यिक पत्रिका
अंक 76, जून 2009

नया ज्ञानोदय

अंक 76, जून 2009

प्रबन्ध सम्पादक

साहू अखिलेश जैन

प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, पोस्ट बॉक्स नं. 3113

नई दिल्ली-110 003

फोन : 2462 6467, 2465 4196, 2469 8417, 2465 6201

फैक्स : 011-2465 4197; ई-मेल : jnanpith@satyam.net.in

वेबसाइट : www.jnanpith.net

मूल्य :

एक अंक 25 रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 250 रुपये / त्रैवार्षिक : 675 रुपये /

पंचवार्षिक : 1000 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 300 रुपये / त्रैवार्षिक : 875 रुपये /

पंचवार्षिक : 1375 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

विदेशों के लिए :

हवाई डाक : एक अंक 5 डॉलर / वार्षिक 50 डॉलर

जल मार्ग : एक अंक 3 डॉलर / वार्षिक 25 डॉलर

शुल्क 'नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ' के नाम से उपर्युक्त पते पर भेजें :

(केवल मनीआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)

(दिल्ली से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, प्रकाशक की

अनुमति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं के विचार से

भारतीय ज्ञानपीठ का सहमत होना आवश्यक नहीं।

समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

Nay" a Gy" anodaya

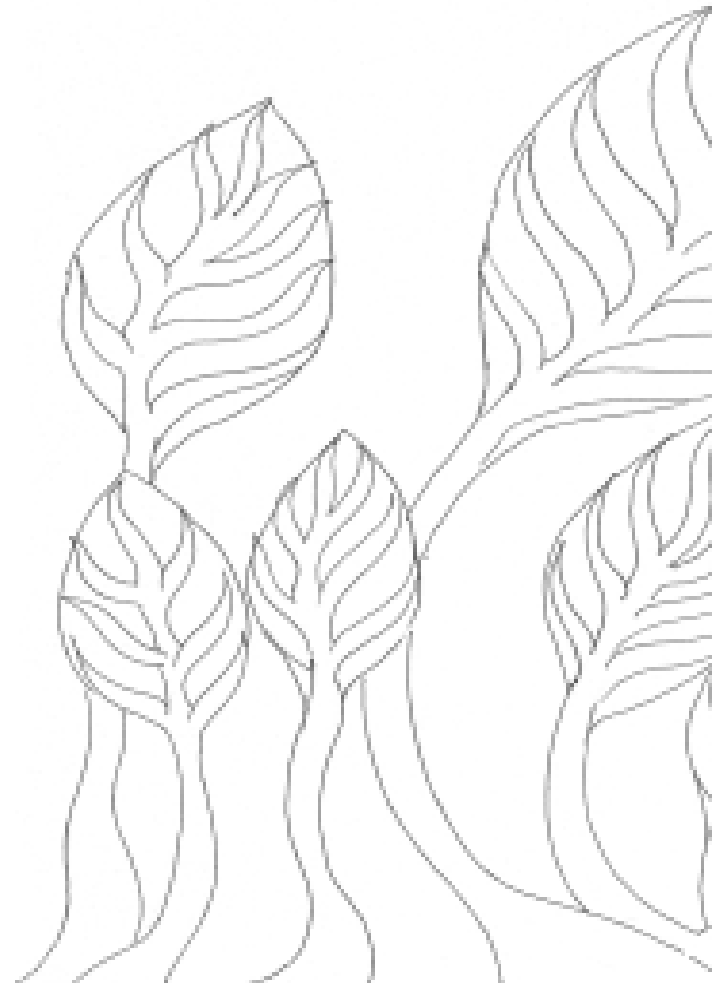
A Literary Monthly Magazine

Editor : Ravindra Kalia

Language : Hindi

Published by Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003



नया ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला संचेतना और
नवीनता की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका
अंक 76, जून 2009

तरतीब

स्मरण : चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

- 8 भारत भारद्वाज : उड़ गयी पिंजरे की मैना

गज़लें

- 10 निदा फ़ाज़ली : तीन गज़लें
10 एहतेराम इस्लाम : तीन गज़लें
11 विज्ञान व्रत : चार गज़लें

परीकथा

- 12 धर्मवीर भारती : एक छोटी मछली की कहानी

कहानी

- 14 जयशंकर प्रसाद : सालवती
32 सुभाष शर्मा : वजूद
38 तरसेम गुजराल : पुराना आदमी
43 हरिओम : ये धुआँ धुआँ अँधेरा
50 अर्चना पैन्थूली : फैनी
56 राजेन्द्र कुमार कनौजिया : सपने

कविता

- 70 पंकज राग : 1857 के डेढ़ सौवें वर्ष में
73 स्वप्निल श्रीवास्तव : बेरोजगारी के अद्भुत दिन, गाओ तो, आदमी के दुख
74 प्रतापराव कदम : अब्दुल्ला सर का इहलोक परलोक

कहानी जो याद आती है

- 21 विजयमोहन सिंह : सालवती—ऐतिहासिक से अधिक सामाजिक तथा समकालीन

इंटरनेट

- 24 गिरिराज अग्रवाल : हिन्दी को नया जीवन

डायरी

26 जीवनसिंह ठाकुर : पीठासीन की डायरी

यात्रा : पोर्ट ब्लेयर

29 मीरा सीकरी : दर्द की पृष्ठभूमि में

आलेख

62 शम्भुनाथ : प्रगतिशील आन्दोलन और आधुनिकता

इस माह की पुस्तक

75 श्रीभगवान सिंह : एक युगधर्मी आलोचक की खोज

77 बसन्त त्रिपाठी : साधारण जीवन की असाधारणता

पहली परम्परा की खोज

79 भगवान सिंह : अप्रदुग्धा सर्बदुधा

सिनेमा, नया सिनेमा

82 कुणाल सिंह : टर्टल्स कैन फ्लाई—कछुए उड़ सकते हैं !

पढ़ते-लिखते

86 सुशील सिद्धार्थ : कहीं धूप है कहीं चाँदनी

सम्पूर्ण उपन्यास

92 राजेन्द्र लहरिया : जगदीपजी की उत्तरकथा

प्रत्यंचा

120 ज्ञान चतुर्वेदी : तारा जब टूटता है



आवरण चित्र : कोरोड के.एच. (साभार : आकृति आर्ट गैलरी, कोलकाता)

रेखांकन : कर्मेन्द्र विक्रम सिंह

आरम्भिक पृष्ठों के रेखांकन : वाज़दा खान

आवरण संयोजन और साज-सज्जा : ज्ञानपीठ कला प्रभाग

जब तक हमने नहीं किया था प्यार
किया था क्या
ताज्जुब है

—जॉन डन

नया

ज्ञानोदय

प्रेम महाविशेषांक

विभूतिनारायण राय का सम्पूर्ण उपन्यास
प्रेम की भूतकथा

धर्मवीर भारती का एक क्लासिक प्रेम पत्र
और

हिन्दी की पाँच अमर प्रेम कहानियाँ
अन्य भारतीय भाषाओं की पाँच प्रेम कहानियाँ
विश्व साहित्य से पाँच प्रेम कथाओं का संचयन

सम्भावित कहानीकार

दूधनाथ सिंह, प्रियंवद, धीरेन्द्र अस्थाना, देवेन्द्र,
शमोएल अहमद, परितोष चक्रवर्ती, मधु कांकरिया,
पंकज मित्र, ए.एसफल, रॉबिन शॉ पुष्प, दीपक शर्मा,
चन्द्रमोहन प्रधान, राजेन्द्र राव, कृष्ण बिहारी, राजेन्द्र
लहरिया, सुशील सिद्धार्थ, रवि बुले, कुणाल सिंह, महुआ
माजी, चन्दन पांडेय, मनोजकुमार पांडेय, राकेश मिश्र,
मनीषा कुलश्रेष्ठ, वन्दना राग, अनुज, रजनी गुप्त, पंकज
सुबीर, गौरव सोलंकी, राहुल सिंह, ओमप्रकाश तिवारी
आदि

व

चुनी हुई प्रेम कविताएँ

तथा

नवनीता देवसेन, कान्तिकुमार जैन, विनोद शाही, प्रांजल धर, सूर्यकान्त नागर, केवल गोस्वामी,
सत्यनारायण आदि की पठनीय, रोचक व संग्रहणीय सामग्री

अगला ही अंक

मूल्य 50 रु.

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करायें

पिछली संसद में माननीय सांसदों के आचरण और भाषा को देखकर लोकसभा के अध्यक्ष इतना क्षुब्ध हो गये थे कि उन्हें सदन में ही श्राप देना पड़ा था, 'आपका आचरण निन्दनीय है। आप लोकतन्त्र का काम तमाम कर रहे हैं और देश की जनता सबकुछ देख रही है। मैं उम्मीद करता हूँ कि लोग आपको पहचान लें और सबक सिखायें। मेरे विचार में सदन की कार्यवाही अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी जानी चाहिए।'

भाषा और राजनीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है, इस पर कभी चर्चा नहीं हुई है। अगर संसद और विधानमंडल में प्रयुक्त होने वाली भाषा का विश्लेषण किया जाए तो यह कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी कि हमारे विधायकों और सांसदों की भाषा उत्तरोत्तर अशालीन होती चली गयी। नेहरू युगीन संसद में कटु से कटु बात अत्यन्त शालीन भाषा में कही जाती थी। डॉ. लोहिया नेहरू जी के परम विरोधी थे, मगर उनकी भाषा पर गौर करें तो लगता था जैसे कोई व्यक्ति बौद्धिक विमर्श कर रहा है। कृष्ण मेनन, पटेल, अम्बेडकर, अटल बिहारी वाजपेयी, इन्दिरा गाँधी, मनमोहन सिंह की

भाषा का संस्कार देखिए और दूसरी तरफ आज के अन्य अनेक नेताओं की भाषा। पिछली संसद में माननीय सांसदों के आचरण और भाषा को देखकर लोकसभा के अध्यक्ष इतना क्षुब्ध हो गये थे कि उन्हें सदन में ही श्राप देना पड़ा था, 'आपका आचरण निन्दनीय है। आप लोकतन्त्र का काम तमाम कर रहे हैं और देश की जनता सबकुछ देख रही है। मैं उम्मीद करता हूँ कि लोग आपको पहचान लें और सबक सिखायें। मेरे विचार में सदन की कार्यवाही अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी जानी चाहिए।' मतदाताओं ने इस बार सोमनाथ दादा की

बात की तार्ज्द कर दी कि वे उसके साथ हैं, जिसका आचरण निन्दनीय नहीं है, जिसका भाषा पर नियन्त्रण है। दरअसल भारत का चरित्र अब तेज़ी से बदल रहा है। शिक्षा का प्रचार-प्रसार इतना बढ़ चुका है कि आज मतदाता उस भाषा को नकारने लगे हैं, कल तक जिसे सुनकर तालियाँ पीटा करते थे। एक समय ऐसा भी था कि 'इनको मारो जूते चार' जैसी गाली गलौज भरी भाषा का दौर दौरा था, जिससे मतदाता को अब वितृष्णा हो चुकी है। अब तो साक्षरता का इतना व्यापक प्रसार हो चुका है कि गुड़िया, बुढ़िया, अयोग्य, कमज़ोर, रीढ़हीन जैसे विशेषण मतदाता को अटपटे लगने लगे हैं। शायद

यही कारण है कि इस चुनाव में ज्यादातर उसी उम्मीदवार की जीत हुई जिसने अपनी जुबान पर लगाम रखी, गाली गलौज से परहेज रखा और अपने शालीन व्यवहार का परिचय दिया। दक्षिण की एक चर्चित अभिनेत्री को उत्तर प्रदेश में उनके प्रतिद्वन्द्वियों की फूहड़ भाषा ने ही जिता दिया। दिग्गज बाहुबलियों को भी उनकी भाषा ने ही उन्हें संसद से बाहर का दरवाजा दिखा दिया। इस बात पर भी गौर करना जरूरी लग रहा है कि इस चुनाव में युवा पीढ़ी के उभरते हुए नेताओं की भाषा अपने समय के अनेक धाकड़ नेताओं की भाषा से कहीं अधिक शालीन और धारदार थी। मतदाताओं ने उन दलों को भी धूल चटा दी जिनके कम्पेन की भाषा संयत नहीं थी। दो चचेरे भाइयों की भाषा की तुलना देश भर में हो रही है। एक भाई ने अशालीन भाषा में साम्प्रदायिक उन्माद भड़का कर खुद तो अपनी सीट बचा ली लेकिन अपने दल की अनेक सीटें गँवाने में उल्लेखनीय भूमिका निभायी। दूसरे भाई को जो अभूतपूर्व सफलता हासिल हुई उसमें उसकी भाषा और सोच के अवदान को नकारा नहीं जा सकता। आज़ादी के बासठ साल बाद शिष्ट भाषा के प्रयोग की यह छोटी सी ख्वाहिश हमारे देश के मतदाताओं ने प्रकट की है। अगले चुनावों में उनकी अपेक्षाएँ और बढ़ेंगी। भाषा में जिस गति से परिवर्तन आ रहा है और नए-नए शब्द ईजाद हो रहे हैं उन पर गौर करना भी दिलचस्प होगा। एक ताज़ा-ताज़ा शब्द राजनीति के गलियारों में उछल कूद मचा रहा है जो कि मलाईदार मन्त्रालयों का पर्याय है यानी कि 'एटीएम मन्त्रालय'। इसी प्रकार लल्लुओं के स्थान पर 'पप्पू' शब्द का प्रचलन बढ़ा है। देखने में आया है कि मतदान प्रतिशत में पप्पू के कारण कई जगह इज़ाफ़ा हुआ है।

इस माह हमने वरिष्ठ कथा-लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा को खो दिया। भारतीय ज्ञानपीठ परिवार की तरफ़ से हार्दिक श्रद्धांजलि देते हुए भारत भारद्वाज ने उन पर एक आत्मीय स्मरण लिखा है। इस अंक का विशेष आकर्षण है धर्मवीर भारती की अब तक एक अप्रकाशित कहानी, जिसे पुष्पाजी के सौजन्य से हम यहाँ छाप रहे हैं। निदा फ़ाज़ली, एहतेराम इस्लाम और विज्ञान व्रत की गज़लें तथा पंकज राग, स्वप्निल श्रीवास्तव और प्रतापराव कदम की कविताएँ सम्मिलित की जा रही हैं। विजयमोहन सिंह ने अपने स्तम्भ 'कहानी जो याद आती है' के अन्तर्गत इस बार जयशंकर प्रसाद की अब तक अचर्चित रही आयी कहानी 'सालवती' को लिया है। कहानियों में जयशंकर प्रसाद की उक्त कहानी के अलावा सुभाष शर्मा, तरसेम गुजराल, हरिओम, अर्चना पैन्थूली और राजेन्द्र कुमार कनौजिया की कहानियाँ दी जा रही हैं। गिरिराज अग्रवाल (इंटरनेट पर हिन्दी), जीवन सिंह ठाकुर (डायरी), मीरा सीकरी (यात्रा) के आलेख इस अंक की अन्य उपलब्धियाँ हैं। डॉ. शम्भुनाथ ने प्रगतिशील आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में एक गहन चिन्तन-परक आलेख लिखा है। विजय बहादुर सिंह की आलोचना पुस्तक पर श्रीभगवान सिंह व गोविन्द मिश्र के उपन्यास पर बसन्त त्रिपाठी की समीक्षाएँ दी जा रही हैं। राजेन्द्र लहरिया के सम्पूर्ण उपन्यास 'जगदीपजी की उत्तरकथा' के अलावा भगवान सिंह, कुणाल सिंह, सुशील सिद्धार्थ और ज्ञान चतुर्वेदी के नियमित स्तम्भ अंक में सम्मिलित हैं।



चन्द्रकिरण सौनरेक्सा उड़ गयी 'पिंजरे की मैना' भारत भारद्वाज

आज (18 मई) जब कहानीकार प्रभात रंजन सुबह-सवेरे 'पुस्तक-वार्ता' का नया अंक लेने मेरे निवास पर आए तो उन्होंने मुझे दुखद सूचना दी कि कल वरिष्ठ वयोवृद्ध कथा लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का निधन हो गया। क्षणभर के लिए चन्द्रकिरण जी के चेहरे पर दूरदर्शन के एक कार्यक्रम में फैली सहज हास्य-स्फिति याद आई, साथ ही उनके व्यक्तित्व की सरलता का आकाश भी। चन्द्रकिरण जी स्वतन्त्रता-पूर्व की उन कुछ जागरूक महिलाओं में थीं, जिन्होंने एक आर्य समाजी परिवेश में पलने-बढ़ने के बावजूद न केवल प्रेम-विवाह के प्रसंग में क्रान्तिकारी कदम उठाया, बल्कि जड़ सामाजिक परम्पराओं के प्रति भी विद्रोह किया। आजन्म लेखन की निष्ठा से जुड़ी रहीं और एक लम्बी गुमनामी के बाद जीवन के विपुल उत्तरार्द्ध में अपनी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' लिखी, जिसका सन्दर्भ उनके पूर्वजों के 1857 के विद्रोह से आरम्भ होते हुए, व्यक्तिगत पारिवारिक-सामाजिक परिवेश का स्पर्श करता है।

बेशक, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी से मैं 2008 में मिला लेकिन मैं उनको जानता था भैरवप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'नई कहानियाँ' (1960) के जमाने से। उनकी कहानियाँ जब तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में खूब छपती थी। उनकी कोई कहानी (अब नाम नहीं याद आ रहा) छपी थी 'नई कहानियाँ' में सम्भवतः 1961 अंक में। कहानी के केन्द्र में कई बहनें थीं और उनके जीवन का अन्तर्द्वंद्व था। वह कहानी मैंने पढ़ी थी। लेकिन उस कहानी पर किसी पाठक की प्रतिक्रिया (जो 'नई कहानी' में छपी) चौंकाने वाली थी। उसने उनकी कहानी की विषयवस्तु पर सम्भवतः प्रेमचन्द्र की कहानी 'दो बहनें' के नकल का आरोप लगाया था। चन्द्रकिरण जी ने पत्रिका के अगले ही अंक में वस्तु-स्थिति स्पष्ट करते हुए इस आरोप का खंडन किया था। उनका तर्क था कि यह संयोग भी हो सकता है। बात आयी, गयी। लेकिन उनके लेखन के प्रति मेरी उत्सुकता फिर भी बनी रही। सचमुच मेरे लिए ही नहीं, उनके लिए भी हैरानी की बात होगी कि बाद में लगभग वे साहित्य की दुनिया से अदृश्य हो गयीं। वैसे वे

अपने एकान्त में लगातार लिखती रहीं और उनकी पुस्तकें छपती भी रहीं लेकिन हिन्दी साहित्य से वे दाखिल खारिज रहीं। हाँ, इस बात का उल्लेख करना मैं भूल गया कि उनके पति कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा के फोटोग्राफ्स प्रायः मैं पत्र-पत्रिकाओं में देखना रहता था। सौनरेक्सा दम्पती से तब पूर्णतः परिचित नहीं था। यही नहीं, इस बीच मैं यह भूल गया कि चन्द्रकिरण सौनरेक्सा हिन्दी की कोई लेखिका हैं। भला हो स्व. उपन्देशाथ 'अशक' का, जिन्होंने रवीन्द्र कालिया द्वारा सम्पादित 'कहानी महाविशेषांक' के पहले खंड (अप्रैल 1991) में 'महिला कथालेखन की अर्द्धशती' पर एक लम्बा आलेख लिखा, जिसमें उन्होंने शिवरानी देवी से लेकर उर्मिला शिरीष तक पर लिखा। अशक जी की दृष्टि की तारीफ करनी चाहिए कि वे महिला लेखन में गहरी ही नहीं; पैनी धार भी रखते थे। अशकजी ने अपने लम्बे आलेख (पृष्ठ संख्या - 32) में छठे लेखिका के रूप में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का उल्लेख करते हुए टिप्पणी की : '1940 के बाद उभरने वाली कथा लेखिकाओं' में सबसे पहले चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'छाया' का नाम आता है। शायद तब वे कविता भी करती थीं। लेकिन कहानी लिखने लगीं तो 'छाया' का पुच्छल्ला कुछ दिनों बाद उन्होंने छोड़ दिया। उनके पति कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा भी कहानियाँ लिखते थे। दोनों का प्रेम-विवाह हुआ था। मेरे जेहन में उनके पहले सम्मिलित कहानी संग्रह (यदि मैं नाम नहीं भूल रहा तो 'चौराहा') की आज भी याद है।

चन्द्रकिरण निरन्तर लिखती रहीं। उनकी रचनाओं में 'आदमखोर' और कुछ अन्य कहानियाँ खासी प्रसिद्ध हुईं। आज यदि उनका नाम भी कोई नहीं जानता तो इसका कारण उनके असफल पति की कुंठाजन्य मूर्खता है। इस टिप्पणी के अन्त में 'अशक' जी लिखते हैं, "मैं जानता हूँ कि वे खासी सफल और अच्छी कथा-लेखिका रही हैं। लगातार कहानियाँ लिखती रही हैं, इसलिए मुझे इस बात का खेद भी है।" (पत्रिका पृ. 324)

आखिरी बार अशक जी की टिप्पणी में मैंने चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की

चर्चा देखी थी। फिर उसके बाद उनके लेखन का एक लम्बा शून्य पसरा था। जब एक लम्बे अर्से बाद 2008 में पूर्वोदय प्रकाशन से उनकी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' आई तो मुझे एक सोच 'नई कहानियाँ' के सम्पादक भैरव प्रसाद गुप्त और 'वर्तमान साहित्य' के कहानी महाविशेषांक में प्रकाशित टिप्पणी आई। प्रकाशक से अनुरोध करके मैंने यह पुस्तक मँगवाई, इस भूली-बिखरी लेखिका को समकालीन साहित्य के परिदृश्य पर लाने के लिए भारी जद्दोजहद किया। सबसे पहले इस आत्मकथा को लिखने के लिए उन्हें बधाई का पत्र लिखा। 10 मई 2008 के पोस्टकार्ड में उन्होंने मुझे लिखा, "आपका पत्र पढ़कर अच्छा लगा। आपको लगा मेरे साथ न्याय नहीं हुआ या हिन्दी साहित्य के साथ अन्याय हुआ यह मैं आप लोगों पर छोड़ती हूँ। मेरी आत्मकथा पिछले आठ दशकों की महिलाओं के जीवन-संघर्ष का एक छोटा-सा प्रारूप है। शारीरिक शिथिलता के कारण यह पत्र भी अपने पुत्र से लिखवा रही हूँ। आशा है, आपका परिवार स्वस्थ और सानन्द है। द्वारका आने पर दर्शन अवश्य दें। सस्नेह—चन्द्रकिरण।" उनका यह पोस्टकार्ड मुझे 15 मई 2008 को मिला था। चूँकि द्वारका मेरा स्थायी निवास है। मेरे मन में हार्दिक इच्छा थी कि जब अगली बार द्वारका जाऊँ उनसे भी मिलने जाऊँगा।

उनके इस पत्र के बाद उनकी आत्मकथा को लेकर मेरे भीतर उधेड़बुन जारी थी। मैंने कुबेर दत्त को फोन किया और उन्होंने मेरे प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और दिल्ली दूरदर्शन में साधना अग्रवाल के साथ हमने उनसे लम्बी बातचीत की, जिसे दूरदर्शन ने तीन किस्तों में प्रसारित किया। पहली बार 88 वर्षीया इस वयोवृद्धा लेखिका को दूरदर्शन भवन में ही देखने का मुझे सौभाग्य मिला था। जवानी के दिनों में निश्चित रूप से वे खूबसूरत रही होंगी। बातचीत के दौरान छल-छद्म से दूर उन्होंने सहजता से हमारे प्रश्नों के उत्तर ही नहीं दिए अपने जीवन-प्रसंगों को हार्दिकता के साथ खोल भी दिया। उनकी सहज हास्य-स्फूर्ति भूलाए नहीं भूलती। 88 वर्ष की उम्र में भी उनके चेहरे पर कान्ति थी, होंठ लिपिस्टिक से रंगे थे। उनसे यह साक्षात्कार हम सबों के लिए नहीं, दिल्ली दूरदर्शन के अभिलेखाकार के लिए भी एक बड़ी उपलब्धि थी।

अब मुझे ठीक से याद नहीं है कि 'इंडिया टुडे' (हिन्दी) के 24 सितम्बर 2008 अंक में उनकी आत्मकथा छपने से पहले दूरदर्शन का यह साक्षात्कार हुआ था या बाद में। अनुमानतः यह साक्षात्कार पहले ही हुआ था। वे अशक्त नहीं थीं, हँसमुख थीं। बातचीत में बेहद शालीन। स्वाधीनता आन्दोलन की वे सजग प्रहरी थीं। जड़ सामाजिक कुरीतियाँ, विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों से आजन्म लड़ती हुई।

1920 में पेशावर छावनी की नौ सहरा में जन्मी चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' आत्मकथा की दुनिया में एक बड़ा हस्तक्षेप है, विषयवस्तु की निश्छलता और निर्दोषता के कारण। इस आत्मकथा में न झूठ-फरेब है और नहीं आत्मश्लाघा। एक निम्न मध्यवर्गीय लेखिका के जीवन संघर्ष का यह खुला चिट्ठा है। 1931 में कलकत्ता से प्रकाशित मासिक 'विषय' में इनकी पहली कहानी 'अछूत' छपी। अमृतराय द्वारा सम्पादित 'हंस' और पन्त और नरेन्द्र शर्मा द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' (1938) में भी इनकी रचनाएँ छपीं। जब 'रूपाभ'

चन्द्रकिरण जी स्वतन्त्रता-पूर्व की उन कुछ जागरूक महिलाओं में थीं, जिन्होंने एक आर्य समाजी परिवेश में पलने-बढ़ने के बावजूद न केवल प्रेम-विवाह के प्रसंग में क्रान्तिकारी कदम उठाया, बल्कि जड़ सामाजिक परम्पराओं के प्रति भी विद्रोह किया। आजन्म लेखन की निष्ठा से जुड़ी रहीं और एक लम्बी गुमनामी के बाद जीवन के विपुल उत्तरार्द्ध में अपनी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' लिखी, जिसका सन्दर्भ उनके पूर्वजों के 1857 के विद्रोह से आरम्भ होते हुए, व्यक्तिगत पारिवारिक-सामाजिक परिवेश का स्पर्श करता है।

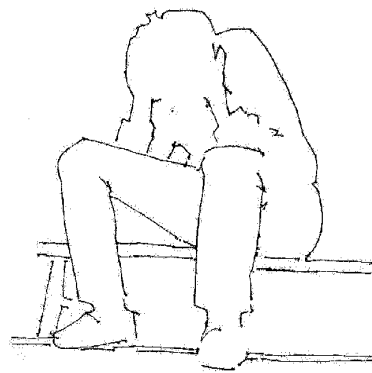


बन्द होने लगा तो नरेन्द्र शर्मा ने इनको सूचित करके इनकी कुछ अप्रकाशित कहानियाँ भगवातीचरण वर्मा द्वारा सम्पादित एवं कलकत्ता से प्रकाशित 'विचार' में भेज दी। इसके सहायक सम्पादक नवोदित लेखक कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा थे। चन्द्रकिरण के प्रति उनके आकर्षण की परिणति 1940 में विवाह में हुई।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की यह आत्मकथा बेलाग है। आर्य समाजी संस्कार में पली-बढ़ी चन्द्रकिरण ने यहाँ कुछ भी छुपाया नहीं है। सच को सच की तरह, खोला है। यही कारण है कि उनकी आत्मकथा में विश्वसनीयता ही नहीं, पाठकों के साथ दूर तक लगाव बनाने की गुंजाइश भी है।

चन्द्रकिरण जी में जीवन के अन्त तक भरपूर जिजीविषा थी। उन्हें लम्बी उम्र मिली। और जीवन के उत्तरार्द्ध में, जब हिन्दी के लेखक प्रायः गुमनाम हो जाते हैं, प्रसिद्धि भी मिली। इस सहज, निश्छल और लेखन के प्रति पूर्णतः समर्पित लेखिका के प्रति हम हिन्दी समाज की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदित करते हैं।

11/ए-1, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स
मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110 091
मो.: 09313034049



निदा फ़ाज़ली

ये दिल कुटिया है सन्तों की यहाँ राजा भिखारी क्या
 वो हर दीदार में ज़रदार है, गोटा किनारी क्या
 ये काटे से नहीं कटते, ये बाँटे से नहीं बटते
 नदी के पानियों के सामने आरी कटारी क्या
 सभी के सामने इक आईना है अपनी सूरत का
 उसी सूरत की सबको जुस्तुजू है यारा यारी क्या
 किसी घर के, किसी बुझते हुए चूल्हे में दूँद उसको
 जो चोटी और दाढ़ी तक रहे वो दीनदारी क्या
 हमारा 'मीर' जी से मुत्तफिक होना है नामुमकिन
 उठाना है जो पत्थर इश्क का तो हल्का भारी क्या

दो

एक-सा रहता नहीं वक्त हमेशा सबका
 कल हवेली थी जहाँ आज है रस्ता सबका
 चाँद सूरज भी लिखा करते हैं मौजों का हिसाब
 एक रफ्तार से बहता नहीं दरिया सबका
 घर से बाहर नहीं होती किसी दुश्मन की तलाश
 अपने ही आपसे टकराता है, गुस्सा सबका
 बस्तियों में कहाँ गुंजाइशें जंगल जैसी
 ये इलाक़ा था कभी पहले बसेरा सबका
 आसमाँ देखते रहते हैं नज़मी यूँ ही
 अपने ही हाथ में होता है सितारा सबका

तीन

जखेज़ है ज़मीन भी, बर्सात भी है ठीक
 मौसम बदल भी सकता है, ये बात भी है ठीक
 इतना बड़ा है शहर तो, होगा कहीं तो कुछ
 अपना तो दिन भी चैन से था, रात भी है ठीक
 ग़म में किसी के ख़ुद को रलाना भी है नमाज़
 मस्जिद में मौलवी की मुनाजात भी है ठीक
 मज़दूर का थकन के सिवा कौन शहर में
 अपना हो कोई साथ तो फुटपाथ भी है ठीक
 ओ जाने वाले भूख को रोटी खिलाता जा
 अब तक तो तेरे पाँव भी हैं; हाथ भी है ठीक

201, सनराइज़ अराम नगर, वसोवा, मुम्बई - 400 0061
 मो.: 9869487139

एहतेराम इस्लाम

बहाना दूँद ही लेता है, खूँ बहाने का,
 है शौक़ कितना उसे सुखियों में आने का।

मिले हैं ज़ख्म उसे इस क्रूर कि अब वो भी,
 कभी किसी को नहीं आईना दिखाने का।

बुलन्दियाँ मुझे खुद ही तलाश कर लेंगी,
 अता तो कीजिए मौक़ा नज़र में आने का।

करिश्मा कोहकनों ही के बस का होता है,
 किसी पहाड़ से दरिया निकाल पाने का।

कहीं तुझे भी न बे-चेहरा कर दिया जाए,
 तुझे भी शौक़ बहुत है शिनाख़्त पाने का।

दो

'मीर' को कोई क्या पहचाने मेरी बस्ती में,
 सब शाइर हैं जाने-माने मेरी बस्ती में।

आम हुए जिसके अफसाने मेरी बस्ती में,
 वो मैं ही हूँ, कोई न जाने मेरी बस्ती में।

रुत क्या आए फूल खिलाने मेरी बस्ती में,
 हैं काशाने-ही-काशाने मेरी बस्ती में।

घुल मिल जाने का क़ाइल हर कोई है लेकिन,
 हैं आपस में सब अंजाने मेरी बस्ती में।

मेरी गज़लों के शैदाई घर-घर हैं लेकिन,
 कौन हूँ मैं यह कोई न जाने मेरी बस्ती में।

तीन

कोई पल भी हो, दिल पे भारी लगे,
फ़ज़ा में अजब सोगवारी लगे।

ये क्या हाल ठहरा, दिल-ए-ज़ार का,
कहीं जाइए, बेकरारी लगे।

बहुत घुल चुका ज़हर माहौल में,
किसी पेड़ को अब न आरी लगे।

किसी मोड़ पर तो न पहरें मिलें,
कोई राह तो इख़्तियारी लगे।

मुहब्बत की हो या अदावत की हो,
हमें उसकी हर बात प्यारी लगे।

कहाँ ढूँढ़ने जाएँ हम शहर में,
वो दुनिया जो हमको हमारी लगे।

भरा जाए लफ़्ज़ों में जादू अगर,
गज़ल क्यों न जादू निगारी लगे।

गज़ल का कहाँ से कहा जाएगा,
वो लहजा जो ज़ब्रों से आरी लगे।

खुदा 'एहताराम' ऐसा दिल दे हमें,
किसी की हो मुश्किल, हमारी लगे।

635/547, अतरसुइया, इलाहाबाद-211 003

विज्ञान व्रत

वो सितमगर है तो है
अब मेरा सर है तो है

आप भी हैं मैं भी हूँ
अब जो बेहतर है तो है

जो हमारे दिल में था
अब जुबाँ पर है तो है

दुश्मनों की राह में
है मेरा घर, है तो है

एक सच है मौत भी
वो सिकन्दर है तो है

पूजता हूँ मैं उसे
अब वो पत्थर है तो है

दो

झगड़े की कुछ वजह न हो तो
फिर भी खुद से सुलह न हो तो

मन करता है खुद में झाँकूँ
बाहर कोई जगह न हो तो

मेरी सोच बगावत खुद से
इसकी कोई वजह न हो तो

जितना तुमने जाना मुझमें
कुछ भी मेरी तरह न हो तो

कब से एक अदालत में हूँ
लेकिन मुझ पर जिरह न हो तो

तीन

बच्चे जब होते हैं बच्चे
खुद में रब होते हैं बच्चे

सिर्फ अदब होते हैं बच्चे
इक मकतब होते हैं बच्चे

एक सबब होते हैं बच्चे
गौर-तलब होते हैं बच्चे

हमको ही लगते हैं वर्ना
बच्चे कब होते हैं बच्चे

तब घर में क्या रह जाता है
जब गायब होते हैं बच्चे

चार

आज समन्दर है बेहाल
फेंक मछरे अपना जाल

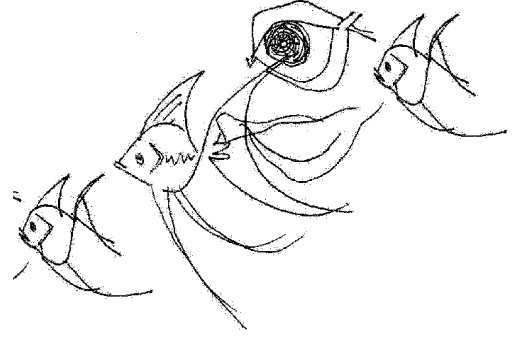
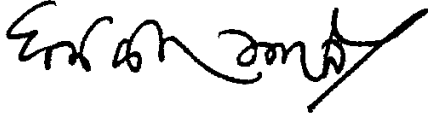
थम जाएगा ये भूचाल
ऐसा कोई वहम न पाल

जिसको दुनिया पहचाने
खुद की वो पहचान निकाल

तू भी ढूँढ़ न जाएगा
अपने जैसी एक मिसाल

मेरे वापिस आने तक
रखना मेरी साज-सम्भाल

एन-138, सेक्टर 25, नोएडा - 201 301



एक छोटी मछली की कहानी धर्मवीर भारती की एक अप्रकाशित कहानी

बहुत दिन हुए चीन देश में एक छोटी-सी मछली रहती थी। जब उसके पंख उग आये और लहरों में लहराने लगे तब उसे बहुत अच्छा लगने लगा। वह कभी शैवाल राशि से खेलती, कभी समुद्री फूल चुनती, कभी पंखों से जल-जुगनुओं को पकड़ने दौड़ती और अन्त में थक कर प्रवाल कुंजों में सो जाती। सब उसे प्यार करते थे। सबके लिये वह छोटा-सा खिलौना थी।

एक दिन बहुत सुबह उसकी नींद टूट गयी। कच्ची नींद जागी थी, अतः आलस अभी टूटा नहीं था। वह जागकर अपनी खिड़की के सहारे बैठ गयी। हवा के झोंके से लहर-खिड़की पर पड़ा फेन का फ़िलदार पर्दा जो हिला तो उसे एक बहुत अद्भुत दृश्य दिखायी दिया। उसने देखा कि इस समुद्र के ऊपर तना हुआ एक दूसरा उतना ही विराट नीला समुद्र है जिसमें पूर्व की ओर एक बहुत बड़ा सिन्दूरी रंग का वृत्ताकार फूल धीरे-धीरे अपनी पंखुरियाँ खोल रहा है। उसने बार-बार आँखें मल मल कर देखा— वह फूल और ज्योतिर्मय और जगमग होता जा रहा था।

वह तो ठहरी छोटी-सी, निश्छल-सी अबोध-सी मछली। उसके मन में आया कि वह उस समुद्र में जाकर जुगनुओं की भाँति उस फूल को भी अपने पंखों में बाँध लावे। पर जाये तो जाये कैसे? उसने लहरों की पुखराज जड़ी चौखट पर अपने नन्हे नन्हें पंख टिका कर अपने छोटे-छोटे गलफड़ों में पूरी ताकत से साँस भर कर कहा : “ओ दूसरे समुद्र! तुम ज़रा नीचे क्यों नहीं उतर आते? ओ दूसरे समुद्र में जुगनु-फूल तुम अपने ज्योति पंखों पर उड़ कर खुद मेरे पास क्यों नहीं आ जाते। देखो न! मैं तो छोटी-सी मछली हूँ। मैं कैसे पहुँचूँगी भला! पंख मेरे छोटे-छोटे रास्ता इतना लम्बा! तुम्हीं आ जाओ न!”

पर जब उसने देखा कि उसकी आवाज़ समुद्र पर तैरते छोटे छोटे बादल के टुकड़ों में ही उलझ कर रह गयी तो वह बहुत खिन्न होकर खिड़की से उतर आयी और आँखों में आँसू भर कर अपनी छोटी-सी मरकत शय्या पर आटी पाटी लेकर पड़ रहा। न उसे खाना अच्छा लगता था। न पीना!

उसके नातेदार, उसके सखा-बन्धु, उसकी सहेलियाँ सब तैर तैर कर उसे मनाने-बहलाने आये और बहुत मनावन के बाद जब उसने उन्हें अपना दुख बताया तो वे घबरा कर बोले : “हाँ वह दूसरा समुद्र बहुत गहरा है, उसका नाम आसमान है और वह जुगनुफूल बहुत ही प्रदीप्त है और उसका नाम सूर्य है। पर वहाँ तक कोई नहीं पहुँचा सका है और जो भी उधर जाने का दुस्साहस करता है उसके गलफड़े सूख जाते हैं और पंख ताप में झुलस जाते हैं।”

“तो क्या वहाँ तक पहुँचने का कोई तरीका नहीं है?” मछली ने उदास होकर पूछा।

“कोई नहीं।” सभी ने सर हिला कर इनकार किया।

पर मछली सहज में मानने वाली जीव नहीं थी। समुद्री गुफाओं में बहुत पुराने जलचर साधक

रहते थे—जिनकी आँखों पर श्वेत लम्बे-लम्बे बाल उग आये थे और जिनकी उँगलियों के नाखूनों पर मूँगे की परतें जम गयी थीं। छोटी मछली गुफा गुफा के द्वार खटखटाती घूमी पर उसका प्रश्न सुन कर सभी उसे बाहर से लौटा देते थे। अन्त में एक गुफा का द्वार खुला और उसमें से एक बहुत बूढ़ी-समुद्री साधिका निकली। “भाग जा छोटी मछली!” उसने डाँटते हुए कहा— “तुझे अपनी जान देनी है क्या? क्या करेगी वहाँ जाकर? रास्ता मुझे मालूम है पर तुझे क्यों बताऊँ?”

छोटी मछली ने बहुत मिन्नतें कीं, उसके पाँव दबाये, उसके श्वेत केशों में से सिसवार बीनी तब उसने कहा, “अच्छा, तू जान देने पर ही तुली है तो सुन! एक-स्थान है जहाँ नीचे वाले और ऊपर वाले समुद्र का मेल होता है। उसे कहते हैं क्षितिज। वहीं उस सूर्य-फूल की जड़ें हैं। वहीं से वह जड़ों में प्रस्फुटित होकर बादल की डालों के सहारे ऊपर उठता है और बीच आसमान में भरपूर खिल जाता है। लेकिन वहाँ तक पहुँचने का ख्याल छोड़ दे क्योंकि क्षितिज तक पहुँचने के लिए लहरों के बेग को चीर कर धार के उल्टी ओर तैरना होगा— और लहरें ठहरी पर्वताकार और तेरे पंख फूल की पांखुरियों से भी ज़्यादा मुलायम!”

छोटी मछली, चंचल मछली, बावरिया मछली ने पूरा वाक्य सुना भी नहीं कि मारे प्रसन्नता के वह चारों ओर नाचने लगी और पूरा दिन भी नहीं बीता कि उसने यात्रा की पूरी

तैयारी कर ली।

जिसने सुना वह दाँतों तले उँगली दाब कर रह गया पर कोई कहे तो क्या कहे!

दिन बीते, रातें बीतीं, हफ्ते बीते, महीने बीत गये वह चलती गयी— चलती गयी।

लहरों के शर प्रहार से उसके छोटे-छोटे डेने तार-तार हो गये, उसकी आँखों पर काई जमने लगी, वह लड़खड़ा ने लगी— पर रुकी नहीं।

राह में मिले—बाँधों, सिवार, केंकड़े, मुर्दा शंख।

सभी ने समझाया— “तू मरने पर तुली है। हमको देखो हम लोग हमेशा उधर जाते हैं जिधर धार जाती है। धार के विपरीत लहरों को चीर कर चलना कहाँ की अक्लमन्दी है?”

“इन सबों ने सूर्य को पहचाना नहीं है। ये अँधेरे के आदी हो चुके हैं। समझौता कर चुके हैं। प्रकाश तक पहुँचना है तो लहरों को चीर कर धार के विपरीत तैरना ही होगा—चलती चलो—चुपचाप दृढ़तापूर्वक चलती चलो!” उसने अपने से कहा— और चलती गयी, चलती गयी!

वहाँ जहाँ समुद्र का पानी काला है, समुद्री कन्दराओं में विषैले ज्वालामुखी फूटते रहते हैं, जहाँ चारों ओर करोड़ों वर्ष से अँधेरा और सन्नाटा है—वहाँ दिशाओं ने देखा कि एक बहुत छोटी-सी मछली जिसके पंख तार-तार हो गये हैं, लहरों को चीरती, लड़खड़ाती आकर गिर पड़ी।

वह थक कर बेदम हो गयी थी। गिर कर उलट गयी और उठती गिरती लहरों पर निस्पन्द उतराने लगी।

समुद्र-रक्षकों ने उसे देखा तो वे मृत्यु के शोक सूचक घंटे बजाने लगे और लहरें थम गयीं, और चारों ओर से समुद्री जीव एकत्र होने लगे। वे शोक मनाने आये थे पर सर्व सम्मति से वे उसकी कठोर आलोचना कर रहे थे— “मूर्ख थी! जिस समुद्र में पैदा हुई थी उसी में जीवन भर सन्तुष्ट क्यों नहीं रही। दूसरे समुद्र का सपना क्यों देखा?”

“अपने लहरों का छोटापन नहीं दीखा लहरों की विराटता नहीं दीखी। सूर्य की चमक दीख गयी!”

“धार के उल्टे तैरेंगी? अब चख लिया स्वाद!”

“वरुण लोक में पहली बार किसी ने ऐसा दुस्साहस किया है। इसे तो मरने पर भी घोर दंड देंगे वरुण महाराज!”

अकस्मात् इन चर्चाओं के स्वर को दबाते हुए एक साथ 11 शंखों की गम्भीर ध्वनि गूँजी और धीरे-धीरे पास आने लगी। चारों ओर सन्नाटा छा गया। शंखों के रथ पर स्वतः पधार रहे हैं वरुण महाराज! देखें इस उदण्ड मछली के लिये कौन से दंड का विधान हो!

वरुण का रथ रुका—जल की एक-एक बूँद, समीत सादर अचने अपने स्थान पर स्तब्ध हो गयी।

वरुण के अंगरक्षक उतरे। उन्होंने रजत जाल फेंक कर उस मछली को उठाया। लोग साँस रोक कर खड़े हो गये। अब निस्सन्देह इसके टुकड़े-टुकड़े कर जल गूँधों को फेंक दिए जाएँगे।

पर यह क्या?

वरुण ने उस छोटी-सी बेदाग मछली को आहिस्ते से अपनी हथेली पर रख लिया है और उसे अपनी बूढ़ी पलकों से लगा कर बड़ी ममता से देख रहे हैं।

वरुण खड़े हो गये।

“मेरी जलप्रभाओ!” धीरे गम्भीर स्वर में बोले— “तुम सब मेरे निर्माण हो। मैंने ही रची हैं ये भीमाकर लहरें, मैंने ही बनाया है यह सागर का मापहीन विस्तार—और मैंने ही बनाये हैं इस छोटी-सी मछली के नन्हे-नन्हे पंख। लेकिन इनका निर्माण निरर्थक होता यदि इस नन्ही मछली ने अपने अदम्य साहस से धार के विपरीत तैरने की न ठान ली होती। धार के अनुसार, उसी दिशा में तो कूड़ा कर्कट भी बहता है, पत्ते और तिनके भी बहते हैं, लेकिन क्या सार्थकता थी इन पंखों की यदि इस नन्ही सी मछली ने अपना गन्तव्य पहचान कर अपने नन्हे पंखों में अदम्य इच्छाशक्ति भर कर पर्वताकार लहरों का सामना नहीं किया होता... जो इन लहरों से भयभीत होकर अपनी दिशा भूल जाता है, और उसी दिशा में बहने लगता है उसके पंख धीरे-धीरे झर जाते हैं और वह रह जाता है केवल सिवार, केंकड़ा, घोंघा, मुर्दा शंख।”

इतना कहकर वरुण ने चारों ओर देखा।

सिवार, केंकड़े, घोंघे जो अभी तक गर्व से फूले हुए थे अकस्मात् उदास और मायूस होकर बैठ गये थे। उसने फिर कहा :

“तुम लोग समझते थे यह नन्ही मछली अकेली और असहाय थी। तुम भूल गये कि जो अपनी राह पर दृढ़ता से चलता है उसका साथ जब और कोई नहीं देता तो मैं उसके साथ रहता हूँ। ये मेरी हथेलियाँ जिसने इसके पंख बनाये थे वे इन आहत क्षत-विक्षत थके पंखों को सहारा देने के लिये सदा साथ हैं।”

फिर उसने अपनी हथेली ऊपर उठा कर मछली को अपनी पलकों से छुलाया— “वह सूर्य, वह प्रकाश जिसकी खोज में यह जा रही थी वह आदित्य है, वरुण का मित्र है। मैं इसके पंखों पर उसे स्थापित करता हूँ। वह जो खोज में निकल पड़ता है, और वह जिसकी खोज की जाती है अन्ततः कहीं-न-कहीं एक है। इसीलिए सूर्य का आलोक और इसके पंखों की आभा अब एक हो जाएगी। आज से यह चमकने वाली मछली होगी। जिन गहन कन्दराओं में सृष्टि के प्रथम दिन से आज तक कभी प्रकाश नहीं गया वहाँ भी यह सूर्या मछली प्रकाश बिखरेगी और दूसरे अदम्य साहस की स्मृति में— मैं यह आदेश देता हूँ कि आज से जितनी भी मछलियाँ पैदा होंगी वे पैदा होते ही लहरों को चीर कर धार के विपरीत तैरने में ही सुख पाएँगी!”

उस दिन से आज तक हजारों वर्ष बीत गये पर यह सभी जानते हैं कि मछलियाँ पैदा होते ही धार को चीर कर ऊपर की ओर, उद्गम की ओर तैरना शुरू करती हैं— और जो भी मोती खोजने समुद्र में गहरे उतरे हैं उनका कहना है कि उस छोटी-सी चमकने वाली मछली की ज्योति कभी मन्द नहीं पड़ती सूर्य को तो कभी-कभी राहु भी ग्रस लेता है पर उस मछली की ज्योति की रक्षा स्वतः वरुण करते हैं।

सौजन्य : पुष्पा भारती

5, शाकुन्तल

साहित्य सहवास, बान्द्रा (पूर्व)

मुम्बई - 400 051

फोन : 022-26591360

कहानी जो याद आती है

सालवती जयशंकर प्रसाद



सदानीरा अपनी गम्भीर गति से, उस घने साल के जंगल से कतराकर चली जा रही है। सालों की श्यामल छाया उसके जल को और भी नीला बना रही है; परन्तु वह इस छायादान को अपनी छोटी-छोटी वीचियों से मुस्करा कर टाल देती है। उसे तो ज्योत्स्ना से खेलना है। चैत की मतवाली चाँदनी परिमल से लदी थी। उसके वैभव की यह उदारता थी कि उसकी कुछ किरणों को जंगल के किनारे की फूस की झोंपड़ी पर भी बिखरना पड़ा।

उसी झोंपड़ी के बाहर नदी के जल को पैर से छूती हुई एक युवती चुपचाप बैठी आकाश के दूरवर्ती नक्षत्रों को देख रही थी। उसके पास ही सत्तू का पिंड रक्खा था। भीतर से दुर्बल कंठ से किसी ने पुकारा, “बेटी!”

परन्तु युवती तो आज एक अद्भुत गौरव, नारी-जीवन की सार्थकता देखकर आयी है। पुष्करिणी के भीतर से कुछ मिट्टी, रात में ढोकर बाहर फेंकने का पारिश्रमिक चुकाने के लिए, रत्नाभरणों से लदी हुई एक महालक्ष्मी बैठी थी। उसने पारिश्रमिक देते हुए पूछा, “बहन! तुम कहाँ रहती हो? कल फिर आना।” उन शब्दों में कितना स्नेह था। वह महत्त्व!... क्या इन नक्षत्रों से भी दूर की वस्तु नहीं? विशेषतः उसके लिए... वह तल्लीन थी। भीतर से फिर पुकार हुई।

“बेटी!...सालवती!... रात को नहा मत! सुनती नहीं!... बेटी!”

“पिताजी!” सालवती की तन्द्रा टूटी। वह उठ खड़ी हुई। उसने देखा कि वृद्ध छड़ी टेकता हुआ झोंपड़ी के बाहर आ रहा है। वृद्ध ने सालवती की पीठ पर हाथ रखकर उसके बालों को टटोला! वे रूखे थे। वृद्ध ने सन्तोष की साँस लेकर कहा, “अच्छा है बेटी! तूने स्नान नहीं किया न! मैं तनिक सो गया था। आज तू कहाँ चली गयी थी? अरे, रात तो प्रहर से अधिक बीत चुकी। बेटी? तूने आज कुछ भोजन नहीं बनाया?”

“पिताजी! आज मैं नगर की ओर चली गयी थी। वहाँ पुष्करिणी बन रही है। उसी को देखने।”

“तभी तो बेटी! तुझे विलम्ब हो गया। अच्छा, तो बना ले कुछ। मुझे भी भूख लगी है। ज्वर तो अब नहीं है। थोड़ा-सा मूँगा का सूप... हाँ रे! मूँगा तो नहीं है! अरे, यह क्या है रे?”

“पिताजी! मैंने पुष्करिणी में से कुछ मिट्टी निकाली है। उसी का यह पारिश्रमिक है। मैं मूँगा लेने ही तो गयी थी; परन्तु पुष्करिणी देखने की धुन में उसे लेना भूल गयी।”

“भूल गयी न बेटी! अच्छा हुआ; पर तूने यह क्या किया! बज्जियों के कुल में किसी बालिका ने आज तक... अरे... यह तो लज्जापिंड है! बेटी! इसे मैं न खा सकूँगा। किसी कुलपुत्र के लिए इससे बढ़कर अपमान की और कोई वस्तु नहीं। इसे फोड़ तो!”

सालवती ने उसे पटककर तोड़ दिया। पिंड टूटते ही वैशाली की मुद्रा से अंकित एक स्वर्ण-खंड उसमें से निकल पड़ा। सालवती का मुँह खिल उठा; किन्तु वृद्ध ने कहा, “बेटी! इसे सदानीरा में फेंक

दे।” सालवती विषाद से भरी उस स्वर्ण-खंड को हाथ में लिए खड़ी रही। वृद्ध ने कहा, “पागल लड़की को! आज उपवास न करना होगा। तेरे मिट्टी ढोने का उचित पारिश्रमिक केवल यह सत्तू है। वह स्वर्ण का चमकीला टुकड़ा नहीं।”

“पिताजी! फिर आप?”

“मैं...? आज रात को भी ज्वर का लंघन समझूँगा! जा, यह सत्तू खाकर सदानीरा का जल पीकर सो रह!”

“पिताजी! मैं भी आज की रात बिना खाए बिता सकती हूँ, परन्तु मेरा एक सन्देश...”

“पहले उसको फेंक दे, तब मुझसे कुछ पूछ!”

सालवती ने उसे फेंक दिया। तब एक निःश्वास छोड़कर बुढ़े ने कहना आरम्भ किया।

आर्यों का वह दल, जो माधव के साथ ज्ञान की अग्नि मुँह में रखकर सदानीरा के इस पार पहले-पहल आया, विचारों की स्वतन्त्रता का समर्थक था। कर्मकांडियों की महत्ता और उनकी पाखंडप्रियता का विरोधी वह दल, सब प्रकार की मानसिक या नैतिक पराधीनता का कट्टर शत्रु था।

जीवन पर उसने नए ढंग से विचार करना आरम्भ किया। धर्म का ढोंग उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता था। वह आर्यों का दल दार्शनिक था। उसने मनुष्यों की स्वतन्त्रता का मूल्य चारों ओर से आँकना चाहा। और आज गंगा के उत्तरी तट पर विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लों का जो गणतन्त्र अपनी ख्याति से सर्वोन्नत है, वह उन्हीं पूर्वजों की कीर्तिलेखा है।

मैं भी उन्हीं का कुलपुत्र हूँ, मैंने भी तीर्थकरों के मुख से आत्मवाद-अनात्मवाद के व्याख्यान सुने हैं। संघों के शास्त्रार्थ कराए हैं। उनको चातुर्मास कराया है। मैं भी दार्शनिकों में प्रसिद्ध था। बेटी! तू उसी धवलयश की दुहिता होकर किसी की दया पर अपना जीवन-निर्वाह करे, यह मैं नहीं सहन कर सकता।

बेटी, गणराज्य में जिन लोगों के पास प्रभूत धन है, उन लोगों ने निर्धन कुलीनों के निर्वाह के लिए यह गुप्तदान की प्रथा चलायी है कि अँधेरे में किसी से थोड़ा काम करारकर उसे कुछ स्वर्ण दे देना। क्या यह अनुग्रह नहीं है बेटी?

“हैं तो पिता जी!”

“फिर यह कृतज्ञता और दया का भार तू उठावेगी। वही हम लोगों की सन्तान, जिन्होंने देवता और स्वर्ग का भी तिरस्कार किया था, मनुष्य की पूर्णता और समता का मंगलघोष किया था, उसी की सन्तान अनुग्रह का आश्रय ले?”

“नहीं पिताजी! मैं अनुग्रह न चाहूँगी।”

“तू मेरी प्यारी बेटी है। जानती है बेटी! मैंने दार्शनिकवादों में सर्वस्व उड़ाकर अपना कौन-सा सिद्धान्त स्थिर किया है?”

“नहीं पिताजी!”

“आर्थिक पराधीनता ही संसार में दुःख का कारण है। मनुष्य को उस मुक्ति पानी चाहिए; मेरा इसलिए उपास्य है स्वर्ण।”

“किन्तु आपका देवता कहाँ है?”

वृद्ध ठठाकर हँस पड़ा। उसने कहा, “मेरा उपास्य मेरी झोंपड़ी में है; इस सदानिरी में है; और है मेरे परिश्रम में।”

सालवती चकित होकर देखने लगी।

वृद्ध ने कहा, “चौक मत बेटी! मैं हिरण्यगर्भ का उपासक हूँ। देख, सदानिरी की शिलाओं में स्वर्ण की प्रचुर मात्रा है।”

“तो पिताजी! आपने इन काले पत्थरों से झोंपड़ी इसलिए भर रक्खी है?” सालवती ने उत्साह से कहा।

वृद्ध ने सिर हिलाते हुए अपनी झोंपड़ी में प्रवेश किया। और सालवती! उसने घूमकर लज्जापिंड को देखा भी नहीं। वह दरिद्रता का प्रसाद यों ही बिखरा पड़ा रहा। सालवती की आँखों के सामने चन्द्रमा सुनहला होकर सदानिरी की जलधारा को स्वर्णमयी बनाने लगा। साल के एकान्त कानन से मर-मर की ध्वनि उठती थी। सदानिरी की लहरें पुलिन से टकराकर गम्भीर कलनाद का सृजन कर रही थीं; किन्तु वह लावण्यमयी युवती अचेतन अवस्था में चुपचाप बैठी हुई वज्रियों की—विदेहों की अद्भुत स्वतन्त्रता पर विचार कर रही थी। उसने झुंझलाकर कहा, “ठीक! मैं अनुग्रह नहीं चाहती। अनुग्रह लेने से मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतन्त्र बनाती है।”

लज्जापिंड से मछलियों की उदरपूर्ति कराकर वह भूखी ही जाकर सो रही।

दूसरे दिन से वृद्ध शिला-खंडों से स्वर्ण निकालता और सालवती उसे बेचकर आवश्यकता की पूर्ति करती। उसके साल-कानन में चहल-पहल रहती। अतिथि, आजीवक और अभ्यागत आते, आदर-सत्कार पाते, परन्तु यह कोई न जान सका कि यह सब होता कहाँ से है। वैशाली में धूम मच गयी। कुतूहल से कुलपुत्र चंचल हुए! परन्तु एक दिन धवलयश अपनी गरिमा में हँसता हुआ संसार से उठ गया।

सालवती अकेली रह गयी। उसे तो स्वर्ण का उद्गम मालूम था। वह अपनी जीवनचर्या में स्वतन्त्र बनी रही। उसका रूप और यौवन मानसिक स्वतन्त्रता के साथ सदानिरी की धारा की तरह

वेगपूर्ण था।

वसन्त की मंजरियों से पराग बरसने लगा। किसलय के कर-पल्लव से युवकों को आमन्त्रण मिला। वैशाली के स्वतन्त्र नागरिक आमोद-प्रमोद के लिए उन्मत्त हो उठे। अशोक के लाल स्तवकों में मधुपों का मादक गुंजार नगर-प्रान्त को संगीतमय बना रहा था। तब कलशों में आसव लिए दासों के वृन्द, वसन्त-कुसुमालंकृत युवतियों के दल, कुलपुत्रों के साथ वसन्तोत्सव के लिए, वनों उपवनों में फैल गए।

कुछ मनचले उस दूरवर्ती साल-कानन में भी पहुँचे। सदानिरी के तट पर साल की निर्जन छाया में उनकी गोष्ठी जमी। इस दल में अन्य लोगों की अपेक्षा एक विशेषता थी, इनके साथ स्त्री न थी।

दासों ने आसन बिछा दिए। खाने-पीने की सामग्री रख दी गयी। ये लोग सम्भ्रान्त कुलपुत्र थे। कुछ गम्भीर विचारक-से वे युवक देव-गन्धर्व की तरह रूपवान थे। लम्बी-चौड़ी हड्डियों वाले व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो-एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न-जटित कटिबन्ध में कृपाणी। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहरे पतले-पटबन्ध और वसन्तोत्सव के प्रधान चिह्न-स्वरूप दूर्वा और मधूकपुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदंड, कुछ-कुछ आसव-पान से अरुणनेत्र, ताम्बूलरंजित सुन्दर अधर, उस काल के भारतीय शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे।

वे बोलने के पहले थोड़ा मुस्कराते, फिर मधुर शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त करते थे। गिनती में वे आठ थे। उनके रथ दूर खड़े थे। दासों ने आवश्यक वस्तु सजाकर रथों के समीप आश्रय लिया। कुलपुत्रों का पान, भोजन और विनोद चला।

एक ने कहा, “भद्र! अभिनन्द! अपनी वीणा सुनाओ।”

दूसरों ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अभिनन्द के संकेत पर दास ने उसकी वीणा सामने लाकर रख दी। अभिनन्द बजाने लगा। सब आनन्द-मग्न होकर सुनने लगे।

अभिनन्द ने एक विश्राम लिया। लोगों ने ‘साधु-साधु’ कहकर उसे अभिनन्दित किया। सहसा अश्वों के पद-शब्द सुनायी पड़े।

सिन्धुदेश के दो धवल अश्वों पर, जिनके स्वर्णालंकार चमक रहे थे, चामर हिल रहे थे, पैरों में झाँके मधुर शब्द कर रही थीं, दो उच्च पदाधिकारी माननीय व्यक्तियों ने वहाँ पहुँचकर उस गोष्ठी के लोगों को चंचल कर दिया।

उनके साथ के अन्य अश्वारोही रथों के समीप ही खड़े रहे; किन्तु वे दोनों गोष्ठी के समीप आ

गए।

कुलपुत्रों ने एक को पहचाना। वह था उपराजा अभय कुमार। उन लोगों ने उठकर स्वागत और नमस्कार किया।

उपराजा ने अश्व पर से ही पूछा, “कुलपुत्रों की शुभकामना करते हुए मैं पूछ सकता हूँ कि क्या कुलपुत्रों की प्रसन्नता इसी में है कि वे लोग अन्य नागरिकों से अलग अपने वसन्तोत्सव का आनन्द आप ही लें?”

“उपराजा के हम लोग कृतज्ञ हैं। हम लोगों की गोष्ठी को वे प्रसन्नता से सुशोभित कर सकते हैं। हम लोग अनुगृहीत होंगे।”

“किन्तु मेरे साथ एक माननीय अतिथि हैं। पहले इनका परिचय करा दूँ?”

“बड़ी कृपा होगी।”

“ये हैं मगधराज के महामन्त्री! वैशाली का वसन्तोत्सव देखने आए हैं।”

कुलपुत्रों के मन में सोचा—महामन्त्री चतुर है। रथ पर न चढ़कर अश्व की बल्ला उसने अपने हाथ में रक्खी है। विनय के साथ कुलपुत्रों ने दोनों अतिथियों को घोड़ों से उतरने में सहायता दी। दासों ने दोनों अश्वों को रथ के समीप पहुँचाया और वैशाली के उपराजा तथा मगध के महामन्त्री कुलपुत्रों के अतिथि हुए।

महामन्त्री गूढ़ राजनीतिज्ञ था। वह किसी विशेष सिद्धि के लिए वैशाली आया था। वह संस्थागार के राजकों की मनोवृत्ति का गम्भीर अध्ययन कर रहा था। उनकी एक-एक बातों, आचरणों और विनयों की वह तीव्र दृष्टि से देखता। उसने पूछा, “कुलपुत्रों से मैं एक बात पूछूँ, यदि वे मुझे प्रसन्नता से ऐसी आज्ञा दें?”

अभिनन्द ने कहा, “अपने माननीय अतिथि को यदि हमलोग प्रसन्न कर सकें, तो अनुगृहीत होंगे।”

“वैशाली के 7,707 राजकों में आप लोग भी हैं। फिर आपके उत्सव में वैराग्य क्यों? अन्य नागरिकों से आप लोगों का उत्सव भिन्न क्यों है? आपकी गोष्ठी में ललनाएँ नहीं! वह उल्लास नहीं, परिहास नहीं, आनन्द-उमंग नहीं। सबसे दूर अलग, संगीत आपानक से शून्य आपकी गोष्ठी विलक्षण है।”

अभयकुमार ने सोचा, कि कुलपुत्र इस प्रश्न को अपमान न समझ लें। कहीं कड़वा उत्तर न दे दें। उसने कहा, “महामन्त्री! यह जानकर प्रसन्न होंगे कि वैशाली गणतन्त्र के कुलपुत्र अपनी विशेषताओं और व्यक्तित्व को सदैव स्वतन्त्र रखते हैं।”

अभिनन्द ने कहा, “और भी एक बात है। हम लोग आठ स्वतन्त्र तीर्थकरों के अनुयायी हैं और

परस्पर मित्र हैं। हमलोगों ने साधारण नागरिकों से असमान उत्सव मनाने का निश्चय किया था मैं तो तीर्थकर पूरण कश्यप के सिद्धान्त अक्रियवाद को मानता हूँ। यज्ञ आदि कर्मों में न पुण्य है, न पाप। मनुष्य को इन पचड़ों में न पड़ना चाहिए।”

दूसरे ने कहा, “आर्य, मेरा नाम सुभद्र है। मैं यह मानता हूँ कि मृत्यु के साथ ही सब झगड़ों का अन्त हो जाता है।”

तीसरे ने कहा, “मेरा नाम वसन्तक है। मैं संजय वेलटिपुत का अनुयायी हूँ। जीवन में हम उन्हीं बातों को जानते हैं, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारी संवेदनाओं से है। हम किसी अनुभवातीत वस्तु को नहीं जान सकते।”

चौथे ने कहा, “मेरा नाम मणिकंठ है। मैं तीर्थकर प्रबुद्ध कात्यायन का अनुगत हूँ। मैं समझता हूँ कि मनुष्य कोई सुनिश्चित वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकता।”

पाँचवें ने कहा, “मैं आनन्द हूँ, आर्य! तीर्थकर मस्करी गोशाल के नियतिवाद में मेरा पूर्ण विश्वास है। मनुष्य में कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं। उसके लिए जो कुछ होना है, वह होकर ही रहेगा। वह अपनी ही गति से गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाएगा।”

छठे ने कहा, “मैं तीर्थकर नाथ-पुत्र का अन्तेवासी हूँ। मैं कहता हूँ, कि वस्तु है भी, नहीं भी है। दोनों हो सकता है।”

सातवें ने कहा, “मैं तीर्थकर गौतम का अनुयायी समुंगल हूँ, किसी वास्तविक सत्ता में विश्वास ही नहीं करता। आत्मन् जैसे कोई पदार्थ ही नहीं है।”

आठवें ने किंचित मुस्कराकर कहा, “आर्य! मैं मैत्रागण विदेहों के सुनिश्चित आत्मवाद का माननेवाला हूँ, ये जितनी भावनाएँ हैं, सबका उद्गम आत्मन् ही है।”

अभिनन्द ने कहा, “तब हम लोगों की विलक्षणता पर महामन्त्री को आश्चर्य होना स्वाभाविक है।”

अभयकुमार कुछ प्रकृतिस्थ हो रहा था। उसने देखा कि महामन्त्री बड़े कुतूहल और मनोनिवेश से कुलपुत्रों का परिचय सुन रहा है। महामन्त्री ने कुछ व्यंग्य से कहा, “आश्चर्य है! माननीय कुलपुत्रों ने अपने विभिन्न विचारों का परिचय देकर मुझे चकित कर दिया है। तब आपलोगों का कोई एक मन्तव्य नहीं हो सकता।”

“क्यों नहीं; वज्जियों का एक तो स्थिर सिद्धान्त है ही, अर्थात् हमलोग वज्जिसंघ के सदस्य हैं। राष्ट्रनीति में हमलोगों का मतभेद तीव्र नहीं होता।” कुलपुत्रों को चुप देखकर किसी ने साल के अन्तराल से सुकोमल कंठ से यह कहा और नदी की ओर

चली गयी।

उन लोगों की आँखें उधर उस कहने वाले को खोज रही थीं कि सामने से कलश लिये हुए सालवती सदानिरी का जल भरने के लिए आती दिखलाई पड़ी।

मगध के महामन्त्री को उस रूप-लावण्यमयी युवती का यह उत्तर थपड़-सा लगा। उसने कहा, “अद्भुत!”

प्रसन्नता से महामन्त्री की विमूढ़ता का आनन्द लेते हुए अभयकुमार ने कहा, “आश्चर्य कैसा आर्य?”

“ऐसा सौन्दर्य तो मगध में मैंने कोई देखा ही नहीं। वज्जियों का संघ सब विभूतियों से सम्पन्न है। अम्बापाली, जिसके रूप पर हम लोगों को गर्व है, इस लावण्य के सामने तुच्छ है। और इसकी वाक्पटुता भी...!”

“किन्तु मैंने सुना है कि अम्बापाली वेश्या है। और यह तो?” इतना कहकर अभयकुमार रुक-सा गया।

महामन्त्री ने गम्भीरता से कहा, “तब यह भी कोई कुलवधू होगी! मुझे क्षमा कीजिए।”

“यह तो पूछने से मालूम होगा!”

क्षण भर के लिए सब चुप हो गए थे। सालवती अपना पूर्ण घट लेकर करारे पर चढ़ रही थी। अभिनन्द ने कहा, “कल्याणी! हम लोग आपका परिचय पाने के लिए उत्सुक हैं।”

“स्वर्गीय कुलपुत्र आर्य धवल्यश की दुहिता सालवती के परिचय में कोई विचित्रता नहीं है।” सालवती ने गम्भीरता से कहा— वह दुर्बल कटि पर पूर्ण कलश लिए कुछ रुक-सी गयी थी।

मैत्रागण ने कहा, “धन्य है कुलपुत्रों का वंश।”

आज हम लोगों का प्रतिनिधि बनकर जो उचित उत्तर आपने मगध के माननीय महामन्त्री को दिया, वह कुलीनता के अनुरूप है हम लोगों का साधुवाद ग्रहण कीजिए।”

“क्या कहूँ आर्य! मैं उतनी सम्पन्न नहीं हूँ कि आप जैसे माननीय अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सकूँ फिर भी जल-फल-फूल से मैं दरिद्र भी नहीं। मेरे साल-कानन में आने के लिए मैं आप लोगों का हार्दिक स्वागत करती हूँ। जो आज्ञा हो मैं सेवा करूँ।”

“शुभे, हम लोगों को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। हम लोग आपकी उदारता के लिए कृतज्ञ हैं।” अभिनन्द ने कहा।

“किन्तु मैं एक प्रार्थना करूँगा।” महामन्त्री ने सविनय कहा।

“आज्ञा दीजिए।”

“यदि आप अन्यथा न समझें।”

“कहिए भी।”

“अभिनन्द के हाथ में वीणा है। एक सुन्दर आलाप की पूर्ति कैसे होगी?” धृष्ट महामन्त्री ने कहा— “मुझे तो संगीत की वैसी शिक्षा नहीं मिली जिससे आप प्रसन्न होंगे फिर भी कलश रखकर आती हूँ।” निसंकोच भाव से कहकर सालवती चली गयी। सब चकित थे।

बेंत से बुनी हुई डाली में थोड़े-से फल लिए हुए सालवती आयी और आसन के एक भाग में बैठ गयी। कुलपुत्रों ने फल चखे और थोड़ी मात्रा में आसव भी। अभिनन्द ने वीणा उठा ली। अभयकुमार प्यासी आँखों से उस सौन्दर्य को देख रहा था। सालवती ने अपने गोत्र की छाप से अंकित अपने पिता से सीखा हुआ पद मधुर स्वर से गाना आरम्भ किया। श्रोता मुग्ध थे। उस संगीत का विषय था— जंगल, उसमें विचरने की प्राकृतिक स्वतन्त्रता। वह अकृत्रिम संगीत किसी डाल पर बैठी हुई कोकिल के गान से भी विलक्षण था। सब मुग्ध थे। संगीत समाप्त हुआ, किन्तु उसका स्वर मंडल अभी उस प्रदेश को अपनी माया से आच्छन्न किए था। सालवती उठ खड़ी हुई। अभयकुमार ने एक क्षण में अपने गले से मुक्ता की एकवली निकाल कर अंजलि में ले ली और कहा, “देवि, यह उपहार है।” सालवती ने गम्भीर भाव से सिर झुकाकर कहा, “बड़ी कृपा है; किन्तु मैं किसी के अनुग्रह का दान नहीं ग्रहण करती।” और वह चली भी गयी।

सब लोगों ने आश्चर्य से एक-दूसरे को देखा।

अभयकुमार को उस रात्रि में निद्रा नहीं आयी। वह सालवती का चित्र अपनी पुतलियों पर बनाता रहा। प्रणय का जीवन अपने छोटे-छोटे क्षणों में भी बहुत दीर्घजीवी होता है। रात किसी तरह कटी। अभयकुमार वास्तव में कुमार था और था वैशाली का उपराजा। नगर के उत्सव का प्रबन्ध उसी के हाथ में था। दूसरा प्रभात अपनी तृष्णा में लाल हो रहा था। अभय के हृदय में निदारुण अपमान भी चुभ रहा था, और चुभ रहा था उन दार्शनिक कुलपुत्रों का सव्यंग्य परिहास, जो सालवती के अनुग्रह न लेने पर उसकी स्वतन्त्रता की विजय समझ कर और भी तीव्र हो उठा था।

उन कुलपुत्रों की गोष्ठी उसी साल-कानन में जमी रही। अभी उन लोगों ने स्नान आदि से निवृत्त होकर भोजन भी नहीं किया था कि दूर से तूर्यनाद सुनायी पड़ा। साथ में एक राजपुरुष उच्च कंठ से पुकारता था— “आज अन्नंग-पूजा के लिए वज्जियों के संघ में से सबसे सुन्दरी कुमारी चुनी जाएगी।

जिसको चुनाव में आना हो, संस्थागार में एक प्रहर के भीतर आ जाए।”

अभिनन्द उछल पड़ा। उसने कहा, “मैत्रागण! सालवती को लिवा ले चलना चाहिए। ऐसा न हो कि वैशाली के सबसे उत्तम सौन्दर्य का अपमान हो जाए।”

“किन्तु वह अभिमानिनी चलेगी?”

“यही तो विकट प्रश्न है।”

“हम सब चलकर प्रार्थना करें।”

“तो चलो।”

सब अपना दुकूल सम्भालते हुए सालवती की झोंपड़ी की ओर चल पड़े। सालवती अपना नियमित भोज्य चावल बना रही थी। उसके पास थोड़ा दूध और फल रक्खा था। उसने इन लोगों को आते देखकर सहज प्रसन्नता से मुस्कराकर कहा, “स्वागत! माननीय कुलपुत्रों को आतिथ्य ग्रहण करने के लिए मैं निमन्त्रित करती हूँ।” उसने एक शुभ कम्बल बिछा दिया।

युवकों ने बैठते हुए कहा— “किन्तु हमलोग भी एक निमन्त्रण देने आए हैं।”

सालवती कुछ सोचने लगी।

“हम लोगों की प्रार्थना अनुचित न होगी।” आनन्द ने कहा।

“कहिए।”

“वैशाली के नागरिकों ने एक नया निर्णय लिया है कि इस बार वसन्तोत्सव की अनंगपूजा वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के हाथों से करायी जाए। इसके लिए संस्थागार में चुनाव होगा।”

“तो इसमें क्या मैं परिवर्तन कर सकती हूँ।” सालवती ने सरलता से पूछा।

“नहीं शुभे! आपको भी इसमें भाग लेना होगा। हम लोग आपको संस्थागार में ले चलेंगे और पूर्ण विश्वास है कि हम लोगों का पक्ष विजयी होगा।”

“किन्तु क्या आप लोगों का यह मुझ पर अनुग्रह न होगा, जिसे मैं कदापि न ग्रहण करूँगी।”

“नहीं भद्रे! यदि मेरे प्रस्ताव को बहुमत मिला, तो क्या हम लोगों की विजय न होगी, तब क्या हमी लोग आपके अनुगृहीत न होंगे?”

सालवती कुछ चुप-सी हो गयी।

मैत्रागण ने फिर कहा, “विचारों की स्वतन्त्रता इसी में है कि वे स्पष्ट रूप से प्रचारित किए जाएँ, न कि वे सत्य होते हुए भी दबा दिए जाएँ।”

सालवती इस सम्मान से अपने हृदय को अछूता न रख सकी। स्त्री के लिए उसके सौन्दर्य की प्रशंसा! कितनी बड़ी विजय है। उसने वीड़ा से कहा, “तो क्या मुझे चलना होगा?”

“यह हम लोगों के लिए अत्यन्त प्रिय सन्देश

है। आनन्द, तुम रथों को यहीं ले जाओ, और मैं समझता हूँ कि सौन्दर्य-लक्ष्मी तुम्हारे रथ पर ही चलेंगी। तुम होंगे उस रथ के सारथी।”

आनन्द सुनते ही उछल पड़ा। उसने कहा, “एक बात और भी...”

सालवती ने प्रश्न करने वाली आँखों से देखा!

आनन्द ने कहा, “सौन्दर्य का प्रसाधन!”

“मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं यों ही चलूँगी। और कुलपुत्रों के निर्णय की मैं भी परीक्षा करूँगी। कहीं वे भ्रम में तो नहीं हैं।”

थोड़ा जलपान करके सब लोग प्रस्तुत हो गए। तब सालवती ने कहा, “आप लोग चलें, मैं अभी आती हूँ।”

कुलपुत्र चले गए।

सालवती ने एक नवीन कौशेय पहना, जूड़े में फूलों की माला लगायी और रथ के समीप जा पहुँची।

सारथी को हटाकर आनन्द अपना रथ स्वयं हाँकने लगा। उस पर बैठी थी सालवती। पीछे उसके कुलपुत्रों के सात रथ थे। जब वे संस्थागार के राजपथ पर अग्रसर हो रहे थे, वहीं भीड़ में आनन्द और आश्चर्य के शब्द सुनायी पड़े, सुन्दरियों का मुख अवगत हुआ। इन कुलपुत्रों को देखकर राजा ने पूछा, “मेरे माननीय दार्शनिक कुलपुत्रों ने यह रत्न कहाँ पाया?”

“कल्याण सालवती कुलपुत्र धवलयश की एकमात्र दुहितो हैं।”

“मुझे आश्चर्य है कि किसी कुलपुत्र ने अब तक इस कन्यारत्न के परिणय की प्रार्थना क्यों नहीं की? अच्छा तो क्या मत लेने की आवश्यकता है?” राजा ने गम्भीर स्वर से पूछा!

“नहीं, नहीं, सालवती वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ कुमारी सुन्दरी है।” जनता का तुमुल शब्द सुनायी पड़ा।

राजा ने तीन बार इसी तरह प्रश्न किया। सबका उत्तर वही था। सालवती निर्विवाद विजयिनी हुई। तब अभयकुमार के संकेत पर पचीसों दास, थालों में रत्नों के अलंकार, काशी के बहुमूल्य कौशेय, अंगराग, ताम्बूल और कुसुम-मालिकाएँ लेकर उपस्थित हुए।

अभयकुमार ने खड़े होकर संघ से प्रार्थना की, “मैं इस कुलकुमारी के पाणि-पीडन का प्रार्थी हूँ। कन्या के पिता नहीं हैं, इसलिए संघ मुझे अनुमति प्रदान करे।”

सालवती के मुँह पर भय और रोष की रेखाएँ नाचने लगीं। वह प्रतिवाद करने जा रही थी कि मगध के महामन्त्री के समीप बैठा हुआ मणिधर

उठ खड़ा हुआ। उसने तीव्र कंठ से कहा, “मेरी एक विज्ञप्ति है, यदि संघ प्रसन्नता से सुने।” यह अभय का प्रतिद्वन्द्वी सेनापति मणिधर उपराजा बनने का इच्छुक था। सब लोग किसी आशंका से उसी की ओर देखने लगे।

राजा से बोलने की आज्ञा पाकर उसने कहा, “आज तक हम लोग कुलपुत्रों की समता का स्वप्न देखते हैं। उनके अधिकार ने, सम्पत्ति और स्वार्थों की समानता की रक्षा की है। तब क्या उचित होगा कि यह सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य किसी के अधिकार में दे दिया जाए? मैं चाहता हूँ कि राष्ट्र ऐसी सुन्दरी को स्वतन्त्र रहने दे और वह अनंग की पुजारि अपनी इच्छा से अपनी एक रात्रि की दक्षिणा 100 स्वर्ण-मुद्राएँ लिया करे।”

सालवती विपत्ति में पड़ गयी। उसने अपने दार्शनिक कुलपुत्रों की ओर रक्षा पाने के विचार से देखा। किन्तु उन लोगों ने घटना के इस आकस्मिक परिवर्तन को सोचा भी न था। इधर समानता का सिद्धान्त! संस्थागार में हलचल मच गयी। राजा ने इस विज्ञप्ति पर मत लेना आवश्यक समझा। शलाकाएँ बटीं। गणपूरक अपने कार्य में लगा। और सालवती प्रार्थना करने जा रही थी कि “मुझे इस उपद्रव से छुट्टी मिले।”

किन्तु समानता और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की लगन! कौन सुनता है किसकी? उधर एक व्यक्ति ने कहा, “हम लोग भी अम्बपाली के समान ही क्या वज्जिराष्ट्र में एक सौन्दर्य-प्रतिमा नहीं स्थापित कर सकते, जिससे अन्य देशों का धन इस राष्ट्र में आवे। अभयकुमार हतबुद्धि-सा क्षोभ और रोष से काँप रहा था।

उसने तीव्र दृष्टि से मगध के महामन्त्री की ओर देखा। मन्त्री ने मुस्करा दिया। गणपूरक ने विज्ञप्ति के पक्ष में बहुमत की घोषणा की। राजा ने विज्ञप्ति पर स्वीकृति दी।

जब मत लिया जा रहा था, तब सालवती के मन की अवस्था बड़ी विचित्र हो रही थी। कभी तो वह सोचती थी, “पिता हिरण्य के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार के प्रभु हैं—स्वतन्त्रता का बीज है। वही 100 स्वर्ण-मुद्राएँ उसकी दक्षिणा हैं और अनुग्रह करेगी वही। तिस पर इतनी संवर्धना! इतना आदर? दूसरे क्षण उसके मन में यह बात खटकने लगती कि वह कितनी दयनीया है, जो कुलवधू का अधिकार उसके हाथ से छीन लिया गया और उसने ही तो अभय का अपमान किया था। किसलिए? अनुग्रह न लेने का अभिमान! तो क्या मनुष्य को प्रायः वही करना पड़ता है, जिसे वह नहीं चाहता। उसी ने मगध के महामन्त्री के सामने प्रजातन्त्र का उत्कर्ष बताया था।

वही एकराज मगध का प्रतिनिधि यहाँ बैठा है! तब बहुमत की जय हो। वह विरोध करना चाहती थी, परन्तु कर न सकी।

उसने आनन्द के नियतिवाद का एक बार मन में स्मरण किया, और गन्तव्य पथ पर वेग से चली।

तब सालवती को घेर कर कुलपुत्रों ने आनन्द से उसका जयघोष किया। देखते-देखते सालवती के चरणों में उपहार के ढेर लग गए। वह रथ पर अंगपूजा के स्थान पर चली—ठीक जैसे अपराधी वध्यस्थल की ओर! उसके पीछे सहस्रों रथों और घोड़ों पर कुलपुत्र, फिर जनःस्रोत। सब आज अपने गणतन्त्र के सिद्धान्त की विजय पर उन्मत्त थे।

अभयकुमार जड़-सा वहीं खड़ा रहा। जब संस्थागार से निकलने के लिए मन्त्री उसके पास आया, तब अभय का हाथ दबाकर उसने कहा, “उपराजा प्रसन्न हों...”

“महामन्त्री! तुम्हारी कूटनीति सफल हुई” कहकर अभय ने क्षोभ से उसकी ओर देखा।

“आप लोगों का राष्ट्र सचमुच स्वतन्त्रता और समानता का उपासक है। मैं साधुवाद देता हूँ।” दोनों अपने रथों पर चढ़कर चले गए।

सालवती, वैशाली की अप्सरा सालवती, अपने वैभव और सौन्दर्य में अद्वितीय थी। उसके प्रमुख उपासक थे वैशाली के सेनापति मणिधर। सम्पत्ति का स्रोत उस सौन्दर्य-सरोवर में आकर भर रहा था। वहाँ अनेक कुलपुत्र आए, नहीं आया तो एक अभयकुमार...

और सालवती का मान जैसे अभयकुमार को पदावनत किए बिना कुचला जा रहा था। वह उस दिन की एकावली पर आज अपना पूरा अधिकार समझती थी, किन्तु वह अब कहाँ मिलने की।

उसका हृदय तीव्र भावों से भर गया था। आज वह चिन्तामग्न थी। मगध का युद्ध वैशाली में भयानक समाचार भेज रहा था। मगध की पूर्ण विजय के साथ यह भी समाचार मिला कि सेनापति मणिधर उस युद्ध में मारे गए। वैशाली में रोष और उत्साह छा गया। नयी सेना का संचालन करने के लिए आज संस्थागार में चुनाव होने वाला है। नगर की मुख्य महिलाएँ, कुमारियाँ उस सेनापति का अभिनन्दन करने के लिए पुष्परथों पर चढ़कर चली जा रही हैं। उसे भी जाना चाहिए, क्या मणिधर के लिए दुखी होना मानसिक परतन्त्रता का चिह्न है, जिसे वह कभी स्वीकार न करेगी। वह भी उठी। आज उसके शृंगार का क्या कहना है! जिसके अभिमान पर वह जी रही थी, वही उसका सौन्दर्य, कितने आदर और प्रदर्शन की वस्तु

है। उसे सब प्रकार से सजाकर मणियों की झिलमिल में पुष्पों से सजे हुए रथ पर चढ़कर सालवती संस्थागार की ओर चली। कुछ मनचले नवयुवक का जयघोष विरोध के स्वर में लुप्त हो गया। वह पीली पड़ गयी।

साधारण नागरिकों ने चिल्लाकर कहा, “इसी के संसर्ग-दोष से सेनापति मणिधर की पराजय हुई।”

एक ने कहा, “यह मणिधर की काल-भुजंगिनी है।” दूसरे ने कहा, “यह वैशाली का अभिशाप है।” तीसरे ने कहा, “यह विचार-स्वातन्त्र्य के समुद्र का हलाहल है।” सालवती ने सारथी से कहा, “रथ फेर दो।” किन्तु दूसरी ओर से अपार जनसमूह आ रहा था। बाध्य होकर सालवती को राजपथ में एक ओर रुकना पड़ा।

तूर्यनाद समीप आ रहा था। सैनिकों के शिरस्त्राण और भाले चमकने लगे। भालों के फलक उन्नत थे। और उनसे भी उन्नत थे उन वीरों के मस्तक, जो स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण देने जा रहे थे। उस वीर-वाहिनी में सिन्धुदेश के शुभ्र अश्वराज पर अभयकुमार आरूढ़ था। उसके मस्तक पर सेनापति का स्वर्णपट्ट सुशोभित था। दाहिनी भुजा उठी हुई थी, जिसमें नग्न खंग सारी जनता को अभिवादन कर रहा था। और वीरों को रण-निमन्त्रण दे रही थी उसके मुख पर की सहज मुस्कान।

फूलों की वर्षा हो रही थी। ‘वज्रियों की जय’ के रणनाद से वायुमंडल गूँज रहा था। उस वीरश्री को देखने, उसका आदर करने के लिए कौन नहीं उत्सुक था। सालवती भी अपने रथ पर खड़ी हो गयी थी। उसने भी एक सुरचित माला लक्ष्य साधकर फेंकी और वह उस खंग से जाकर लिपट गयी।

जनता तो भावोन्माद की अनुचरी है। सैकड़ों कंठ से ‘साधु’ की ध्वनि निकली। अभय ने फेंकने वाली को देखा। दोनों के नेत्र मिले। सालवती की आँखें नीची हो रहीं। और अभय! तन्द्रालय-जैसा हो गया, निश्चेष्ट। उसकी तन्द्रा तब टूटी जब नवीन अश्वारोहियों का दल चतुष्पथ पर उसके स्वागत पर वीर गर्जन कर उठा। अभयकुमार ने देखा, वे आठों दार्शनिक कुलपुत्र एक-एक गुल्म के नायक हैं, उसका मन उत्साह से भर उठा। उसने क्षण भर में निश्चय किया कि जिस देश के दार्शनिक भी अस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, वह पराजित नहीं होगा।

अभयकुमार ने उच्च कंठ से कहा, “कुलपुत्रों की जय!”

“सेनापति अभयकुमार की जय!” —कुलपुत्रों ने प्रत्युत्तर दिया।

“वज्रियों की जय!” —जनता ने जयनाद

किया।

वीर-सेना युद्ध-क्षेत्र की ओर चली और सालवती दीन-मलिन अपने उपवन को लौटी। उसने सब शृंगार उतार कर फेंक दिए। आज वह सबसे अधिक तिरस्कृत थी। वह धरणी में लोटने लगी। वसुधा पर सुकुमार यौवनलता-सी वह जैसे निरवलम्ब पड़ी थी।

आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचन है। वह मुग्धा विलासिनी, अभी-अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या, माया सारहीन समझ कर आयी थी। वह अपने सुवासित अलकों को बिखराकर उसी में अपना मुँह छिपाए पड़ी थी। नीला उसकी मुँहलगी दासी थी। और वह वास्तव में सालवती को प्यार करती थी। उसने पास बैठकर धीरे-धीरे उसके बालों को हटाया, आँसू पोंछे, गोद में सिर रख लिया। सालवती ने प्रलय-भरी आँखों से उसकी ओर देखा। नीला ने मधुर स्वर से कहा, “स्वामिनी! यह शोक क्यों?”

सालवती चुप रही।

“स्वामिनी! शय्या पर चलो। इससे तो और भी कष्ट बढ़ने की सम्भावना है।”

“कष्ट! नीले! मुझे सुख मिला ही कब था?”

“किन्तु आपके शरीर के भीतर एक अन्य प्राणी की जो सृष्टि हो रही है, उसे तो सम्भालना ही होगा।”

सालवती जैसे नक्षत्र की तरह आकाश से गिर पड़ी। उसने कहा, “कहती क्या है?”

नीला हँसकर बोली, “स्वामिनी! अभी आपको अनुभव नहीं है। मैं जानती हूँ यह मेरा मिथ्या प्रलोभन नहीं।”

सालवती सब तरह से लुट गयी। नीला ने उसे शय्या पर लिटा दिया। उसने कहा, “नीले! आज से मेरे सामने कोई न आवे, मैं किसी को मुँह नहीं दिखाना चाहती। बस, केवल तुम मेरे पास बनी रहो।”

सुकोमल शय्या पर सालवती ने करवट ली। सहसा उसके सामने मणिधर का वह पत्र आया, जिसे उसने रणक्षेत्र से भेजा था। उसने उठाकर पढ़ना आरम्भ किया : “वैशाली की सौन्दर्य-लक्ष्मी!” वह रुक गयी। सोचने लगी मणिधर कितना मिथ्यावादी था। उसने एक कल्पित सत्य को साकार बना दिया। वैशाली में जो कभी न था, उसने मुझे वही रूपाजीवा बनाकर क्या राष्ट्र का अनिष्ट नहीं किया!...अवश्य... देखो आगे लिखता है, “मेरा मन युद्ध में नहीं लगता है।” लगता कैसे? रूप-ज्वाला के शलभ! तुझे तो जल-मरना था। तो उस अपराध

का दंड मिला। और स्वतन्त्रता के नाम जो भ्रम का सृजन कर रही थी, उसका क्या हुआ! मैं सालवन की विहंगिनी! आज मेरा सौन्दर्य कहाँ है? और फिर प्रसव के बाद क्या होगा?

वह रोती रही।

सालवती के जीवन में रुदन का राज्य था। जितना वह अपनी स्वतन्त्रता पर पहले प्रसन्न हो रही थी, उतना ही उस मानिनी का जीवन दुःखपूर्ण हो गया।

वह गर्भवती थी।

उपवन से बाहर न निकलती थी और न तो कोई भीतर आने पाता। सालवती ने अपने को बन्दी बना लिया।

कई महीने बीत गए। फिर से मधुमास आया। पर सालवती का वसन्त जैसे सदा के लिए चला गया था। उसने उपवन की प्राचीर में से सुना जैसे कोई तूर्यनाद के साथ पुकार रहा है : “वज्रियों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अंगं पूजा...” आगे वह कुछ न सुन सकी। वह रोष से पूछित थी। विषाद से उसकी प्रसव-पीड़ा भयानक हो रही थी। नीला ने उपचार किया। वैद्य के प्रयत्न से उस रात्रि में सालवती को एक सुन्दर-सी सन्तान हुई।

सालवती ने अपने यौवन-वन के कुठार को देखा। द्वन्द्व से वह तड़ने लगी, मोह की मार ने पराजित किया। उसने कोमल फूलों की टोकरी में, अच्छे वस्त्रों में लपेट कर, उस सुकुमार शिशु को एक ओर गोधूलि की शीतल छाया में रखवा दिया। वैद्य का मुँह सोने से बन्द कर दिया गया।

उसी दिन सालवती अपने सुविशाल भवन में लौट आयी।

और उसी दिन अभयकुमार विजयी होकर अपने पथ से लौट रहा था। तब उसे एक सुन्दर शिशु मिला। अभय उसे अपने साथ ले आया।

प्रतियोगिता का दिन था। सालवती का सौन्दर्य-दर्प जागरूक हो गया था। उसने द्राक्षासव का घूँट लेकर मुकुर में अपनी प्रतिच्छाया देखी, उसको जैसे अकारण सन्देह हुआ कि उसकी फूलों की ऋतु बीत चली है। वह अपमान से भयभीत होकर बैठ रही।

वैशाली विजय का उत्सव मना रही थी। उधर वसन्त का भी समारोह था। सालवती को सब लोग भूल गए। और अभयकुमार! वह कदाचित् नहीं भूला—कुछ-कुछ क्रोध से, कुछ विषाद से, और कुछ स्नेह से। संस्थागार में चुनाव की भीड़ थी। उसमें जो सुन्दरी चुनी गयी, वह निर्विवाद नहीं चुनी जा सकी। अभयकुमार ने विरोध किया। आठों कुलपुत्रों ने उसका साथ देते हुए कहा, “जो

अनुपम सौन्दर्य नहीं, उसे वेश्या बनाना सौन्दर्य-बोध का अपमान करना है।” किन्तु बहुमत का शासन चुनाव हो ही गया। वैशाली को अब वेश्याओं की अधिक आवश्यकता थी।

सालवती ने सब समाचार अपनी शय्या पर लेटे-लेटे सुना। वह हँस पड़ी! उसने नीला से कहा, “नीले! मेरे स्वर्ण-भंडार में कमी तो नहीं है?”

“नहीं स्वामिनी!”

“इसका ध्यान रखना! मुझे आर्थिक परतन्त्रता न भोगनी पड़े।”

“इसकी सम्भावना नहीं। आप निश्चित रहें।”

किन्तु सालवती! हाँ, वह स्वतन्त्र थी, एक कंगाल की तरह, जिसके पास कोई अधिकार, नियन्त्रण, अपने पर भी नहीं—दूसरे पर भी नहीं, ऐसे आठ वसन्त बीत गए।

अभयकुमार अपने उद्यान में बैठा था। एक शुभ्र शिला पर उसकी वीणा रखी थी। दो दास उसके सुगठित शरीर में सुगन्धित तेल मर्दन कर रहे थे। सामने मंच पर एक सुन्दर बालक अपनी क्रीड़ा-सामग्री लिए व्यस्त था। अभय अपनी बनायी हुई कविता गुनगुना रहा था। वह बालक की अकृत्रिम हँसी पर लिखी गयी थी। अभय के हृदय का समस्त संचित स्नेह उसी बालक के केन्द्रीयभूत था। अभय ने पूछा, “आयुष्मान् विजय! तुम भी आज मल्लशाला में चलोगे ना!”

बालक क्रीड़ा छोड़कर उठ खड़ा हुआ, जैसे वह सचमुच किसी से मल्लयुद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो। उसने कहा, “चलूँगा और लड़ूँगा भी।”

अभय ठठाकर हँस पड़ा। बालक कुछ संकुचित हो गया। फिर सहसा अभय को स्मरण हो गया कि उसे अभी कई काम हैं। वह स्नान के लिए उठने लगा कि संस्थागार की सन्निपात भरी बज उठी। एक बार तो उसने कान खड़े किए; पर फिर अपने में लीन हो गया। मगध-युद्ध के बाद उसने किसी विशेष पद के लिए कभी अपने को उपस्थित नहीं किया। वह जैसे वैशाली के शासन में भाग लेने से उदासीन हो रहा था। स्वास्थ्य का बहाना करके उसने अवसर ग्रहण किया। उसके अभिन्न मित्र थे। वे भी अविवाहित थे। अभयकुमार की गोष्ठी बिदा सुन्दरियों की जमात थी। वे भी आ गए। इन सबों के बलिष्ठ शरीरों पर मगध-युद्ध के वीर-चिह्न अंकित थे।

अभिनन्द ने पूछा, “आज संस्थागार में हम लोग चलेंगे कि नहीं?”

अभय ने कहा, “मुझे तो मल्लशाला का

निमन्त्रण है।”

अभिनन्दन ने कहा, “तो सचमुच हम लोग वैशाली के शासन से उदासीन हो गए हैं क्या?”

सब चुप हो गए। सुभद्र ने कहा, “अन्त में व्यवहार की दृष्टि से हम लोग पक्के नियतिवादी ही रहे। जो कुछ होना है, वह होने दिया जा रहा है।”

आनन्द हँस पड़ा। मणिकंट ने कहा, “नहीं, हँसने से काम न चलेगा। आज जब उपवन से आ रहा था तब मैंने देखा कि सालवती के तोरण पर बड़ी भीड़ है। पूछने से मालूम हुआ कि आठ बरस के दीर्घ एकान्तवास के बाद सौन्दर्य के चुनाव में भाग लेने के लिए सालवती बाहर आ रही है। मैं क्षण-भर रुका रहा। वह अपने पुष्परथ पर निकली। नागरिकों की भीड़ थी। कुलवधुओं का रथ रुक रहा था। उनमें कई तेजस्विनी महिलाएँ थीं, जिनकी गोद में बच्चे थे। उन्होंने तीव्र स्वर में कहा, “यही पिशाचिनी हम लोगों के बच्चों से उनके पिताओं को, स्त्रियों से अपने पतियों को छीनने वाली है।” वह एक क्षण खड़ी रही। उसने कहा, “देवियो! आठ बरस के बाद वैशाली के राजपथ पर दिखलाई पड़ी हूँ। इन दिनों मैं किसी पुरुष का मुँह भी नहीं देखा। मुझे आप लोग क्यों कोस रही हैं।” वे बोलीं, “तूने वेश्यावृत्ति के पाप का आविष्कार किया है। तू कुलपुत्रों के वन की दावाग्नि की प्रथम चिनगारी है। तेरा मुँह देखने से भी पाप है! राष्ट्र के इन अनाथ पुत्रों की ओर देख! पिशाचिनी!” कई ने बच्चों को अपनी गोद से ऊँचा कर दिया। सालवती ने उन बालकों की ओर देखकर रो दिया।

“रो दिया?” अभिनन्द ने पूछा।

“हाँ-हाँ, रो दिया और उसने कहा, “देवियो! मुझे क्षमा करें। मैं प्रायश्चित्त करूँगी।” उसने अपना रथ बढ़वा दिया। मैं इधर चला आया; किन्तु कुलपुत्रों से मैं सत्य कहता हूँ कि सालवती आज भी सुन्दरियों की रानी है।”

अभयकुमार चुपचाप विजय को देख रहा था। उसने कहा, “तो क्या हम लोग चलेंगे?”

“हाँ-हाँ...”

अभय ने दृढ़ स्वर से पूछा, “और आवश्यकता होगी तो सब प्रकार से प्रतिकार करने में पीछे न हटेंगे।”

“हाँ न हटेंगे!” —दृढ़ता से कुलपुत्रों ने कहा।

“तो मैं स्नान करके अभी चला।” —रथों को प्रस्तुत होने के लिए कह दिया जाए।

अब अभय स्नान कर रहा था, तब कुलपुत्रों ने कहा, “आज अभय कुछ अद्भुत काम करेगा?”

आनन्द ने कहा, “जो होना होगा, वह तो होगा ही। इतनी घबराहट से क्या?”

अभय शीघ्र स्नानागार से लौट आया। उसने विजय को भी अपने रथ पर बिठाया।

कुलपुत्रों के नौ रथ संस्थागार की ओर चले। अभय के मुख पर गम्भीर चिन्ता थी और दुर्दमनीय दृढ़ता थी।

सिंहद्वार पर साधारण जनता की भीड़ थी और विशाल प्रांगण में कुलपुत्रों की और महिलाओं की। आज सौन्दर्य प्रतियोगिता थी। रूप की हाट सजी थी। आठ आसनों पर वैशाली की भिन्न वेश्याएँ भी बैठी थीं। नवाँ आसन सूना था। अभी तक नयी प्राकिनी-सुन्दरियों में उत्साह था; किन्तु सालवती के आते ही जैसे नक्षत्रों का प्रकाश मन्द हो गया। पूर्ण चन्द्रोदय था। सालवती आज अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य में यौवनवती थी। सुन्दरियाँ हताश हो रही थीं। कर्मचारी ने प्रतियोगिता के लिए नाम पूछा। किसी ने नहीं बताया।

उसी समय कुलपुत्रों के साथ अभय ने प्रवेश किया। मगध-युद्ध विजेता का जय-जयकार हुआ। सालवती का हृदय काँप उठा। न जाने क्यों वह अभय से डरती थी। फिर भी उसने अपने को सम्भाल कर अभय का स्वागत किया। युवक सौन्दर्य के चुनाव के लिए उत्कण्ठित थे। कोई कहता था, “आज होना असम्भव है।” कोई कहता, “नहीं आज सालवती के सामने इसका निर्णय होगा।” परन्तु कोई सुन्दरी अपना नाम नहीं देना चाहती थी। सालवती ने अपनी विजय से मुस्करा दिया।

उसने खड़ी होकर विनीत स्वर से कहा, “यदि माननीय संघ को अवसर हो, वह मेरी विज्ञप्ति सुनना चाहे, तो मैं निवेदन करूँ।”

संस्थागार में सन्नाटा था।

उसने प्रतिज्ञा उपस्थित की।

“यदि संघ प्रसन्न हो, तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि “आज से कोई स्त्री वैशाली-राष्ट्र में वेश्या न होगी।”

कोलाहल मचा।

“और तुम अपने सिंहासन पर अचल बनी रहो। कुलवधुओं के सौभाग्य का अपहरण किया करो।” —महिलाओं के तिरस्कारपूर्ण शब्द अलिन्द से सुनायी पड़े।

“धैर्य धारण करो देवियो! हाँ, तो— इस पर संघ क्या आज्ञा देता है?” सालवती ने साहस के साथ तीखे स्वर में कहा।

अभय ने प्रश्न किया, “जो वेश्याएँ हैं, वे वैशाली में बनी रहेंगी? और इस बार भी सौन्दर्य प्रतियोगिता में तुम अपने को विजयिनी नहीं समझती हो?”

“मुझे निर्वासन मिले— कारागार में रहना पड़े। जो भी संघ की आज्ञा हो; किन्तु अकल्याणकर और पराजय का मूल इस भयानक नियम को, जो अभी थोड़े दिनों से वज्रसंघ ने प्रचलित किया है, बन्द करना चाहिए।”

एक कुलपुत्र ने गम्भीर स्वर से कहा, “क्या राष्ट्र की आज्ञा से जिन स्त्रियों ने अपना सर्वस्व उसकी इच्छा पर लुटा दिया, उन्हें राष्ट्र निर्वासित करेगा, दंड देगा? गणतन्त्र का यह पतन!”

एक ओर से कोलाहल मचा, “ऐसा न होना चाहिए।”

“फिर इन लोगों का भाग्य किस संकेत पर चलेगा?” राजा ने गम्भीर स्वर में पूछा, “इनका कौमार्य, शील और सदाचार खंडित है। इनके लिए राष्ट्र क्या व्यवस्था करता है?”

“संघ यदि प्रसन्न हो उसे अवसर हो, तो मैं कुछ निवेदन करूँ।” आनन्द ने मुस्कराते हुए कहा।

राजा का संकेत पाकर उसने फिर कहा, “हम आठ मगध-युद्ध के खंडित शरीर विकलांग कुलपुत्र हैं। और ये शीलखंडिता आठ नयी अनंग की पुजारिनें हैं।”

कुछ लोग हँसने की चेष्टा करते हुए दिखायी पड़े। कर्मचारियों ने तुर्य बजाकर शान्त रहने के लिए कहा।

राजा-उपराजा-सेनापति-मन्त्रधर-सूत्रधर-अमात्य व्यावहारिक और कुलिकों ने इस जटिल प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना आरम्भ किया। संस्थागार मौन था।

कुछ काल के बाद सूत्रधर ने पूछा, “तो क्या आठों कुलपुत्रों ने निश्चय कर लिया है? इन वेश्याओं को वे लोग पत्नी की तरह ग्रहण करेंगे?”

अभय ने उनकी ओर सम्भ्रम देखा। वे उठ खड़े हुए। एक साथ स्पष्ट स्वर में उन लोगों ने कहा, “हाँ, यदि संघ वैसी आज्ञा देने की कृपा करे।”

“संघ मौन है; इसलिए मैं समझता हूँ उसे स्वीकार है।” — राजा ने कहा।

“सालवती! सालवती!!” की पुकार उठी। वे आठों अभिनन्द आदि के पार्श्व में आकर खड़ी हो गयी थीं; किन्तु सालवती अपने स्थान पर पाषाणी प्रतिमा खड़ी थी। यही अवसर था, जब नौ बरस पहले उसने अभयकुमार का प्रत्याख्यान किया था। पृथ्वी ने उसके पैर पकड़ लिए थे, वायुमंडल जड़ था, वह निर्जीव थी।

सहसा अभयकुमार ने विजय को अपनी गोद में उठाकर कहा, “मुझे पत्नी तो नहीं चाहिए, हाँ, इस बालक की माँ को खोज रहा हूँ, जिसको प्रसव-रात्रि में ही उसकी मानिनी माँ ने लज्जा पिंड की तरह अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिए फेंक दिया था। उस चतुर वैद्य ने इसकी दक्षिण भुजा पर एक अमिट चिह्न अंकित कर दिया है। उसे यदि कोई पहचान सके, तो वह इसे अपनी गोद में ले।”

सालवती पागलों की तरह झपटी। उसने चिह्न देखा। और उस सुन्दर मुख को। वह अभय के चरणों में गिरकर बोली, “यह मेरा है देव। क्या तुम भी मेरे होगे?” अभय ने उसका हाथ पकड़ कर उठा लिया।

जयनाद से संस्थागार मुखरित हो रहा था।

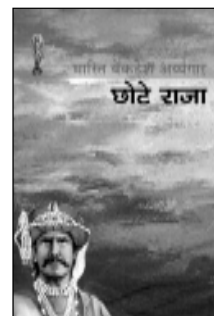


भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

छोटे राजा : मास्ति वेंकटेश अय्यंगार

नयी साज-सज्जा के साथ।

ज्ञानपीठ पुरस्कार (1983) से सम्मानित कन्नड़ कथाकार मास्ति वेंकटेश अय्यंगार के सर्वाधिक उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास ‘चिक्क वीरराजेन्द्र’ का हिन्दी रूपान्तर है—‘छोटे राजा’। मैसूर के निकट एक छोटे-से भू-प्रदेश कोडग राज्य के अन्तिम शासक की कहानी है यह। सुशील एवं बुद्धिमती रानी तथा दो योग्य मन्त्रियों के रहते हुए भी अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण उसे अपने विनाश से कोई नहीं रोक पाया; यहाँ तक कि अंग्रेजों से पराजित होकर उसे निर्वासन का तिरस्कार भी सहना पड़ा। ‘छोटे राजा’ एक शासक के विनाश की कथा ही नहीं है, एक समाज की निरीहता की भी कहानी है। कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यासों में किसी समाज का और उसके विभिन्न अंगों का ऐसा सजीव चित्रण अन्यत्र कम ही मिलता है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मास्ति जी का मूल उद्देश्य समाज के उत्थान-पतन का अध्ययन करना रहा है। उनके अनुसार, व्यक्ति के पतन का मुख्य कारण उस व्यक्ति में ही निहित होता है। हाँ, नियति के अदृश्य हाथ की प्रबल भूमिका भी वहाँ सक्रिय रहती है।



पृष्ठ : 356, मूल्य : 280 रुपये

कहानी जो याद आती है

जयशंकर प्रसाद की कहानी : सालवती

ऐतिहासिक से अधिक सामाजिक तथा समकालीन

विजयमोहन सिंह

प्रसादजी की कहानी 'सालवती' कोई अनूठी या अनोखी कहानी नहीं है। कलात्मक दृष्टि से यह उतनी उत्कृष्ट नहीं है जितनी आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार या ममता आदि हैं। किन्तु कभी-कभी किसी रचना का महत्त्व उसकी रचनात्मक उत्कृष्टता या शिल्पगत श्रेष्ठता के कारण नहीं होता। उसका महत्त्व उसमें अन्तर्निहित कुछ अन्य अवयवों में होता है जिनके कारण वह सुदीर्घ परम्परा का निर्माण कर जाती है। 'सालवती' ऐसी ही कहानी है। इसके विपरीत 'पूँस की रात', 'ईदगाह' या गुलेरीजी की अपनी शिल्पगत श्रेष्ठता के कारण 'मील का पत्थर' बनी कहानी 'उसने कहा था' किसी परम्परा का निर्माण नहीं करती। यदि कोई ऐसी या इनके जैसी कहानी लिखने की कोशिश करेगा तो वह क्लिशे हो जाएगी। वह अनुकरण ही कहलाएगी और विकास की कोई 'परम्परा' नहीं बना पाएगी।

'सालवती' केवल कहानी में ही नहीं बल्कि पूरे हिन्दी कथासाहित्य में एक सुदीर्घ तथा कई कालसिद्ध कृतियों की परम्परा बनाती है। उन कृतियों के स्रोत कहीं-न-कहीं सालवती द्वारा छोड़े गए पदचिह्नों और संकेतों में हैं।

वे चिह्न और संकेत क्या हैं, इसे समझने के लिए इस औपन्यासिक संरचना वाली कहानी का विश्लेषण आवश्यक है।

'सालवती' एक विवरणात्मक तथा विमर्शमूलक कहानी है। इसकी संरचना भी शिथिल है। इसमें वह कसाव और नाटकीय तत्त्व (नाटकीयता नहीं) है जो प्रसाद जी की कई कहानियों में हैं। जब यहाँ उसे एक विमर्श मूलक कहानी कहा जा रहा है तो पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि यह विमर्श या विमर्शवाद (वैसे विमर्श का कोई वाद नहीं होता) क्या है? क्योंकि इधर हिन्दी में इसका इस हद तक दुरुपयोग किया गया है कि यह घिस-पिट कर एक खोखला और प्रायः हास्यास्पद शब्द बन कर रहा गया है।

ध्यान देने की बात है कि विमर्श के साथ 'विचार' शब्द का भी प्रयोग होता आया है। विचार के बिना विमर्श सम्भव नहीं हो सकता। इस शब्द युग्म के बिना विमर्श का प्रयोग उतना ही निरर्थक है जितना 'ऊहा-पोह' शब्द युग्म के अलग करके केवल 'ऊहा' या 'पोह' का प्रयोग।

बहरहाल 'सालवती' के इस विचार विमर्श का विषय क्या है, यह भी जानना ज़रूरी है क्योंकि वही उसके 'कथ्य' या 'कथानक' का आधार है : इतिहास और दर्शन प्रसाद जी की रचनाओं के (केवल कहानी या कथा साहित्य नहीं) केन्द्रीय या प्रिय विषय रहे हैं। इसे उनका 'इतिहास दर्शन' भी कहा जा सकता है।

'सालवती' एक ऐतिहासिक कहानी है पर उसके विचार-विमर्श का मुख्य विषय दर्शन है जो केवल इतिहास दर्शन नहीं समाज दर्शन भी है। इस इतिहास का समाज सैकड़ों वर्ष पूर्व लिच्छवी और वैशाली गणराज्य का समाज है। कहानी इसी समाज के बीच खुलती है : स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता को परिभाषित करने तथा उसे रचना के केन्द्र में रखने की प्रवृत्ति प्रसादजी की प्रायः प्रत्येक रचना में देखी जा सकती है। यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत की स्वतन्त्रता का संघर्ष उन दिनों चरम पर था लेकिन उसे समकालीन सन्दर्भ में रखकर चित्रित करनेवाले कथाकारों के विपरीत प्रसादजी एक विशेष प्रकार की 'डिवाइस' के रूप में उसे बड़ी सूक्ष्मता तथा कौशल से ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर परिभाषित करते हैं लेकिन उसका समकालीन सन्दर्भ प्रत्यक्षतः ओझल रहकर भी उन रचनाओं में अपने सूक्ष्म रूप से अन्तर्निहित रहता है। ऐसा उनके नाटकों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अतः प्रसादजी की ऐतिहासिक कृतियाँ भी 'गड़े मुर्दे उखाड़ने वाली रचनाएँ' नहीं कही जा सकती। इस तरह उन्होंने ऐतिहासिकता को भी पुनर्परिभाषित किया और उसे समकालीन प्रसंगों से जोड़ा। यह भी संयोग नहीं है कि 'युद्ध' उनका प्रिय विषय है : वह युद्ध केवल अतीत में होने वाला युद्ध नहीं होता था बल्कि वह बड़े सूक्ष्म कौशल के साथ समकालीन स्वतन्त्रता संघर्ष से भी जोड़ा जाता था। यह समझना मुश्किल नहीं है कि प्रसादजी को ऐसा क्यों करना पड़ा होगा। बनारस शहर के प्रमुख नागरिक तथा रईस होने के कारण अँग्रेज सरकार ने उन्हें 'ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट' भी बनाया था जिसे उन्होंने बाद में छोड़ दिया। लेकिन स्थानीय अँग्रेज शासन से उनका सम्पर्क बराबर बना हुआ था। अतः उस पर प्रहार करने के लिए ही प्रसादजी ने ऐतिहासिकता की 'ढाल' को हमेशा सामने रखा था सालवती कहानी के प्रारम्भ में ही सालवती के वृद्ध दार्शनिक पिता सालवती से कहते हैं, "आर्थिक पराधीनता ही संसार में दुख का कारण है।" यहाँ जोर स्वतन्त्रता पर ही नहीं 'आर्थिक स्वतन्त्रता' पर भी है। यानी प्रसादजी आर्थिक स्वतन्त्रता को ही वास्तविक स्वतन्त्रता मानते हैं। साथ ही वे मानसिक तथा नैतिक पराधीनता को भी बहुत बड़ा शत्रु मानते हैं। इस तरह यह कहानी स्वतन्त्रता से शुरू होती है और स्वतन्त्रता पर ही समाप्त होती है : अन्त तक आते-आते वह स्त्री या नारी की स्वतन्त्रता को कहानी के केन्द्र में ले आती है (इस पर आगे विचार किया जाएगा) इसीलिए उसका शीर्षक 'सालवती' है। वह 'सालवती' की कहानी है।

'सालवती' कहानी का मूल उद्देश्य वैशाली गणतन्त्र की उस कुप्रथा

या विकृति को वर्णित करना है जिसके अन्तर्गत किसी स्त्री को 'सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी' बना कर उसे 'नगर वधू' विशेषण दे दिया जाता था जो मूलतः वेश्या या गणिका का ही एक रूप था। जिस परम्परा की हमने पहले चर्चा की थी, 'सालवती' की वही परम्परा आगे चलकर चतुरसेन शास्त्री के चर्चित विशाल उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' में अपने ढंग से परिभाषित और विश्लेषित की गयी। मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक यशपाल के प्रसिद्ध उपन्यास 'दिव्या' में भी उस पर एक नए दृष्टिकोण से विचार किया गया। हम देखेंगे कि उसी तरह 'सालवती' में उठाए गए अन्य कई प्रश्नों और मुद्दों पर भी राहुल सांकृत्यायन (जय औधेय) तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी नए सिरे से उठाया गया।

सालवती उस पिता की पुत्री है जिसके पूर्वज आर्यों के 'प्रारम्भिक दल' के साथ भारत आए थे और जो 'विचारों की स्वतन्त्रता का समर्थक' था। वे लोग कर्मकांड और पाखंड के भी विरोधी थे। उन्होंने नए सिरे से दार्शनिक प्रश्नों पर भी विचार करते हुए विचार-विमर्श की एक नयी पद्धति और सरणि की शुरुआत की थी (यहाँ जानबूझकर प्रसाद जी ने वेदों का नाम नहीं लिया है)। सालवती के पिता उसी विचारधारा के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। अतः कहानी प्रारम्भ से ही अपनी प्रतिज्ञाएँ स्पष्ट कर देती है।

सालवती के पिता हिरण्यगर्भ के उपासक हैं। वे सदानारी नदी के पानी से छान कर स्वर्ण निकालने की कला जानते हैं (शायद आज भी कुछ विशेष स्थलों के स्थानीय लोग ऐसा करते हैं)। सालवती को इस कला की शिक्षा देकर वे दिवंगत हो जाते हैं। सालवती की कहानी इसके बाद शुरू होती है।

जैसा कि पहले कहा गया 'सालवती' का कथानक औपन्यासिक विस्तार की माँग करता है। सम्भवतः लेखक के मन में इसका कथानक एक औपन्यासिक रूपरेखा के साथ ही उभरा होगा किन्तु जैसा कि प्रायः अनेक कृतियों के साथ होता आया है प्रसाद उसके 'खाली जगहों' के लिए पर्याप्त सामग्री एकत्र नहीं कर पाए होंगे इसलिए अपेक्षाकृत संक्षिप्त कलेवर में ही उन्होंने अपने मन्तव्य को व्यक्त किया है : वह मन्तव्य क्या है ? सालवती की कहानी अनेक मोड़ों से गुजरती है। प्रसादजी ने उन्हें जल्दी-जल्दी समेट लिया है और कहानी के प्रारम्भ से ही अंकुरित होती है एक 'प्रेमकथा' के समापन और समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है। : सालवती एक प्रेम कहानी है पर प्रसादजी की अधिकांश प्रेमकहानियों की तरह एकान्तिक नहीं है और न रोमांटिक त्रासदी है। यह प्रेम प्रारम्भ में ही या कह लें प्रथम दर्शन में ही उपराजा अभय कुमार तथा सालवती के बीच अंकुरित होता है किन्तु उसके अनेक अनुसंग हैं, इसलिए इसका सामाजिक सन्दर्भ बहुत व्यापक है। प्रसादजी उसके माध्यम से भारत के प्राचीन तथा प्रारम्भिक गणराज्यों की वास्तविकताओं को उद्घाटित करना चाहते थे। इन गणराज्यों को बहुत पहले से (और कुछ सम्प्रदायों के लिए आज भी) प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली की नींव के रूप में देखा जाता रहा है। किन्तु वे कितने प्रजातान्त्रिक थे और क्या वे सचमुच गणराज्य थे ? प्रसादजी ने अपने भावबोध तथा दृष्टिकोण के अनुरूप उस 'निकष' का उपयोग किया है जिसके अन्तर्गत जिस व्यवस्थाओं (भले ही उसे गणराज्य क्यों न कहा जा रहा हो) स्त्री स्वतन्त्र न हो, उसे वरण की स्वतन्त्रता न हो वह व्यवस्था विकृत ही मानी जाएगी। कहानी का मूल

कथ्य यही है और इसी का परिहार किया गया है। वैशाली, वज्जिका और तथाकथित गणराज्यों में स्त्री-स्वतन्त्र नहीं हैं। अपने पिता से स्वतन्त्रता और मुख्यतः आर्थिक-स्वतन्त्रता को मूलमन्त्र मानने की दीक्षा प्राप्त करने वाली सालवती को परतन्त्रता की चरम स्थितियों से गुजरना पड़ता है वह नगर वधू (वेश्या का सम्मानित विशेषण) बना ही जाती है और एक रात के लिए एक सौ स्वर्ण मुद्राएँ उसको पारिश्रमिक (?) के रूप में निर्धारित कर दी जाती हैं। प्रसादजी ने यहाँ अपनी अन्य कहानियों की तरह सालवती को शुचिता वाली नायिक नहीं बनाया है बल्कि एक जटिल अद्भुत चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है— "जब मत लिया जा रहा था तब सालवती के मन की अवस्था बड़ी विचित्र हो रही थी। कभी तो वह सोचती थी पिता हिरण्य के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार का प्रभु है—स्वतन्त्रता का बीज है। वही 100 स्वर्ण मुद्राएँ उसकी दक्षिणा है, जिस पर इतनी संवर्धना इतना आदरपरक दूसरे क्षण उसके मन में यह बात खटकने लगती कि वह कितनी दयनीय है कि कुलवधू बनने का अधिकार उससे छीन लिया गया। उसने ही तो अभयकुमार का अपमान किया था। किसलिए ? अनुग्रह न लेने का अभिमत ! तो क्या मनुष्य को प्रायः वही करना पड़ता है, जो वह करना नहीं चाहता ?... उसने आनन्द के 'नियतिवाद' का एक बार स्मरण किया और गन्तव्य की ओर वेग से चल पड़ी।"

बताने की ज़रूरत नहीं कि वह 'गन्तव्य' क्या था ? और नियतिवाद जिस भारतीय दर्शनशास्त्र की एक शाखा थी (कहानी में उसे आठ दार्शनिक सम्प्रदायों में से एक बताया गया है) सालवती उसे स्वीकार कर लेती है। लेकिन दरअसल वह नियतिवाद को स्वीकार नहीं करती, अपने मन की दुर्बलता अपने प्रलोभन को स्वीकार करती है।

आगे चलकर हिन्दी में इस 'नियतिवाद' पर आधारित एक 'अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास 'चित्रलेखा' लिखा गया।

लेकिन प्रसाद इस नियतिवाद पर नहीं रुकते यानी वे उसे स्वीकार नहीं करते पर वे कहानी को एक असमंजस में छोड़ जाते हैं : क्या यदि सेनापति मणिधर की जो नगरवधू सालवती का प्रमुख प्रेमी और उसके गर्भस्थ शिशु का पिता है, की युद्ध में मृत्यु नहीं होती तो क्या सालवती को स्वतन्त्रता मिलती यानी क्या तब वह वही निर्णय लेती जो वह उसकी मृत्यु के उपरान्त लेती है ?

प्रसादजी के तर्क और उत्तर यहाँ अचूक नहीं हैं— यहाँ स्पष्ट लगता है कि वे सालवती के लिए सहानुभूति अर्जित करना चाहते हैं। जब आप दार्शनिक आधार पर प्रश्नों और समस्याओं के उत्तर ढूँढ़ना चाहते हैं तो आप प्रश्नों के और सघन जंगल में भटक जाते हैं।

सामाजिक प्रश्नों का उत्तर दार्शनिक आधार पर और दार्शनिक स्तर पर नहीं पाया जा सकता। समकालीन परिदृश्य में अनेक सामाजिक (और राजनैतिक भी) संगठन यही कोशिश कर रहे हैं या इसका पाखंड प्रदर्शन कर रहे हैं। इसलिए यद्यपि प्रसादजी ने पहले ही इसके सात अन्य दार्शनिक विकल्प प्रस्तुत किए हैं जिनमें से एक है 'स्यादवाद' अर्थात् यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है यानी दोनों सच हैं ? (घट अस्ति घट नास्ति)

...लेकिन क्या कभी दोनों ही सच हो सकते हैं ? दर्शनशास्त्र में होंगे वास्तविक जीवन में नहीं। इसीलिए कहानी में प्रसाद जी को लौटकर वास्तविक जीवन के स्तर पर उतरना पड़ा है : सालवती जानती है कि

मणिधर ने उसे रूपाजीवा बनाकर उसे कुलवधू न बनने देकर 'नगरवधू' बना दिया है। स्पष्टतः वह मणिधर से घृणा करती है लेकिन विडम्बना यह है कि उसकी कोख में मणिधर का शिशु पल रहा है। (स्त्री जीवन की सनातन विडम्बना) सालवती चाहती तो घोषणा कर सकती थी कि वह मणिधर का पुत्र है। पर ऐसा न करके उत्पन्न होते ही वह उसका परित्याग कर देती है। निर्जन पथ पर वह उसे एक सुकोमल मंजूषा में रखकर छोड़ आती है जिसे मणिधर के बाद सेनापति अभयकुमार, जो मगध की सेना को पराजित करके लौट रहा है, उठाकर अपना पालित पुत्र बना लेता है। इसे संयोग कहेंगे या नियति? ग्रीक नाटकों से लेकर आज तक कथाएँ प्रायः ऐसे ही संयोगों पर आधारित होती आयी हैं। प्रसादजी भी इसी 'डिवाइस' का प्रयोग करते हैं। वे कथा को एक परिणति तक ले जाना चाहते हैं और वह है वैशाली से वेश्या प्रथा का उन्मूलन और अभयकुमार तथा सालवती का परिणय।

मणिधर की मृत्यु के बाद 'रूपाजीवा वृत्ति' का परित्याग करके सालवती आठ वर्षों तक एकान्तवास करती है और फिर भयानक वार्षिक सौन्दर्य प्रतियोगिता के दिन सभागार में प्रकट होती है। प्रतियोगिता के लिए कोई अपना नाम नहीं देता यद्यपि वहाँ प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए आठ वेश्याएँ उपस्थित थीं। इसे उपयुक्त अवसर मानकर वह संघ की आज्ञा से निवेदन करती है कि यदि संघ प्रसन्न हो तो मेरा निवेदन स्वीकार कर यह प्रस्ताव पारित कर दिया जाए कि "वैशाली राष्ट्र में आज से कोई स्त्री वेश्या न होगी।" किन्तु ऐसा क्या सम्भव होगा? "क्या जो वेश्याएँ हैं वे वैशाली में वेश्याएँ बनी रहेंगी?" अभयकुमार प्रश्न करता है। सभा में वे दार्शनिक कुलपुत्र भी उपस्थित हैं जो युद्ध में खंडित और अपंग हो गए थे, वे अचानक घोषणा करते हैं कि वे उन आठों 'खंडिता' वेश्याओं को अपनी पत्नी बनाने के लिए प्रस्तुत है। पर नवीं 'खंडिता' तो स्वयं सालवती है उसका क्या होगा? सालवती को अभय कुमार अपनी पत्नी बना लेता है और उसके पुत्र को (जो पहले से ही उसका पालित पुत्र है) अपना पुत्र।

इस प्रकार यह ऐतिहासिक कहानी 'अपना समकालीन सामाजिक सन्दर्भ बनाती हुई वेश्याओं के उद्धार का एक समाधान प्रस्तुत करती है। यहाँ यह उल्लेख कर देना अवान्तर नहीं होगा कि प्रसादजी वाराणसी के जिस मुहल्ले में रहते थे वह वेश्याओं तथा नृत्यांगनाओं के लिए विख्यात था। अतः प्रसादजी अपने चतुर्दिक 'समकालीन सालवतियों' को नित्यप्रति देखते थे : कहानी में पहले वे 'आज की सालवती' को अतीत की सालवती बनाकर प्रस्तुत करते हैं और फिर उसे अतीत से उठाकर वर्तमान में लाकर एक उदाहरण तथा वेश्या समस्या के निवारण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

अतः यह कहानी ऐतिहासिक से अधिक सामाजिक तथा समकालीन कहानी है। इसके साथ ही वह हिन्दी में जिस विमर्शमूलक दार्शनिक कथा परम्परा का सूत्रपात करती है उसका उल्लेख किया जा चुका है। इस रूप में इसका महत्त्व 'ऐतिहासिक' जरूर है।

77, अनुपम अपार्टमेंट्स, वसुन्धरा एंक्लेव, दिल्ली - 110 096
फोन : 011-22619030

नयी किताब

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



मोनेर मानुष (उपन्यास)
सुनील गंगोपाध्याय
(अनु : सुशील कान्ति)



'मोनेर मानुष' बांग्ला के अप्रतिम कथाशिल्पी सुनील गंगोपाध्याय का अत्यन्त रोचक व विचार-प्रवण उपन्यास है। 'मोनेर मानुष' — अर्थात् किसी भी मनुष्य के अन्तर्मन में साक्षीभाव से संस्थित मनुष्य! यह उदात्त अर्थ खुलता है साईं, फ़कीर और बाऊल कहकर याद किए जाने वाले 'लालन' की जीवनगाथा में। लालन फ़कीर का जीवन तत्त्व ही 'मोनेर मानुष' की भावपीठिका है। अपने बाऊल गीतों के लिए अमर हो चुके लालन का जीवन वृत्तान्त अत्यन्त कम मिलता है। उपन्यासकार ने प्राप्त यत्किंचित तथ्यों, प्रचलित किस्सों, किंवदन्तियों, आस्थाओं और अनुमानों को मिलाकर लालन का जो जीवनादर्श रचा है वह अद्भुत है। लालन से उनके गुरु सिराज साईं ने कहा था — 'बहस मत करना, बहस से कोई कोई लाभ नहीं होता'। लालन निरन्तर कर्म के पर्याय बन जाते हैं। उपन्यास के चरित्र राबिया, सिराज साईं, कलुआ, कमली और भानती आदि मिलकर तत्कालीन सामाजिकता के बीच 'वंचित विमर्श' रेखांकित करते हैं। जातिगत अपमान, भूख, एकान्त, चिन्तन और सहजीवन के अनेक हृदयस्पर्शी प्रसंग उपन्यास में उपस्थित हैं। लालन फ़कीर संकीर्णताओं और विषमताओं के मारे सर्वहाराओं के साथ जीकर उच्चतम मनुष्यता का सन्देश अपने गीतों में छोड़ जाते हैं। बांग्ला में लिखे गये इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद सुशील कान्ति ने किया है। अनुवादक ने मौलिक आस्वाद सुरक्षित रखते हुए हिन्दी की प्रकृति में उपन्यास को प्रस्तुत किया है। इस अत्यन्त पठनीय और संग्रहणीय उपन्यास को पाठकों की अपार सहृदयता प्राप्त होगी, ऐसा विश्वास है।

पृष्ठ : 140, मूल्य : 120 रुपये

हिन्दी को नया जीवन

गिरिराज अग्रवाल

उत्तर प्रदेश के एक सरकारी स्कूल में अध्यापक के रूप में कार्यरत गाजियाबाद के 55 वर्षीय रामप्रकाश त्यागी के घर के सामने तीन साल पहले जब ब्रॉडबैंड इंटरनेट केवल बिछाने के लिए खुदाई की जा रही थी तो वह बहुत गुस्से में थे। वह नहीं चाहते थे कि उनके घर के सामने खुदाई हो क्योंकि उनकी नज़र में यह हाई फाई तकनीक सिर्फ अँग्रेज़ी जानने वाले ऊपरी तबके के लिए ही उपयोगी थी। फरीदाबाद में रहने वाली कुसुम गुप्ता के मन में भी एक साल पहले कुछ इसी तरह के विचार चल रहे थे जब अमेरिका में रहने वाले उनके बेटे ने उन्हें अपनी भारत यात्रा के दौरान एक कम्प्यूटर और ब्रॉडबैंड कनेक्शन लेकर दिया। लेकिन त्यागी और गुप्ता, दोनों के ही विचार अब बदल चुके हैं। अब जब उनका ब्रॉडबैंड इंटरनेट कनेक्शन काम नहीं करता तो वे सेवा देने वाली कम्पनी से नाराज़ हो जाते हैं। इंटरनेट पर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की प्रगति के कारण ऐसे करोड़ों लोग इंटरनेट को अपनी ज़िन्दगी में उपयोगी पा रहे हैं जिन्हें अँग्रेज़ी नहीं आती। ये लोग ई-मेल का आदान-प्रदान कर रहे हैं, ई-अख़बार पढ़ रहे हैं, ब्लॉग लिख रहे हैं और वेबसाइट शुरू कर रहे हैं, और ये सब काम वे उस भाषा में कर रहे हैं जो उनके जीवन में रची-बसी है। दो अमेरिकी कम्पनियों माइक्रोसॉफ़्ट और गूगल ने इस काम को सम्भव बनाने में बड़ी भूमिका अदा की है।

एक दशक पहले तक ऐसा बड़े पैमाने पर माना जाता था कि हिन्दी इंटरनेट के लिए सही भाषा नहीं है। प्रभासाक्षी डॉट कॉम के सम्पादक और वर्ष 2007 में माइक्रोसॉफ़्ट मोस्ट वेल्यूबल प्रोफेशनल पुरस्कार जीतने वाले भारतीयों में से एक बालेन्दु शर्मा कहते हैं, “हिन्दी फांटों और कीबोर्ड लेआउट के इस्तेमाल में अराजकता थी जिसके कारण उस हर दस्तावेज़ को

सन माइक्रोसिस्टम, याहू और भारत सरकार भी शामिल हैं। माइक्रोसॉफ़्ट ने वर्ष 2001 में हिन्दी यूनिकोड फांट मंगल को अपने ऑपरेटिंग सिस्टम में शामिल कर लिया। माइक्रोसॉफ़्ट इंडिया के प्रॉडक्ट एवं विजन मैनेजर मेघश्याम कर्णम कहते हैं, “तब से माइक्रोसॉफ़्ट अपने हर अगले संशोधित ऑपरेटिंग सिस्टम में हिन्दी यूनिकोड फांट उपलब्ध करा रहा है। यही नहीं विभिन्न कीबोर्ड के इस्तेमाल की सुविधा के लिए इनपुट मेथड फेसिलिटीज यानी पाठ्य सामग्री लिखने की नयी सुविधाएँ भी मुहैया करायी गयीं।” हिन्दी के सम्पादक इसे माइक्रोसॉफ़्ट का ‘बड़ा उपहार’ मानते हैं। नवभारत टाइम्स डॉट कॉम के वरिष्ठ सम्पादक नीरेन्द्र नागर कहते हैं, “यूनिकोड फांट का आगमन हिन्दीवालों के लिए एक बड़ी पहल था जिसने इंटरनेट पर हिन्दी को बेहद बढ़ावा दिया। इससे हर किसी को हिन्दी दस्तावेज़ों तक पहुँचने की आज़ादी हासिल हो गयी।” पूर्ववर्ती एनकोडिंग प्रणाली अँग्रेज़ी के लिहाज से तो ठीक थी लेकिन हिन्दी के लिए यह पूरी तरह खरी नहीं थी। पहले वाली प्रणाली में सिर्फ 127 करेक्टर ही उपलब्ध थे जबकि नयी प्रणाली में 65,000 हजार करेक्टर उपलब्ध हैं। भारत में चूँकि ज़्यादातर कम्प्यूटरों में ऑपरेटिंग सिस्टम माइक्रोसॉफ़्ट के हैं, इसलिए उनके अपग्रेड होने के साथ ही यूनिकोड फांट भी स्वतः ही अधिसंख्य लोगों तक पहुँच गया।

यूनिकोड सुविधा हिन्दी जगत तक पहुँचाने के बाद माइक्रोसॉफ़्ट ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वर्ष 2004 में माइक्रोसॉफ़्ट ऑफिस का हिन्दी संस्करण जारी किया गया जिसमें माइक्रोसॉफ़्ट वर्ड से लेकर माइक्रोसॉफ़्ट आउटलुक तक शामिल थे। कर्णम कहते हैं, “हिन्दी में काम करने को बढ़ावा देने के लिए उसी साल प्रोजेक्ट भाषा शुरू हुआ जिससे हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को और समर्थन मिला। हाल ही में विंडोज 2007 का भी हिन्दी संस्करण जारी किया गया है।” माइक्रोसॉफ़्ट ने भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपनी पैठ मजबूत करने के लिए हिन्दी के शुरुआती पोर्टल वेबदुनिया डॉट कॉम से भी नाता जोड़ा और वेबदुनिया के साथ मिलकर अपना हिन्दी पोर्टल शुरू किया। वेबदुनिया के कंटेंट एवं लोकलाइजेशन के महाप्रबंधक जयदीप कार्णिक कहते हैं, “वेबदुनिया ने माइक्रोसॉफ़्ट ऑफिस 2003 के हिन्दी संस्करण और भारतीय भाषाओं के इंटरफेस पैक विकसित करने में भी मदद की। इन्दौर की इस कम्पनी का कार्यालय अमेरिका में भी है जहाँ प्रमुख सॉफ्टवेयर डेवलपर को लोकलाइजेशन सेवाएँ मुहैया कराई गयीं।

यदि माइक्रोसॉफ़्ट ने हिन्दी के लिए आधार बनाने का काम किया तो गूगल ने उसका इस्तेमाल कर इंटरनेट पर हिन्दी का भव्य महल बनाने की पहल की। हिन्दी की क्षमता को भाँपकर गूगल ने पिछले दो साल में हिन्दी वालों के लिए इंटरनेट पर कई तरह की सेवाएँ प्रस्तुत की हैं। गूगल हिन्दी सर्च इंजन की मदद से कोई भी व्यक्ति इंटरनेट पर मौजूद सभी हिन्दी वेब पृष्ठों को देख सकता है, भले ही वे यूनिकोड में न हों। गूगल इंडिया के प्रोडक्ट मैनेजर राहुल राय चौधरी कहते हैं, “इंटरनेट पर हिन्दी वालों को आने वाली दिक्कतों को देखते हुए हमने अतिरिक्त विकल्प पेश किए हैं। लोग हिन्दी शब्दों को रोमन लिपि में लिख सकते हैं और एक ड्रॉप डाउन मेन्यू उन्हें कुछ शब्द सुझाता है जिनमें से वांछित शब्द को चुनकर हिन्दी पृष्ठों को सर्च किया जा सकता है। यानी बिना हिन्दी में कुछ भी टाइप किए आप हिन्दी पृष्ठ सर्च कर सकते हैं। हमने इसके अलावा अनुवाद इंजन भी उपलब्ध कराया है जो हिन्दी से अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ी से हिन्दी



पढ़ना समस्या थी जिसमें इस्तेमाल हुआ फांट पाठक के पास नहीं होता था। लगभग 50 फांट और 20 से ज़्यादा कीबोर्ड शैली इस्तेमाल में लायी जा रही थी और यदि दो लोग अलग-अलग फांट और शैली अपना रहे थे तो उनके लिए एक-दूसरे के दस्तावेज़ों को पढ़ना सम्भव नहीं था।” लेकिन हिन्दी में यूनिकोड फांट के आने से स्थिति बदल गयी। कैलिफ़ोर्निया में पंजीकृत गैरसरकारी संगठन यूनिकोड कन्शॉर्शियम द्वारा विकसित यह नयी एनकोडिंग प्रणाली भारतीय भाषाओं के लिए वरदान साबित हुई। यूनिकोड कन्शॉर्शियम के सदस्यों में अन्य के अलावा गूगल, आईबीएम, ओरेकल, माइक्रोसॉफ़्ट,

में अनुवाद कर सकता है। कई बार अनुवाद थोड़ा अजीब हो सकता है लेकिन हिन्दी भाषी इसे उपयोगी पा रहे हैं। हमने सामग्री को इनपुट करने के लिए ट्रांसलिट्रेशन यानी रोमन लिपि में लिखने की सुविधा उपलब्ध कराई है तो हिन्दी में ज्यादा सामग्री उपलब्ध कराने के लिए अनुवाद की सुविधा।” गूगल इंडिया ने हिन्दी समाचार स्रोतों से हिन्दी की खबरों को एकत्र कर उन्हें गूगल न्यूज हिन्दी के जरिये पाठकों तक पहुँचाने की सेवा भी शुरू की है। यही नहीं जी-मेल में भी अब यूनीकोड का समावेश कर दिया गया है जिससे हिन्दी में ई-मेल भेजना और प्राप्त करना सम्भव हो गया है। इसी तरह गूगल ब्लॉगिंग में भी हिन्दी की सुविधा उपलब्ध करायी गयी है।

माइक्रोसॉफ्ट, गूगल और अन्य डवलेपर के प्रयासों के चलते इंटरनेट पर हिन्दी की लोकप्रियता के सकारात्मक संकेत मिल रहे हैं। हिन्दी की प्रमुख वेबसाइटों को देखे जाने वाले पृष्ठों की संख्या में इजाफा हो रहा है। हिन्दी के ज्यादातर लोकप्रिय समाचारपत्र अब इंटरनेट पर भी स्वयं को उपलब्ध करवा चुके हैं। नागर कहते हैं, “हमारे अखबार नवभारत टाइम्स डॉट कॉम के पृष्ठों को देखने की संख्या में पिछले दिनों बेहद बढ़ोतरी हुई है और इनमें से आधे से ज्यादा लोग गूगल के जरिये आते हैं क्योंकि इंटरनेट पर अक्सर पाठक ज्यादा सीधे पूरा अखबार पढ़ने के बजाय किसी खास जानकारी की तलाश में आता है।”

याहू इंडिया ने भी जागरण के साथ भागीदारी कर डेढ़ साल पहले हिन्दी पोर्टल की शुरुआत की है। याहू इंडिया के वाइस प्रेसिडेंट गोपाल कृष्ण कहते हैं, “जागरण के साथ भागीदारी से हमें भारत में इंटरनेट का इस्तेमाल करने वालों के बीच ज्यादा पहुँच बनाने में कामयाबी मिली है। इस सेवा के सभी पहलुओं पर गौर करें तो यह बेहद सफल है।” याहू इंडिया की याहू मैसेंजर सेवा हिन्दी सहित नौ भारतीय भाषाओं में उपलब्ध है। याहू इंडिया के साथ भागीदारी पर हिन्दी वालों को क्या लाभ मिला? जागरण के प्रबन्ध निदेशक और सम्पादक संजय गुप्ता कहते हैं, “याहू की तकनीक और मार्केटिंग दक्षता और हमारी हिन्दी कंटेंट के क्षेत्र में विशेषज्ञता जानी मानी है। इंटरनेट पर आने वाले हिन्दी प्रेमियों को इसका फायदा मिलेगा। हमारे अखबार का विस्तार ही होने के बावजूद हमारा यह पोर्टल बेहद लोकप्रिय है।” जागरण में इंटरनेट टीम के प्रमुख उपेन्द्र स्वामी कहते हैं, “याहू-जागरण की भागीदारी के बाद देखे गए पृष्ठों की संख्या में 40 फीसदी की बढ़ोतरी दर्ज की गयी है। पहले के 10 लाख के मुकाबले का यहा आँकड़ा अब 14 लाख हो गया है।”

विकिमीडिया फाउंडेशन द्वारा शुरू किया गया हिन्दी विकिपीडिया भी धीरे-धीरे लोकप्रिय हो रहा है। इसे जुलाई, 2003 में शुरू किया गया था। इसमें इस समय 26 हजार से ज्यादा लेख मौजूद हैं। विकिपीडिया के जय वाल्श कहते हैं, “विकिपीडिया दुनिया की 260 भाषाओं में मौजूद है और अब हिन्दी विकिपीडिया 52वें स्थान पर पहुँच गया है। करोड़ों हिन्दीभाषियों के मद्देनजर विकिमीडिया का यह अहम मिशन है कि हम इस परियोजना को और आगे बढ़ने में मदद करें।”

इंटरनेट पर हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के रास्ते में और क्या चुनौतियाँ सामने हैं? कार्णिक कहते हैं, “सबसे बड़ी चुनौती इंटरनेट की पहुँच और कम्प्यूटरों की कीमत की है। इंटरनेट की पहुँच का दायरा बढ़ने, विशेषकर छोटे कस्बों में, और कम्प्यूटरों की कीमत कम होने पर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएँ इंटरनेट पर तेजी से फलती-फूलती नजर आएँगी।” भारत की एक शोध कम्पनी जस्टकंसल्ट द्वारा जून, 2008 में किए एक सर्वे के मुताबिक भारत में चार करोड़ 90 लाख लोग इंटरनेट का इस्तेमाल कर रहे थे जिनमें से लगभग 90 लाख नियमित रूप से इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाले हैं। जस्टकंसल्ट के संस्थापकों में से एक मृत्युंजय मिश्रा

कहते हैं, “भारतीय भाषाओं के लिए इंटरनेट पर बड़ी सम्भावनाएँ मौजूद हैं। हमारे अध्ययन में हमने पाया कि इंटरनेट पर आने वाले सिर्फ 28 फीसदी भारतीयों ने माना कि इंटरनेट पर अँग्रेजी में सामग्री देखना उनकी पहली पसन्द है। लेकिन भारतीय भाषाओं में अच्छी गुणवत्ता की सामग्री न मिलने के कारण वे भारतीय भाषाओं की वेबसाइट पर नहीं गए।” सूचना प्रौद्योगिकी के विशेषज्ञ भी उनसे सहमत हैं। गोपाल कृष्ण कहते हैं, “भारत जैसे देशों में लोकलाइजेशन ही सफलता का मन्त्र है। एक अरब से ज्यादा आबादी वाले देश में ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुँच के लिए हमें हिन्दी की ओर देखना ही पड़ेगा क्योंकि अँग्रेजी जानने वाले लोगों की संख्या सिर्फ आठ करोड़ है।” रायचौधरी भी उनसे सहमत हैं। “इंटरनेट सूचनाओं

यदि माइक्रोसॉफ्ट ने हिन्दी के लिए आधार बनाने का काम किया तो गूगल ने उसका इस्तेमाल कर इंटरनेट पर हिन्दी का भव्य महल बनाने की पहल की। हिन्दी की क्षमता को भाँपकर गूगल ने पिछले दो साल में हिन्दी वालों के लिए इंटरनेट पर कई तरह की सेवाएँ प्रस्तुत की हैं।

का लोकतान्त्रिकरण करता है। वेब के जरिये हिन्दी का इस्तेमाल करने वाले सूचनाओं की खाई को पाट सकते हैं। यह उनके लिए लक्ष्मी नहीं है बल्कि अपना जीवन सुधारने का ताकतवर जरिया है।”

लेकिन क्या हिन्दी इंटरनेट पर फलने-फूलने के लिए जरूरी पैसा बनाने में सफल है? मिश्र कहते हैं, “यह मुश्किल सवाल है। फिलहाल इस मोर्चे पर ज्यादा सफलता नहीं मिल रही है।” लेकिन रायचौधरी का मानना है कि एकबार हिन्दी साइटें लोकप्रियता की एक सीमा को पार कर लें तो कमाई होना भी तय है। वह कहते हैं, “हम यदि इंटरनेट के अमेरिका में विकास पर गौर करें तो पता चलेगा कि वहाँ सबसे पहले कंटेंट उन लोगों ने नेट पर डाला जिन्हें पैसा कमाने के बजाय वेब समुदायों के जरिये कंटेंट डालने में ज्यादा दिलचस्पी थी। इसके बाद लोगों ने गुणवत्ता वाली सामग्री देखी तो लोगों ने उन्हें खोजने के लिए इंटरनेट पर आना शुरू कर दिया। इससे एक ऐसा चक्र शुरू हुआ जिसमें कंटेंट आर्थिक रूप से लाभप्रद सौदा साबित होने लगा। इसके बाद डवलेपर सक्रिय हो गए जो लोगों के इंटरनेट अनुभव को सूचनाओं के भंडार से आगे ले जाकर उसे इंटरएक्टिव अनुभव बनाने में जुट गए। उनके अनुसार, “भारतीय भाषाएँ लम्बे समय तक पहले चरण में अटकती रहीं। हाल ही में उन्होंने दूसरे चरण में प्रवेश किया है।”

हिन्दी वेबसाइट फिलहाल ज्यादा धन नहीं कमा पा रही हैं। लेकिन हजारों हिन्दी प्रेमी, अध्यापक, पत्रकार, डॉक्टर, इंजीनियर, आदि इंटरनेट पर आ रहे हैं और अपनी व्यक्तिगत वेबसाइट या ब्लॉगिंग के जरिये अपना योगदान कर रहे हैं। ये लोग किसी कारोबारी मॉडल की चिन्ता नहीं कर रहे हैं। जिला स्तर के हिन्दी अखबार भी खुद को इंटरनेट पर डाल रहे हैं। बहुत से मामलों में हिन्दी जानने वाले प्रोफेशनल हिन्दी में अच्छी सामग्री इंटरनेट पर प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी पत्रकार तो इंटरनेट के पहले से ही मुरीद हो चुके हैं। इंटरनेट पर वेबसाइट चालू करने के लिए ज्यादा पैसे की जरूरत नहीं होती है, इसलिए आने वाले दिनों में इंटरनेट के गाँवों और कस्बों तक पहुँचने पर हिन्दी प्रेमी विद्वानों के इंटरनेट पर अपने दिल और दिमाग खोलने की बड़ी उम्मीद है। लेकिन उनमें से शायद बहुत कम को पता होगा कि इंटरनेट पर भारतीय भाषाओं के सम्मुख आने वाली सबसे बड़ी बाधा को दूर करने वाला व्यक्ति जीरोक्स का एक इंजीनियर जो बेकर था जिसे यूनीकोड का पिता भी कहा जाता है।

(‘स्पैन’ से साभार)

पीठासीन की डायरी जीवन सिंह ठाकुर

चुनावों की घोषणा और आचार संहिता लागू होते ही तनावों के कपूर की गन्ध चारों ओर फैल जाती है। कर्मचारियों के चेहरे तनावों से फटने लगते हैं आँखें ऐसी हो जाती है कि बस ज़रा-सा धक्का लगेगा और वे बाहर आ जाएँगी। खौफ़ ज़दा चेहरा देख कर ही चुनाव की घोषणा का अन्दाज़ आसानी से लगाया जा सकता है। कोई भी कागज़ आया कि खोलने के पूर्व धड़कनें खूँटा तुड़ा कर भागने लगती हैं। लालबत्ती की गाड़ी के आते ही साँस ऊपर की ऊपर तथा नीचे की नीचे रह जाती है। जाने और अनजाने चेहरों का आतंक छाया रहता है। उनके सीधे और उल्टे प्रश्नों के जवाब हवाईयों उड़ते चेहरे से लड़खड़ाती ज़बान में कर्मचारी देता है। आने वाला अफसरों का दल सन्तुष्ट नज़र आता है, वे जैसे कर्मचारियों की स्थिति चाहते हैं वैसी ही स्थिति में नज़र आ रहे हैं।

एक उखड़ा-उखड़ा-सा माहौल, कभी भी निलम्बित होने का डर हार्ट अटैक की तरह छाया हुआ रहता है किसी भी क्षण दंडित होने का अन्देश। एच.आई.वी. पॉजीटिव की घोषणा की तरह रहता है। पूरे तन-मन में सिहरन भर उठती है। उस दिन शिक्षकों, और अध्यापिकाओं के उतरे-उतरे और भयाक्रान्त चेहरे देखकर बच्चों ने पूछा था, “मैडम! क्या चुनाव आ गये हैं?”

जिन्हें रात-दिन कोसते हैं, जिनसे पूरा इलाका परेशान है। जिनकी राजनीति से पीड़ित हैं, वादाखिलाफी और अकड़ रातोंरात बढ़ती सम्पत्ति के ढेरों पर इठलाते लोगों के चुनाव हेतु कितना इन्तज़ाम? कितना धन, व्यवस्था, मानव संसाधन, करोड़ों काम के घंटे, असंख्य क़ानून और व्यवस्था की घटनाएँ, अनगिनत तनाव, इन लोगों को कसने की बजाय मतदान दल की सुरक्षा में ही भलाई समझ कर मतदान शान्तिपूर्ण होने तक सब कुछ बर्दाश्त करना, धैर्य रखना ही सबसे बड़ा काम है।

मतदान दलों ने वोटिंग मशीन (बैलेट यूनिट और कंट्रोल यूनिट) दीगर सामान काउंटर्स से प्राप्त कर लिया है। अभी भी किसी को पता नहीं किसे कहाँ जाना है, सब धड़कते दिल से परीक्षा परिणामों की तरह इन्तज़ार कर रहे हैं। आपस में बात कर रहे हैं “ठीक ठाक मतदान केन्द्र मिल जाए, सब शान्ति से निपट जाए” कई लोग अपने पिछले अनुभव ‘पीड़ा’ के साथ सुनाने लगते हैं। और वहाँ कटु अनुभवों की पोथियाँ, घाट के पंडों की तरह खुलने लगती हैं।

मतदान दल गाड़ी में बैठे हैं। वे ऐसे लग रहे हैं जैसे उनका अपहरण करके ‘कत्लगाह’ की तरफ़ ले जाये जा रहे हैं पूरी बस में खामोशी है (सभी बसों में यही खामोशी थी)। मतदान सामग्री सब-के-सब अपने सीने से, अपने शरीर से चिपकाए बैठे हैं एकबारगी तो भ्रम होता है अपने प्रिय बल्कि अतिप्रिय बच्चे को सीने से लगाये माता या पिता जा रहे हैं। या कभी ऐसा भी लगता है कि शरीर से आत्मा निकल कर हाथों में आ गयी है यदि हाथ ठीले पड़ गये तो आत्मा दिगन्त में उड़ जाएगी और शेष निष्प्राण शरीर भर रह जाएगा। लेकिन वह भी

निलम्बन के डर से बिना ‘आत्मा’ के भी थर-थर काँपेगा, काँपने लगेगा।

बस में खिड़कियों में काँच नहीं है, अन्दर धूल-की-धूल है। गर्मी का बवंडर है बस तप कर तन्दूर बन गयी है सभी अपने ख्यालों को सँकते, पकाते, पसीना बहाते बस में बैठे बस की दिशा में भाग रहे थे।

ख्यालात रोटियों की तरह फूल रहे हैं, पिचक रहे हैं, जल रहे हैं, बस गर्म सुरंग से गुज़र रही है। बस भाग रही है। बस एक जगह रुक गयी थी, क्योंकि ड्राइवर को पानी पीना था। कुछ लोग भी उतर गये, पेड़ के नीचे एक चाय की गुमटी है। वहाँ बस के इन्तज़ार में ठसाठस सवारियाँ बैठी हैं। औरतें, मर्द, बुजुर्ग, लड़के-लड़कियाँ गोद में कुलबुलाते बच्चे। शादियों का सीजन है बैंच के पास एक बुजुर्ग बैठे हैं वे खाली-खाली आँखों से बस को देख रहे हैं। चुनावों में प्रशासन ने ‘बसें’ अधिगृहित कर ली थी। बसों की भारी कमी से भारी भीड़ चौराहे-चौराहे पर खड़ी है बैठी है। और इन्तज़ार में आँखें लू के गर्म-तपते थपेड़े खा रही हैं। उस बुजुर्ग के पास दस-बारह साल का एक बच्चा खड़ा है। “बा? देखे तो कतरी सवारी है।” बुजुर्ग ने बस की तरफ़ देखा, बच्चे को देखा कहा, “सवारी नीं (नहीं) हे रे बेटा... सब तकदीर का मारिया होण जइरिया हे” (सब तकदीर के मारे लोग जा रहे हैं)

बस लम्बे चक्कर के बाद मतदान दलों को उतारती जा रही है। एक खामोश, निःशब्द सन्नाटा है— धूप और तेज़ गर्मी का कर्ण्यू लगा है। कहीं कोई परिन्दा नहीं, न जानवर, न ईसान, सूनी दोपहरियाँ हैं। कुत्ते सोये पड़े हैं उन्होंने लापरवाही से मतदान दलों की तरफ़ देखा, जैसे कह रहे हों, “लो ये आ गये परेशान करने” कुत्ते वापस सो गये। मतदान दलों की एक पार्टी उतर कर स्कूल के आहाते में आयी। सिर्फ़ सन्नाटा, कभी-कभार एक अदद पेड़ की पत्तियाँ हिल जाती हैं और फिर सन्नाटा... पोलिंग पार्टी बरामदे में सामान रखकर पेड़ी पर कोने पर बैठ गयी है। वे दूर सड़क पर देख रहे हैं।

वोटिंग मशीन यानी कंट्रोल यूनिट और बैलेट यूनिट उम्मीदवारों के प्रतिनिधियों को दिखा दी है। और खातरी करा दी है कि इन मशीनों में पहले से कोई वोट दर्ज नहीं है। दोनों मशीनें सील कर दी गयी हैं। प्रतिनिधियों के सील पर हस्ताक्षर के लिए हैं। तमाम तैयारी हो गयी है। सात बजने को है और मतदाता आ गये हैं। घड़ी देखते हैं सात बजने में चार मिनट शेष है। कुल मतदाता और आ गये हैं। घड़ी में सुइयों ने चार मिनट का सफ़र पूरा किया। पहला मतदाता अपना फोटो परिचय पत्र लेकर आया है। नाम पुकारा, उसके हस्ताक्षर लिये, अमिट स्याही लगायी, मतदान केन्द्र में पहली बीप गूँजी हैSSSS। जैसे प्रसूति गृह में नवजात शिशु की किलकारी गूँजी हो... सभी के चेहरों पर सन्तोष मंडरा रहा था।

धूप चढ़ रही है, लाय बरसा रही है, चौकीदार कहता है “आकाश और धरती से लपट उठी री हे सा ब” महिला मतदाता अभी तक नहीं आयी है। महिलाएँ कैसे आएँगी? घर का पूरा काम करके ही उन्हें आना है, धूप तेज़

है धूल उड़ रही है चटकारे से लगते हैं। गर्मी गमगा रहा है। कुत्ते सभी से बेखबर लस्त-पस्त पड़े हैं। धूल का एक बवंडर उठा और छा गया है। जब वह नीचे बैठा तो महिलाएँ आती हुई दिखीं। पहली महिला आयी, हमेशा की तरह खुरदुरे हाथ, फटी-फटी-सी उँगुलियाँ, नाखूनों और चमड़ी का छूटता हुआ रिश्ता है। उसने अँगूठा लगाया उन रेखाओं में अनेक पेंच घुमाव और कटाव थे। अमित स्याही की रेखा चमड़ी और नाखून का रिश्ता जोड़ते हुए खींच दी है। वह मतदान केन्द्र के 'बूथ' में चली गयी। कुछ खामोशी रही फिर एक 'बीपSSS' सुनायी दी। वह अन्दर ही खड़ी रही फिर वह दूसरे दरवाजे से बाहर निकल गयी। लेकिन मुझे फिर वह दरवाजे की चौखट पर नज़र आयी।

“आपका वोट डल गया है, अब आप जा सकती हैं।” वो तो मुझे मालूम है। फिरSSS “क्या कोई ऐसा बटन इस मशीन में नहीं है जो सब को हरा दे?” मैं कोई जवाब नहीं दे पाता हूँ, यहाँ नियम, क़ानून, कायदों से बँधा हूँ। सिर्फ़ खामोशी ओढ़ी जा सकती है। महिला की आँखों में प्रश्न फैल रहा है, मैं कहना चाहता था, ऐसा बटन भी है जो इस मशीन में नहीं है...मैं यह भी कहना चाहता था कि 'वो बटन तुम्हारी हमारी चेतना का है, पूरी चेतना का जो सबको हराने की ताकत रखती है, मेरी खामोशी पर वह आँखों-ही-आँखों में लानत मलामत करके चली गयी थी। महिलाएँ आ रही थीं, वोट दर्ज हो रहे थे बीSSS प SSS... बीSSS प SSS... वक्र उस तेज़ गर्मी में पिघल कर भाप बन कर उड़ रहा था।’

हर अधिकारी, प्रत्येक कर्मचारी, एक-एक मतदान अधिकारी सात बजे से पाँच बजे के तूफान को खामोशी से गुज़र जाने के इन्तज़ार में डूबता-उतरता रहता है। मतदान मशीनें सील करने के बाद कुछ चैन की साँसें लेता है। फिर तमाम कागज़ों की पूर्ति में लग जाता है। ये कागज़ नहीं पोलिंग दल के प्राण हैं, भविष्य हैं। सरकार की घोषणा है, प्रमाण है, आँख हैं, कान हैं, धड़कनें हैं। सफलता की लम्बी 'बीप' हैं। बस आ गयी है मतदान दल मशीनों को अपने 'बाइपास' किए दिल की तरह सँभालते हुए, धड़ाधड़ बस में समा जाते हैं। 'संसद' बस में दाखिल हो गयी है। संसद किसी व्यक्ति की गोद में, किसी के सीने से, किसी के बगल से चिपकी है। मशीनें जब भी खुलेंगी यह दिल की तमाम नजदीकियों को तोड़ कर 'दिल्ली' बन जाएगी। दिल्ली दूर है। दिल्ली तक किसकी पहुँच है, दिल्ली किसकी हुई है... लेकिन दिल्ली को सभी अपनी बनाना चाहते हैं। पता नहीं क्यों अभी दिल्ली दूर है।

बस एक झटके से चल दी थी। पीछे मोटा, घना धूल का गुबार उठा था जिसमें कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा था। रात ढल रही थी। कई-कई मोड़, डचके, धक्के, खाते हुए बस मुख्य मार्ग पर आ गयी थी। धक्कों, डचके में पता भी नहीं चला था कि मुख्यमार्ग कब आ गया था। बस फरटि भर रही थी। ड्राइवर को अपने आने वाले कल की फिक्र थी।

“अरे साब! बस जल्दी छूट जाये तो कल लाइन पर गाड़ी लगा दें तो रोज़ी रोटी से जुड़ें” जूते तो जीतने वाले के भी खाने हैं हारने वाला भी धोएगा, अफसर भी पीटेंगे, मालिक का गुस्सा अपनी जगह, हमारा क्या है इस त्रिवेणी में नहाना ही है... बस पर उसने पूरा ध्यान लगा कर, एक्सीलेटर पर दबाव बढ़ा दिया था।

चमचमाता पंडाल है, काउंटर है, अफसर है, वायरलेस-सेट है। सशस्त्र गार्ड है। तमाम पुलिस है। लाउड स्पीकर पर घोषणा है सभी पंडाल पर बिछी दरियों पर बैठने लगे हैं। कुछ खड़े हैं कुछ बैठना चाहते हैं। कुछ लम्बी साँसें लेकर अतिरिक्त ऑक्सीजन अपने फेफड़ों के हवाले करना चाहते हैं। एक बार फिर तमाम कागज़ों लिफ़ाफ़े के क्रम, उनके कागज़ों को व्यवस्थित देख लेना चाहते हैं। मशीन और लिफ़ाफ़े जमा करने में वक्रत का कितना बड़ा हिस्सा लग जाएगा, नहीं कहा जा सकता है। रात ढल रही है, कुछ ठंडी होती

भारतीय ज्ञानपीठ से शीघ्र प्रकाश्य कहानी संग्रह

दासी की दास्तान— विजयदान देथा
आदमी का डर तथा अन्य कहानियाँ— शेखर जोशी
खंडित संवाद— से. रा. यात्री
पचास बरस का बेकार आदमी— रवीन्द्र वर्मा
कारोबार— ओमा शर्मा
पालवा— भालचन्द्र जोशी
हादसा— राजनारायण बोहरे
गौरा गुणवन्ती— सूर्यबाला
भूख तथा अन्य कहानियाँ— सुभाष शर्मा

हवाओं ने राहत बाँट दी है। कैटीन पर चाय नाश्ता मनमाने दामों पर उपलब्ध है। लेकिन भीड़ है। पूरी सरकार और प्रशासन मौजूद है पुलिस है, फिर भी मनमाने भाव? बाज़ार सबकी पकड़ से दूर है बाज़ार की ताकत सब पर भारी है। वहाँ भारी भीड़ है... सभी निर्देशित काउंटरो पर कतारों में लग रहे हैं। यहाँ की प्रक्रिया में सफल होना ही गारंटी है। एक गलती पूरी पोलिंग पार्टी को फिर से मशक्कत ही नहीं करा देगी वरन संकट में भी डाल सकती है।

लम्बी प्रतीक्षा के बाद धड़कते दिलों से पीठासीन अधिकारी, उसके पोलिंग ऑफिस नं. एक, दो और तीन, लिफ़ाफ़े, वोटिंग मशीन टेबल पर रखते हैं जिनकी सामग्री, कागज़ एक दम ओ.के. हो जाता है, उसके चेहरे पर 'पुनर्जन्म' की चमक आ जाती है। तनावों की बेड़ियाँ 'कृष्ण जन्म' की तरह 'देवकी और वासुदेव' की तरह खुल जाती हैं। उनमें से कुछ अपने घर फोन करते हैं कि स्कूटर या बाइक लेकर कोई आ जाये। कुछ के पास कोई साधन नहीं है। लेकिन खुश है, वे जल्दी-से-जल्दी निकल जाना चाहते हैं। लेकिन एकबारगी चमचमाता शामियाना जी भर कर देखना चाहते हैं। वे पता नहीं क्यों देखना चाहते हैं? कुछ शामियाने में बिछी दरियों पर लेट गये हैं। जैसे थकान और तमाम तनावों की पोटली बाँध कर यहीं छोड़ जाना चाहते हैं। एक भोला और मासूम ख्याल मेरे दिमाग से लिपट जाता है। और अबोध आशा करता है “वह दिन कब आएगा, जब मतदान दल खुशी-खुशी चुनाव कराने जाएँगे, प्रसन्नता से लौटेंगे, मतदाता किसी मेले की खुशी की तरह उत्साह से मतदान करेंगे, दलों के नेता, कार्यकर्ता क्षेत्र में शान्ति से मतदान कराने में मदद करेंगे लोकतन्त्र के इस पर्व में भागीदारी के लिए सात्विक उत्साह से क्षेत्र में प्रचार करेंगे।”

यह मासूम ख्याल कुछ देर बाद हाथ छुड़ा कर भाग गया था। मैं आहिस्ते-आहिस्ते बाहर निकलता हूँ, कुछ दूर तक उजाला मेरा साथ देता है फिर अँधेरे का सफर शुरू हो जाता है रास्ते भर जाते हुए कर्मचारियों की बातचीत के टुकड़े, फुलझड़ियों की तरह चट चट करके चुभते, गुदगुदाते रहे। रास्ता कब कट गया पता ही नहीं चला।

शेष फिर क्योंकि चुनाव आते रहेंगे, पीठासीन बनते, बदलते रहेंगे। अनुभवों, यादों का सिलसिला ख़त्म नहीं होगा। सब कुछ स्मृतियों में दर्ज होता जाएगा।

422, अलकापुरी, देवास-455 001 (म.प्र.)

ज्ञानपीठ उपन्यास वर्ष - 2009

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन के क्षेत्र में एक और कीर्तिमान बनाते हुए वर्ष 2009 को उपन्यास-वर्ष के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। इस 'उपन्यास-उत्सव' के शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास हैं—

- प्रेम की भूतकथा—विभूतिनारायण राय
- मेरा निर्णय—अभिमन्यु अनंत (प्रकाशित)
- नया जनम—सन्तोख सिंह धीर (प्रकाशित)
- सात फेरे—चन्द्रकिशोर जायसवाल
- दुःखम-सुखम—ममता कालिया
- छुट्टी के दिन का कोरस—प्रियंवद
- आखिरी छलाँग—शिवमूर्ति
- देश निकाला—धीरेन्द्र अस्थाना (प्रकाशित)
- पानी बिच मीन पियासी—मिथिलेश्वर
- मैंने नाता तोड़ा—सुषम बेदी
- वेयर डू आई बिलॉन्ग?—अर्चना पैन्थूली
- रेखाएँ दुख की—विष्णुचन्द्र शर्मा
- टूटने के बाद—संजय कुन्दन
- आखेट—ज्ञानप्रकाश विवेक (प्रकाशित)
- सामने का आसमान—मधुर कपिला
- विश्वामित्र—ब्रजेश वर्मन
- वरःमिहिर—डॉ. घनश्याम पाण्डेय
- सारा लोहा उनका—रणेन्द्र
- बेनीमाधो तिवारी की पतोहू—मधुकर सिंह
- सुखफ़रोश—वीरेन्द्र जैन

तथा अन्य भारतीय भाषाओं के शीर्ष उपन्यासकारों के हिन्दी में अनूदित उपन्यास

- मोनेर मानुष—सुनील गंगोपाध्याय (प्रकाशित)
- अन्नदाता—बलदेव सिंह
- सम्भाजी—विश्वास पाटील
- धर्मयुद्ध—केशुभाई देसाई
- अनदेखा अन्तस—विजयदान देशा
- जहाँ राधा नाची—इन्दिरा गोस्वामी





दर्द की पृष्ठभूमि में मीरा सीकरी

कुछ ही देर में हम पोर्ट ब्लेयर पर उतरने वाले हैं, उद्घोषणा को सुनकर मेरी आँखों में एक चमक-सी आ गयी है। अभी तो ग्यारह ही बजे हैं इसका मतलब है, ज्यादा-से-ज्यादा आधे घंटे में हम धरती पर होंगे। मैं खिड़की वाली सीट पर नहीं थी पर बीच वाली कुर्सी से भी खिले-खुले दिन में नीचे विशाल समुद्र दिखायी दे रहा था। समुद्र-ही-समुद्र। कश्मीर की डल झील और जेहलम में तैरती नौकाओं जैसे द्वीप-उपद्वीपों से सुसज्जित असीम सागर— असीम कमल-ताल सा। दूरी सौन्दर्य में आकर्षण भर देती है। हरे-हरे गुच्छों वाला यह समुद्र तो बहुत लुभावना लग रहा था। तभी भीतर बैठे सुनामी के भय ने झाँका पर इस समय भय नहीं, उल्लास हावी था। मॉरिशस में पैरा सेलिंग नहीं कर पायी थी, इस समय लग रहा था समुद्र के विशाल प्रांगण में उन्मुक्त आकाश में लहराते हुए उड़ने का अपना सुख तो होगा ही।

दिल्ली से चले थे तो सर्दी शुरू हो गयी थी इसलिए एक हल्की जैकेट पहन ली थी, पर विमान से उतरे तो तेज़ धूप और उसके तीखेपन को सन्तुलित करती हवा ने स्वागत किया। साथ ही यह चेतावनी भी दे दी कि यहाँ जैकेट-वैकेट का कोई काम नहीं।

होटल के कमरे में अभी पूरी तरह से व्यवस्थित भी नहीं हो पायी थीं कि 'टुअर आयोजक' का फोन आया था, "ढाई बजे डाइनिंग हॉल में पहुँच जाइए— लंच के बाद साइटसीइंग के लिए निकल रहे हैं। छतरी लेती आइएगा।" हवाई जहाज़ में चाय नहीं मिली थी, एक कप गर्म चाय पीने का मन था, पर कमरे में कोई व्यवस्था चाय के लिए नहीं थी। बिना चाय पिए डाइनिंग हॉल में पहुँची थी। होटल से बाहर निकले तो चार बज रहे थे। होटल मुख्य बाज़ार में था पर वहाँ से थोड़ा बाहर निकलते ही हम समुद्र के किनारे पहुँच गए थे। हमारे दाएँ हाथ 'गाँधी पार्क' बाएँ हाथ

समुद्र का किनारा 'मरीना पार्क'। यहाँ से होते हुए हम आगे बढ़ रहे थे।

सुनामी के वार को यह तट झेल और घाव को पुरा चुका था। लाली लिए गेरुवे और पीले रंग से रँगी रेलिंग्स मानवीय प्रयास और जिजीविषा को व्यक्त कर रही थीं। सुबह की उड़ान के लिए समय पर पहुँचने की चिन्ता में रात नींद नहीं आयी थी पर यहाँ सामने विशाल नीले समुद्र, मीठी धूप और ठंडी हवा को महसूस कर नींद छिप गयी थी और थकान का नाम भी नहीं रहा था।

गाड़ी में बैठे-बैठे समुद्र के साथ-साथ चलना अच्छा लग रहा था कि ड्राइवर ने गाड़ी रोक दी। पता चला कि हम 'कारवाइन कोव बीच' पर हैं। सामान्य जन की पहुँच में होने से अच्छी खासी रौनक लगी हुई थी। 'बीच' की रेत पर पहुँचने के लिए बनी सीढ़ियाँ और चबूतरे काले पड़ रहे थे। चार साढ़े चार साल बाद भी सुनामी के दिए घाव इन सीढ़ियों पर अंकित थे। ऊँचे चबूतरे पर पाँव लटका कर बैठ गयी हूँ— तट के दोनों तरफ घने पेड़ समुद्र को ब्रेकेट में बाँध जैसे वहाँ आए समुद्र प्रेमियों को अपनी सीमाओं में रहने का संकेत कर रहे हैं। यहाँ तट पर काला पानी साफ़ दिखायी पड़ रहा है। लगता है पानी में किसी ने राख घोल दी हो। इसीलिए तो इस प्रदेश को 'काला पानी' की संज्ञा दी गयी होगी। पर दूर-दूर तक समुद्र को देखो तो वही पानी नीले आसमानी और मयूरी रंग की आभा ले लेता है। धीरे-धीरे शाम उतर रही है— धूप साथ छोड़ रही है। धूप के ढलने के साथ काली पड़ी सीढ़ियों और चबूतरों पर काली छायाएँ उसे और गहरा रही हैं। मैं ड्राइवर के पास जाकर पूछती हूँ— "मरीना पार्क वाले तट के समान इसका पुनर्निर्माण नहीं हुआ?"

"नहीं, बस मरम्मत हुई है।"

ड्राइवर अभी युवक ही है। सुनामी के 'कहर' के समय, वह यहीं

अंडमान में ही था। उसका किशोर मन उस दुःस्वप्न की याद में कह उठता है, “मैडम मुझे लगा था, मैं अकेला ही मर जाऊँगा। मैं चिल्ला-चिल्ला कर रो रहा था; मैं अकेला ही मर जाऊँगा, मेरी माँ तो विशाखापट्टनम में है। पर यहाँ माल की तबाही हुई जान नहीं गयी।”

कहकर वह एक लम्बी साँस भरता है, जिसमें पुराना दर्द और बचे



रहने की खुशी मौजूद है। वहीं एक छोटे से टापू पर एक अकेला पेड़ अपने अस्तित्व को बचाए हुए बहुत कुछ कह रहा है। अकेला पेड़ और ड्राइवर शीनू अपने-अपने अकेले अनुभवों में सहज मानवीय बेचैनी और बचने की बहुत-सी कहानियाँ लिए हुए हैं।

राख घुला काला पानी, सुनामी की दुःखद स्मृतियों और उतरती शाम में मन उदास हो गया था, या दिनभर की थकान भीतर से बाहर आ गयी थी। मन चाहने लगा था कि होटल वापिस लौटा जाए, पर तभी आयोजक ने बताया था कि ‘ध्वनि और प्रकाश’ शो देखने के बाद ही वापिस जाएँगे। ड्राइवर सेल्यूलर जेल के सामने ‘वीर सावरकर पार्क’ में हमें ले आया था। पार्क में घास के ऊँचे नीचे टीलों से चाहे समुद्र देखो या गोलघर में शहीदों की तस्वीरें, यहाँ का पुराना इतिहास अन्तर्वर्ती अदृश्य धारा की तरह से हर समय साथ हो लेता है। मन की चहकती लय में विषाद की भीड़ लग गयी है। इस चुप्पी को आयोजक यह कहकर तोड़ता है कि टिकटें लेने के लिए महिलाओं को जाना पड़ेगा। मुझे छः टिकटें लानी हैं। खिड़की पर एक सैनिक अपना परिचय पत्र दिखाते हुए छूट वाली टिकटें माँग रहा है— मैं कह उठती हूँ, “यह शो तो प्रत्येक भारतीय को निःशुल्क दिखाया जाना चाहिए।” वह सैनिक मुझसे पूछता है कि आपने कितनी टिकटें लेनी हैं और मुझसे पैसे लेकर छूट वाली छः टिकटें ले देता है। बात कुछ पैसों की नहीं, उस वृत्ति की है जिससे मेरा मन उस सैनिक मात्र के प्रति नहीं सम्पूर्ण सेना के प्रति कृतज्ञता से भर उठता है, जिनके बल पर हमारी स्वतन्त्रता और सुरक्षा सुरक्षित है।

ध्वनि और प्रकाश कार्यक्रम ‘काला पानी’ के नाम से जानी जाने वाली सेल्यूलर जेल के खुले प्रांगण में, विदेशी शासन के दौरान दंड-प्राप्त क्रान्तिकारियों की कारावास कालीन यातना को उजागर करता है।

प्रांगण में कार्यक्रम शुरू हो चुका है— जेल के पेड़ों और दीवारों की ईंटों की साक्षी में अवसादमय स्मृतियों की पीड़ा का इतिहास ध्वनि और प्रकाश के बलाबल में गम्भीर सन्नाटे में गूँज रहा है— देखते, सुनते दर्शकों की च...च...च... ध्वनियाँ साफ़ सुनी जा सकती हैं। स्वतन्त्रता की हमारी इमारत की नींव बने इन स्वतन्त्रता सेनानियों-शहीदों ने कितने कष्ट उठाए की फुसफुसाहटें, शो के स्वर में घुल-मिल जाती हैं। अंधेरा और उजाला एक सम पर है कि इनमें बारिश का विषम स्वर लग जाता है। पर कोई भी दर्शक अपने स्थान से उठता नहीं। हाँ छतरियाँ खुल जाती हैं। पर बारिश छतरियों से ज़्यादा बलशाली है। कुछ लोग पेड़ों के नीचे चले गए पर कार्यक्रम आगे बढ़ रहा है। पेड़ों से पानी टपक रहा है। छतरियों से पानी की धाराएँ बह रही हैं, भीगते दर्शकों की संवेदना क्रान्तिकारियों से हटकर अपने पर केन्द्रित हो जाती है। लगभग सभी गेट के पास आकर रुक गए हैं। हम वापस लौट जाने के लिए पार्किंग पर आते हैं— ड्राइवर कह रहा है ‘शो’ फिर से हो रहा है पर अब मन अपनी लय खो चुका है, लौटना नहीं हो सकता।

पोर्ट ब्लेयर की खूबसूरती उसके ‘रेतीले तट’ और छोटे-बड़े टापू में हैं। उन्हीं में से तीन टापुओं को देखने के लिए ‘जंगली घाटी’ से बेड़ा लिया था। शुक्र है धूप निकल आयी थी, वरना उन्हें देखना सम्भव न हो पाता।

शायद मौसम को अपनी ही नज़र लग गयी— धूप-छाया का खेल शुरू हो गया और छाया के साथ बारिश भी खेल में शामिल हो गयी। कर्मी दल के युवक से मैंने पूछा, “नवम्बर में बारिश?” उसका जवाब था, “मानसून का मौसम तो नहीं, पर यहाँ कभी भी बारिश हो जाती है।” छतरियाँ खोल ली थीं, बेड़े में आगे बैठे होने के कारण बारिश और ऊँची तरंगों की उछाल का सीधा हमला हो रहा था। विराट समुद्र पर आक्रमण करती ये लहरें बेड़े को ज़्यादा ही हिला रही थीं। अवचेतन में बैठा सुनामी का भय बेचैन कर रहा था। “मैं अकेला ही मर जाऊँगा।”— शीबू का वाक्य, कानों में गूँजने लगता है। बेड़ा धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। “वो सामने वाइपर द्वीप है” वहीं बैठा युवक मुझे बतलाता है और हम वाइपर द्वीप की जेट्टी पर हैं। पन्द्रह मिनट का समय यहाँ के लिए दिया है। बारिश में उतरने का मन नहीं होता। पर यहाँ आये हैं तो एक नज़र भीतर डाल ही लेनी चाहिए। छतरी लिए अन्दर जाते हैं— चरमराती दीवारें, सीढ़ियाँ, ऊपर माउंटी और दरवाज़ा-सा। कुछ समझ नहीं आता— कुछ लिखा हुआ भी नहीं है। बारिश से बचने के लिए बेड़े की तरफ़ सब भाग रहे हैं पर ख़ैर तो वहाँ भी नहीं है। पर जहाज़ के पंछी को अन्ततः जहाज़ पर ही आना है। अभी धरती का साथ मौजूद है और देह में प्राण, कान नाविक की आवाज़ की तरफ़ खिंच गए हैं जो कह रहा है, “बहुत शुरू में कैदियों के लिए जेल इसी टापू पर थी। आपने वह सीढ़ियाँ चढ़कर जो ऊपर देखा होगा, वह ऐतिहासिक फाँसीघर था। वायसराय लार्ड मेयो का खून करने वाले कैदी पठान शेर अली को इसी द्वीप पर फाँसी दी गयी थी।”

बेड़े में तो सवार होना ही था और उसके चलने के साथ ही लहरों की उठा-पटक भी शुरू हो जाती है और दिल का ऊँचे-नीचे होना भी। नाविक समुदाय में से निर्देश आता है, “आज हाई टाइड है सब बैठ जाइए।” हम ऊँची तरंगों में झूलते बेड़े का आनन्द उठा रहे हैं तो बच्चे जो आगे वाले

स्तम्भ को पकड़े हैं तरंगों की फेनिल लयात्मक हँसी के साथ अपनी हँसी मिला रहे हैं। बेड़े के पिछले हिस्से में नए ब्याहे जोड़े ने अपनी दुल्हन को सुरक्षित होने का अहसास देने के लिए अपनी बाँहों के घेरे में ले लिया है। मध्य भाग में बैठे कुछ अधेड़ और वृद्धों ने गायत्री का जाप शुरू कर दिया है। होंठ तो बहुत लोगों के हिल रहे हैं। भय से लाल और पीले पड़े चेहरे, बारिश, हाई टाइड— ऐसे में मुझे साधनों के अभाव के दिनों में समुद्री यात्रा करने वाले साहसी नाविकों की याद हो आती है। अपने में हिम्मत और धैर्य सँजोने के लिए मैं आँखें बन्द कर लेती हूँ (शुतुर्मुगी प्रयास)। पीछे चलता प्रार्थना का स्वर इस समय भी यह सोच कर होठों पर मुस्कान ला देता है कि जान पर बनी हो तभी वह परम शक्ति याद हो आती है।

बेड़े के 'कू' को कोई खतरा महसूस नहीं हो रहा, अभ्यस्त हैं वे इस सब के, पर अधिकांश यात्री समुद्र की इस छेड़छाड़ से परेशान हो रहे हैं। प्रार्थना रंग लाती है क्योंकि 'कर्मी दल' में से एक लड़के ने रस्सी को निकाल लिया। बहुत मोटी लम्बी रस्सी और सामने द्वीप भी नज़र आ रहा है— इतनी दूर है द्वीप फिर बीच समुद्र में उसने रस्सी क्यों डाल दी? पता चला यहाँ उथला समुद्र है और किनारे तक पहुँचने के लिए छोटी नौका पर जाना होगा। पर छोटी नौका में उतरते व्यक्तियों के हो हल्ले से, समुद्र में खड़े होने पर भी डोलते बेड़े की तरह से मन दुविधाग्रस्त हो जाता है। हमारा आयोजक कह रहा है तट पर पहुँचे डॉक्टर साहेब का फोन आया है, "यहाँ कुछ नहीं है, आप वहीं रह जाएँ।" पर सामने द्वीप से आवाज़ देती धूप की चमक, चाय की गर्माहट और पाँव के नीचे धरती के स्पर्श के आकर्षण की जीत होती है। ठीक निर्णय ले लेना कितना बड़ी बात होती है! 'नार्थ से' से आने का मन नहीं हो रहा— हाई टाइड न होती तो यहाँ नौका से कोरलज भी देखा जाता पर उसकी कमी को पूरा करने के लिए हमारी 'एक साथिन' किनारे से कोरलज और पत्थर चुन रही है मेरे यह कहने के बावजूद कि कोरलज ले जाना अपराध है।

फिर से हम समुद्र में चल रहे हैं पर अब हमें समुद्र के मसखरी अन्दाज़ समझ में आ गये हैं— वह गुस्से में नहीं है, बस ज़रा अपने दबदबे को बनाए रखना चाहता है। "समुद्र के ये तेवर कब शान्त होंगे?" मैं मास्टर से पूछती हूँ। "वापिस लौटने में सब ठीक हो जाएगा।" वह कहता है।

तीन बजने को थे जब हम 'रैस द्वीप' पहुँचे। पता चला 1858 से लेकर 1945 तक यह अँग्रेज़ों और जापानियों की राजधानी रहा। भारतीय नौसेना द्वारा रक्षित यह द्वीप आज भी अपनी दिखावटी शान-शौकत बनाए हुए है। मटियाले और गेरुवे रंग से लिपा-पुता तराशा द्वीप, जहाँ पहुँचते ही मोर स्वागत कर रहा है; जिसके प्रशस्त रास्तों पर चलते हुए उन क्रान्तिकारियों कैदियों की याद ताज़ा हो जाती है जिन्होंने इसको बनाने में अपना खून पसीना बहाया था। अनुशासन के नाम पर उनके प्रति अगर अँग्रेज़ों ने अत्याचारी व्यवहार न किया होता तो इस राजधानी को देख मन से 'आह' नहीं 'वाह' निकलती।

लिखित कार्यक्रम के अनुसार अगले दिन 'हैवलॉक द्वीप' के सुन्दर तट पर जाना था पर मौसम की खराबी के कारण टिकटों का वितरण नहीं किया गया। वहाँ न पहुँच पाने का मतलब था डॉल्फिन मछलियों के खेलों को देखने से भी वंचित हो जाना। प्राकृतिक आपदाओं को 'नियति'

मानकर स्वीकार करने के इतर अन्य कोई रास्ता भी तो नहीं होता।

हैवलॉक के बदले हम 'वंडूर बीच' पहुँचे थे। अपने वर्तमान रूप में यह 'बीच', मानवीय दखलन्दाज़ी से अछूता अपने प्राकृतिक अस्तित्व को बनाए हुए है। 'सुनामी' की मार को इसने ख़ूब सहा लगता है। पेड़ के टूँठ पर बैठी नारियल पानी पीते हुए लकड़ी के गोल 'रेस्तरों' को देख रही हूँ, जिसको बोट मैन 'बार हुआ करता था यह' कह रहा है। उसकी टूटी-फूटी लकड़ी की सीढ़ी से गलियारे में पहुँच दूर तक फैले समुद्र को देख रही हूँ। टूँठ हुए पेड़ जगह-जगह दिल्ली हाट में रखे मूढ़ों-से बिखरे हुए हैं। सुनामी के बाद, अपने बचे हुए उपकरणों से तट ने अपना शृंगार कर लिया है। कोरलज दिखाने के लिए नावें चल रही हैं। एक सप्ताह पहले ही रेहड़ी वालों को चलती फिरती रेहड़ियों को लगाने की इजाज़त मिल गयी है। पर्यावरण को दूषित करने के लिए पोलिथीन का कचरा न फेंका जाए, इसकी देख रेख के लिए सेवारत महिलाएँ आ गयी हैं। ज़िन्दगी ने अपनी लय ले ली है। विदेशी सैलनी लगभग नहीं के बराबर हैं। यों हरे भरे गुच्छों को लिए समुद्र हर किसी स्वागत कर रहा है।

यह इत्तफाक ही कहा जाएगा कि 'टुअर पैकेज' के पहले दिन 'सेल्यूलर जेल' के प्रांगण में यहाँ का 'ध्वनि और प्रकाश' कार्यक्रम देखा और अन्तिम दिन सेल्यूलर जेल। इस विशाल जेल को देख इसके वास्तुकार की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। उसका बुद्धि कौशल कि कतारों में कैदी किसी भी तरह एक-दूसरे को देख नहीं सकते, बात करना तो दूर की बात है। इन कैदियों को 13.5 फीट लम्बी और 7 फीट चौड़ी कोठरी में रात के बारह घंटे बन्द रहना पड़ता था। यहाँ के यातनादायक ब्यौरे दिल हिला देने वाले हैं। आज भी यहाँ की दीवारें और खिड़कियाँ इस बात की गवाह हैं।



पोर्ट ब्लेयर की भूमि अपने जख्मों को लाख छिपाने की कोशिश करे, वे छिप नहीं पाते। यद्यपि वे जख्म सूख गये हैं, पर उनके दाग यह बता रहे हैं कि यहाँ की साँस तो सामान्य हो चुकी है, पर उसके साथ निकलती टीस की ध्वनि को सुने बिना आप रह नहीं सकते।

ई-230, अमर कॉलोनी, लाजपत नगर-4, नयी दिल्ली-24

फोन : 011-26416423



वजूद सुभाष शर्मा

और चाची दहाड़ मार कर रोने लगीं। उनकी आँखों से खून सने आँसू झरने की तरह निकलने लगे। धीरे-धीरे पूरा गाँव रोने लगा। पशु-पक्षी रोने लगे। मैं भी उसमें शामिल हो गया। मुझे लगा कि पूरी धरती रो रही है और रोते-रोते धरती सूरज का चक्कर लगाना ही भूल गयी। कभी-कभी मुझे लगता है कि एक आदमी के मरने पर पूरा गाँव मर गया है। सो चारों ओर अँधेरा छा गया मानो पूर्ण सूर्यग्रहण हो। मुझे उस समय कुछ भी नहीं सूझ रहा था। अब्दुल चाचा को खोकर चाची ने कितना कुछ खो दिया, इसका तो कोई अनुमान ही लगा सकता है। किन्तु मैंने जो पारस पत्थर खो दिया, उसके एक-एक कण का मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा था। मुझे इसलिए भी दुख हो रहा था कि इस दुख का पहाड़ ढोने के लिए खुदा ने मुझे ही क्यों खबरिया बनाया? अब्दुल चाचा थे ही ऐसे। दुनिया के तमाम लोग उनके अपने थे। न जाति का बन्धन, न मजहब की दीवार इन रिश्तों के बीच होती थी। वह डाल पर बैठे पंछियों से भी बोलते-बतियाते थे। गोरू-बछरू का सुख-दुख वह रोज़ाना सुनते थे। वे उन्हें चारा-पानी देना नहीं भूलते थे। कहाँ था किसी पशु-परानी से उनका भेद? पराया शब्द उनके गरीबखाने के कोने-अन्तरे में भी नहीं था। मुझे लगा कि अपने को जब कोई खोता है, तो उस समय उससे पहली बार मिलने वाली कोई घटना मन में कौंधती है।

हुआ यूँ कि परदेश से लौटते अब्दुल चाचा से ज्यों ही मेरा दुआ-सलाम हुआ, त्यों ही वह मेरे रोज़गार के बारे में पूछ बैठे। उस समय मेरे चेहरे पर गहरी चुप्पी और मायूसी की चादर छा गयी। यूँ मैं चुप्पी का पुतला पहले से बन गया था। वह मेरी मायूसी का मतलब ताड़ गए। फिर तपाक से बोले, “रजाक! घबराओ मत। इस बार तुम मेरे साथ चलो। मैं अपने कारखाने के मालिक से तुम्हारी रोज़ी-रोटी के बारे में बात करूँगा। खुदा ने चाहा तो ज़रूर तुम्हारी रोज़ी-रोटी का इन्तज़ाम हो जाएगा।” उनके इन अलफ़ाज़ ने मेरे भीतर रोशनी की किरण पहुँचा दी। मुझे कुछ तसल्ली मिली। सो करीब एक महीने के बाद मैं अब्दुल चाचा के साथ कर्णनगर के लिए चल दिया। मेरे पास थैला तो क्या, फूटी कौड़ी भी नहीं थी। चाचा ने ही सारा जुगाड़ किया। सो जुमे की नमाज़ अदा करके शाम में हम दोनों धक्का-मुक्की, तू-तू, मैं-मैं और चिल्लपों के बीच किसी तरह रेलगाड़ी के चालू डिब्बे में घुस गए। गाड़ी में चढ़ना दुश्मन से जंग जीतने के माफ़िक था। जब गाड़ी करवट बदलकर चल दी, तो जो लोग हमारे चढ़ने पर गरम होकर एतराज कर रहे थे, वे थोड़ा नरम हो गए। शायद उन्होंने सोचा कि लम्बे सफ़र भर साथ रहना है, तो थोड़ा गम करना ठीक रहेगा। जब अपने स्टेशन पर हम लोग ट्रेन पर चढ़े, उस समय मुसाफ़िरों और उन्हें पहुँचाने वाले लोगों की भीड़ में सरसों डालने की भी जगह नहीं थी। आगे भी पूरे सफ़र में वही हाल रहा। प्रायः हर स्टेशन पर नए मुसाफ़िर चढ़ जाते और उनके भार से गरुवाती गाड़ी रेंगने लगती। चालू डिब्बे में कभी उकड़ूँ बैठे, कभी खड़े होकर और कभी किसी के पाँवों तले दबकर हम सफ़र करते रहे। रास्ते में हम मुफ़्त में जितने धक्के खाये, उतनी गालियाँ भी। यह रेल का सफ़र मेरे लिए रोज़ा रखने और हज करने से कम नहीं था। मगर अब्दुल चाचा इसके अभ्यस्त और अभिशप्त हो गए थे। वह इसे इत्मीनान से ले रहे थे। उनका मानना था कि अपने गाँव-घर से बाहर जाने पर सुख-चैन की आशा नहीं करनी चाहिए। यदि कोई ऐसी आशा करेगा, तो निराश होगा। वह बार-बार मुझे

समझाते, “बेटा! अपनी ज़रूरतें कम करो। अपने को थोड़े में समेटो। ताते पाँव पसारिये, जाती लाम्बी सौर। फिर न कोई दिक्कत होगी और न कुछ अफ़सोस।” मगर उनकी यह तकरीर मेरे गले उस समय नहीं उतरी। मैंने सिर्फ़ इतना ही समझा कि गाँधीजी अभी मरे नहीं हैं।

ख़ैर... दो दिन बाद हम कर्णनगर रेलवे स्टेशन पहुँचे। अब्दुल चाचा रेलवे स्टेशन से करीब पन्द्रह किलोमीटर दूर रहते थे। मगर उस दूरी को कमतर मानते हुए पन्द्रह किलोमीटर को वह महज़ पाँच कोस कहते। कभी-कभी वह कहते “विदेशियों ने दूरी का माप बदल दिया और जो सिर्फ़ एक कोस था, उसे तीन किलोमीटर कर दिया। अगर स्टेशन से थूँकूँ, तो वह राजनगर बस्ती में गिरेगा।” यह कहते-कहते उनके टूटे-फूटे दाँतों के दर्शन होने लगते। वहाँ से राजपुर ‘चाली’ तक का सरकारी बस का किराया दस रुपये था। आँटो रिक्शा का किराया पन्द्रह रुपये था। इसलिए उन्होंने मन-ही-मन गणित लगाया कि अगर ‘छकड़ा’ में बैठे, तो दस रुपये में हम दोनों राजपुर पहुँच जाएँगे। स्टेशन से दो सौ गज की दूरी पर स्थित अपनी गठरी-मोटरी लिए हम लोग छकड़ा स्टैंड पहुँचे। अब्दुल चाचा ने बताया ‘छकड़ा’ खरीदना आँटो रिक्शा से सस्ता पड़ता है। इसका किराया कम होने के कारण तकलीफ़ सहकर भी गरीब लोग इसी में सफ़र करते हैं। छकड़े की सवारी हमारे सूबे की तरफ़ नहीं है। मैंने देखा कि उसका आगे का हिस्सा मोटर साइकिल की तरह था—हैंडिल, पेट्रोल टंकी वगैरह। लेकिन पिछला हिस्सा सामान लादने वाले खुले आँटो रिक्शा की तरह था जिसमें लोहे की पटरी सीट का काम करती थी और उसके ऊपर कोई मुलायम रबड़, जूट या रूई की गद्दी नहीं थी। मगर चारों कोनों पर और ऊपर की ओर हाथ से पकड़ने के लिए रॉड लगे थे। ऊपर की ओर अन्तहीन खुले आसमान की छत थी जिससे मुसाफ़िरों को धूप और बारिश का खुले आम मुकाबला करना पड़ता था।

जो भी हो, छकड़ा देखना मेरा नया अनुभव था। सो मैं उस में बैठकर काफ़ी खुश था। मैं इसलिए भी खुश था कि उसमें रेलगाड़ी की तरह धक्का-मुक्की नहीं थी। चूँकि वह डीजल से चलता था, इसलिए उसमें धुआँ और आवाज़ अधिक थी। अब्दुल चाचा ने बताया कि हालाँकि उसमें बैठने की इजाजत छः लोगों की है मगर ड्राइवर लोग उसमें बारह-चौदह सवारियों को बैठाते हैं। भाड़ा कम होने के कारण मजदूर जमात के लोग उसमें ज़्यादा बैठते हैं। हम लोगों के साथ भी दस

लोग बैठे थे। इसका बाँकापन मुझे खूब अच्छा लगा भले ही वह ज्यादा प्रदूषण फैला रहा था। मैंने सोचा जिसकी जैसी औकात होती है, वह वैसी ही मोटरगाड़ी में सफ़र करता है। इधर भी कुछ लोग बसों और जीपों की छतों पर बैठे थे, हम लोगों के इलाक़े में भी जो कम किराया देते हैं या जिन्हें अपनी ज़िन्दगी की परवाह नहीं होती, इसी तरह सफ़र किया करते हैं। ऐसा जाना-पहचाना दृश्य जल्दी ही याददाश्त में सामने आ गया। इसलिए मुझे तसल्ली हुई कि क़ानून तोड़ने वाले सब जगह हैं और दुनिया मिला-जुलाकर सचमुच गोल है। और हमारा महान भारत तो निश्चित रूप से एक है।

ख़ैर... हम लोग राजपुर स्टैंड पर उतरकर पैदल चलकर थोड़ी देर में शाहपुरा बस्ती में अब्दुल चाचा के क्वार्टर पर पहुँच गए। चाचा ने एक जंग लगे ताले में अपनी चाबी लगायी और दरवाज़ा खोला। अन्दर से धूलभरी गैस का भभका निकला। टिन के पतरों, बाँस और बरसाती से बने क्वार्टर में अकूत जाला लगा था। मुझे लगा कि शायद ऐसा ही जाला मेरे भीतर भी है और सारी दुनिया तो जाला ही है। बाहर की गली से निरन्तर निकल रही बदबू मेरे नथुनों में भर गयी। बगल में कूड़े का ढेर गँजा था, जिसमें कई सुअर कुछ खाने की चीज़ें पूरे दमखम से खोज रहे थे। चाचा को उसी छः फीट लम्बे और पाँच फीट चौड़े कमरे में खाना बनाना, उसी में नहाना, उसी में बर्तन और कपड़े धोने पड़ते थे। उसी में राशन-पानी रखना और उसी में सोना पड़ता था। झोंपड़ी की बेतरतीबी और गन्दगी से मेरा दिल बैठ गया। मगर कोई चारा नहीं था। सो भीतर-ही-भीतर घुटकर, मैंने चाचा के साथ मिलकर उस क्वार्टर की सफाई की। बारी-बारी से हम दोनों ने नहाया-धोया। फिर हम दोनों खिचड़ी बनाकर भरपेट खाए। तब दोनों दिनों की थकावट और जागने के बाद आराम करने की बारी आयी। यहाँ भी एक समस्या उठ खड़ी हुई। इस घर में एक भी खाट नहीं थी। अब्दुल चाचा ने फटाफट यह तय किया कि ज़मीन पर बिछे टाट-पट्टी और कथरी पर लेटने पर जिधर अब्दुल चाचा का पैर हो, उधर मेरा सिरहाना रहे जिससे दोनों को लेटने में कुछ सहूलियत हो। ऐसा ही किया गया। अब्दुल चाचा ने बार्थी करवट ली और दस मिनट में वह खरिटे भरने लगे। मुझे अपने गाँव में सुनी हुई यह कहावत फौरन याद आयी, “नींद न जाने टूटी खाट। भूख न जाने सूखा भात।” यहाँ तो टूटी खाट भी नसीब नहीं थीं।

मगर मेरी आँखों में नींद कहाँ? मैं ऊपर बनी छत में लगी बाँस की बल्लियाँ गिनने लगा। तभी मेरे मुँह, आँख और सिर पर घुन की धूल भक् से

गिरी और मैं अचकचाकर उठ बैठा। मैं अपना शरीर झाड़ने लगा मगर घुन की धूल साफ़ होने की बजाय बढ़ती जा रही थी। यह क्या? मेरे सिर से अकूत घुन की धूल निकल रही थी। फिर आँख, कान, नाक और मुँह से भी धूल निकलने लगी मानो देह के भीतर तक घुन की सुरंग चली गयी हो। फिर हाथ, पैर, छाती, पेट से भी घुन की धूल निकली। मेरा पूरा शरीर और दिमाग़ घुन का भीटा बनता गया। इस समय मेरी बेचैनी देखने लायक थी। पर देखे कौन? चाचा की झोंपड़ी में आईना भी नहीं था। मगर हाथ कंगन को आरसी क्या? अब्दुल चाचा तो मानो घोड़ा बेचकर सो रहे थे।

क़रीब एक घंटे बाद अब्दुल चाचा उठे और गहरी नींद के लिए उन्होंने खुदा को शुक्र अदा किया। उनके लिए ‘जागो हुआ सवेरा’ था मगर मेरे लिए अभी सवेरा नहीं हुआ था— अँधेरा-ही-अँधेरा चारों ओर था। मैंने घुन के बारे में चाचा को बताना चाहा मगर उनके शरीर पर गिरे किलो भर घुन को देखकर और उस पर उनकी कोई ख़ास प्रतिक्रिया न सुनकर मैंने यह प्रसंग शुरू ही नहीं किया। मैंने साचा यह बेअदबी होगी— दान की बछिया के दाँत नहीं देखे जाते। वे घुन को बहुत हल्के से ले रहे थे जैसे कोई बच्चा माटी में खेलने में मजा लेता है। मुझे अपने दोस्त श्रीराम शर्मा के पिता की याद आने लगी। वह एक पौराणिक कथा सुनाया करते थे। मैंने उसे चाचा को सुना दिया— पुराने जमाने में एक राजा था। उसका राजपाट बहुत बड़ा था। धन-दौलत और परिवार से वह बड़ा आदमी था। मगर एक बार यमराज उसका प्राण हरने पहुँचे, तो उसकी पत्नी और बच्चों ने बहुत चिरौरी की। मगर यमराज ने बताया कि राजा को मरकर सुअर की योनि में पुनः जन्म लेना है। उनकी पत्नी और बच्चों ने विनती की कि सुअर की ज़िन्दगी से राजा को जल्दी निजात पाने का कोई उपाय बताएँ, महाराज! इस पर यमराज ने कहा, “एक ही शर्त है। राजा के सुअर के रूप में जन्म पाने के बाद उसे मार दिया जाए। सुअर के मरने के बाद राजा को पुनः मनुष्य की योनि मिल जाएगी। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।” बड़े राजकुमार ने यमराज से प्रार्थना की, “उस समय आप मुझे इशारे से बता देने की कृपा करेंगे कि किस सुअर के रूप में मेरे पिताजी हैं, मैं उनके उद्धार के लिए उन्हें तीर से मार दूँगा और तब उन्हें नया जन्म मिल जाएगा।” यमराज ने राजा से इस बावत पूछा, राजा ने इस युक्ति पर सहमति दे दी। कुछ क्षणों के बाद राजा का देहान्त हो गया। फिर कुछ समय

बीत जाने पर यमराज ने राजकुमार को इशारे से बताया, “वह सुअर जो इस समय गन्दी नाली में बार-बार लोट रहा है, वही आपके पिता हैं।” राजकुमार ने सुअर पर जैसे ही तीर का निशाना साधा, वह अकबका गया। उसने यमराज से प्रार्थना की, “महाराज! मुझे मरने से बचा लीजिए। मुझे इस योनि में ही सच्चा सुख मिल रहा है।” तभी यमराज ने राजकुमार को उन पर तीर चलाने से मना कर दिया। इस कहानी को सुन लेने के बाद चाचा यह कहना नहीं भूले कि जो जिस माहौल में रहता है, वही उसे अच्छा लगने लगता है हालाँकि वह उसे बदलना और बेहतर बनाना चाहता है। अब्दुल चाचा अपनी असली ज़िन्दगी कुछ इसी तरह जी रहे थे। वह बड़े जीवट के व्यक्ति थे।

ख़ैर... अब्दुल चाचा ने चाय बनायी और चाय पीने से हम दोनों के शरीर में कुछ गरमाहट आयी। हाथों की मुट्ठियाँ अपने आप बँध गयीं। फिर चाचा मुझे लेकर अपने कारख़ाने के लिए चल पड़े। क़रीब चार-पाँच किलोमीटर पैदल चलकर वह अपने कारख़ाने पर पहुँचे। चाचा अपना पास दिखाकर कारख़ाने के अन्दर घुस गए। उनके लौट आने तक बाहर ही रह कर मुझे उनका इन्तज़ार करना था। दोपहर के डेढ़ बजे जब सायरन बजने पर लंच की छुट्टी हुई, तो चाचा बाहर निकले। उन्होंने कहा, “मुबारक हो, रजाक! अल्लाह ने चाहा, तो तुम्हारा काम हो जाएगा। साहब ने तुम्हारे कागज़ात को रखते हुए दो-चार दिन में खुशख़बरी देने को कहा है।” एक बार मुझे अपने कानों पर यकीन ही नहीं हुआ। जिस आदमी ने नौकरी के लिए पचासों दफ़े दरखास्त भेजी हो और कहीं से भी कोई खुशख़बरी नहीं मिली हो, उसे ‘चट मँगनी पट ब्याह’ पर यकीन कैसे होगा? आधे घंटे तक इस खुशख़बरी को सुनकर मैं मन-ही-मन झूमता रहा। मैं तरह-तरह के सपने देखता रहा। मुझे लगा कि मैं उड़ रहा हूँ नीले आकाश में। मैं सुपरसोनिक विमान बन गया हूँ। मगर जैसे ही कारख़ाने का सायरन फिर बजा मैं ज़मीन पर आ गया। चाचा फिर कारख़ाने के भीतर काम करने चले गए। मैं इतना आशावादी बन गया कि मुझे लगा कि हो सकता है दयालु साहब आज ही कोई काम मुझे दे दें। सो मैं आसमान से फूल झरने का इन्तज़ार बेसब्री से करने लगा। जब शाम के छः बजे चाचा कारख़ाने से बाहर निकले, तो मैं उनके साथ-साथ ‘चाली’ के लिए वापस चल पड़ा। वापस लौटते समय मेरे कदम जल्दी-जल्दी आगे बढ़ रहे थे। सुख की परछाई भी मनुष्य का हौसला बढ़ा देती है। चाली पहुँचने पर हमने पाया कि

बच्चों का झुंड, सुअरों का झुंड और मुर्गों का झुंड शोर मचाने में मशगूल है। मैंने चाचा से कहा, “इस माहौल में कैसे रहते हैं आप लोग?” चाचा ने कहा, “परिस्थितियाँ ज़िन्दगी जीने के नए तरीके सिखा देती हैं। जो सीख लेता है, वह धीरे-धीरे आगे बढ़ जाता है और फिर उनमें बदलाव लाता है। जो नहीं सीख पाता, वह ज़िन्दगी से भागने की कोशिश में तन-मन से पूरी तरह टूट जाता है।” और मैंने जीने के नये तरीके सीखने का फैसला झटपट ले लिया। फिर मैं चाचा के साथ कमरा साफ करने और खाना बनाने में जुट गया। जिस कारखाने में मुझे काम मिलने वाला था, उसकी बावत पहली दफा मैंने चाचा से पूछा। वह पल भर कुछ सोचने लगे। फिर चाचा काम करते जाते और अपने कारखाने के मालिक के बारे में मुझे बताते जाते। उस कारखाने में प्लास्टिक की बाल्टी, जग, मग, प्लेट, कनस्तर, पानी का टब वगैरह बनते थे। चाचा ने बीस साल के दौरान कई कारखानों में नौकरी की थी और तरह-तरह के मालिकों के साथ काम करने का खट्टा-मीठा अनुभव उन्हें हासिल हुआ था। उनके बार में वह तफ़्सील से बताते रहे। इस बीच प्रसंगवश मैं पूछ बैठा, “मालिक लोग खूँखार होते हैं क्या?”

“देखो, रजाक! इस दुनिया में, दुनिया का मालिक एक ही होता है— खुदा! और खुदा तो खूँखार हो ही नहीं सकता। हाँ आम इन्सान की ज़िन्दगी में तीन तरह के मालिक होते हैं। पहला, रोजी-रोटी देने वाला, पेट का मालिक। दूसरा, किराये पर ठाकाना देने वाला मकान मालिक और तीसरा, आत्मा की देख-रेख के लिए ऊपर वाला मालिक। मगर ऊपरवाले से रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में वास्ता नहीं पड़ता। पहले और दूसरे मालिकों में शायद ही कोई अच्छे होते हैं। जो मजदूरों का हक मारे, उससे क्या डरना? जो काम को इबादत समझे और निजी फायदे के लिए कोई ग़लत काम न करे, उसे न नीचे वाले से डरने की ज़रूरत है और न ऊपर वाले से।” चाचा ने अपना तपा-तपाया तजुर्बा बताया। मुझे लगा कि चाचा की खोपड़ी कोल्हू में पड़े गये तेल को सोखकर अच्छी तरह पकी हुई है। खैर... रोटी-चोखा बनाकर और खा-पीकर हम लोग सो गए।

अगले दिन जब मैं सुबह उठा, तो अपने को तरोताज़ा महसूस कर रहा था। पिछली रात वाली ऊब और निराशा गायब हो चुकी थी। सफाई करके, नहा-धोकर और खा-पीकर चाचा ड्यूटी पर चले गए। मैं सारा दिन बस्ती से लेकर चौराहे तक यूँ ही घूमता-फिरता रहा। मैंने देखा कि उस चाली

में कई सूबों के लोग घुलमिलकर रहते हैं। गरीबी और तंगी में भी हँसना उन्होंने अच्छी तरह सीख लिया है। मैं चौराहे पर बने छकड़ा स्टैंड पर खड़ा होकर जब यह सोच रहा था, उसी समय रेडियो पर ख़बर आयी कि महिषासुर में खड़ी रेल के एक डिब्बे में आग लगने से 60 लोग मारे गए हैं। मरनेवाले बनारस से तीर्थाटन करके लौट रहे थे। यह भी सुना कि मुसाफिरों और आसपास के दंगाई लोगों के बीच खूब मार-पीट हुई और उन्होंने स्टेशन को जला दिया। पुलिस के पहुँचने के बाद ही स्थिति पर काबू पाया गया। मेरा मन कैसे-कैसे होने लगा। मुझे मचली होने लगी। मैं सीधे भागकर कमरे पर गया। कमरे का ताला खोलकर मैं अन्दर घुसा और डर के मारे अन्दर से ताला बन्द कर लिया खुदा न खास्ता हालत बिगड़ जाएँ। चाचा के बाहर होने की सोचकर मेरा दिल घबराने लगा। सोच-सोचकर मैं इतना शंकित हो गया कि चाचा के लिए खुदा से दुआ करने लगा। मुझे दूसरों से मालूम हुआ कि जब वह कारखाने के पास पहुँचे, तो सायरन बज उठा। मगर अभी पाली शुरू होने में 15 मिनट बाकी थे। वह आसपास घूम-घूमकर पार्क का नज़ारा देखने लगे। तभी किसी ने उन्हें बताया कि ‘धमाल’ हो गया है। उनका माथा चकराया। देखते-ही-देखते भगदड़ मच गयी। अब्दुल चाचा बूढ़े आदमी थे, सो वह तेज़ दौड़ कर नहीं भाग सके। तभी दहाड़ते हुए नौजवानों का एक जत्था वहाँ आ धमका। उनके हाथों में बड़े-बड़े घातक औज़ार थे। वे चीख रहे थे, “महिषापुर का बदला लेंगे, एक हिन्दू पर दस-दस लेंगे।” अब्दुल चाचा को उस हरकत का कारण समझ में नहीं आया। मगर हवाओं का तूफानी और जहरीला रुख पहचानकर वह कारखाने के गेट पर बने सिक्वोरिटी गार्ड वाले कमरे में घुस गए। वह जत्था आगे बढ़ता गया और सरकारी गाड़ियों को जलाता गया। अब्दुल चाचा ने खुदा का मन-ही-मन शुक्रिया अदा किया और जत्थे के चले जाने पर चैन की साँस ली। मगर अभी चैन कहाँ? सैकड़ों लोग जुलूस की शक्ल में आते हुए फिर दिखायी पड़े यह भीड़ खूँखार जानवरों में तब्दील हो गयी थी। उसने मुसलमान का कारखाना कहते हुए कारखाने में आग लगा दी। देखते-ही-देखते प्लास्टिक का यह कारखाना आग की लपटों में तब्दील हो गया और पूरा माहौल बदबू और धुएँ से भर गया। अब्दुल चाचा के साथ छिपे क़रीब दो दर्जन कामगार कारखाने से बाहर भागे, मगर भीड़ ने दिल और दिमाग को अपने आकाओं के पास गिरवी रख

दिया था। उस भीड़ ने वहाँ जान बचाकर छुपे दो दर्जन लोगों को एक-एक कर कारखाने के अग्नि-कुंड में झोंक दिया। वे मजदूर ‘बचाओ-बचाओ’ कहकर चिल्लाने लगे। पच्चीस लाख की आबादी वाले कर्णनगर में कहीं से कोई बचाने वाला नहीं आया और कोई भी इस जघन्य कृत्य को रोकने के लिए सामने नहीं आया। पुलिस तो खुदा की तरह अदृश्य हो गयी। आसमान का चेहरा बिल्कुल काला पड़ गया। लँगूर की तरह। बड़े-बड़े जुलूमों के दौरान होने वाली आकाशवाणी भी तब नहीं हुई। धीरे-धीरे जंगल की आग की तरह वह महानगर के चारों ओर फैल गयी। कारखाने से क़रीब पाँच सौ मीटर की दूरी पर पुलिस थाना स्थित था मगर थाने में कोई नहीं आया। थाना इन्चार्ज इन्स्पेक्टर मोदक की बेटी की शादी में कारखाना मालिक ने दो तोले की जंजीर तोहफे में दी थी। मगर वही मोदक वह कारखाना बचाने नहीं गया। उल्टे वह और उसके सहकर्मी धमाल करने वालों को पीछे से उकसाते रहे। पुलिस की शह पर कर्णनगर दंगाइयों के कब्जे में होकर एक ‘प्रयोगशाला’ बना दिया गया। मोदक तो उस दिन शैतान ही बन गया था। वह धमाल करनेवालों को उत्साहित करता था मानो भारत-पाक युद्ध हो रहा हो। हर मुस्लिम बस्ती को छोटे-छोटे पाकिस्तान की संज्ञा दी जा रही थी। मुस्लिम बस्ती में चारों ओर से घिरे लोगों को वह बाहर भागने भी नहीं देता था। इधर कुआँ, उधर खाई वाली कहावत सिद्ध हो रही थी।

जैसा कि मुझे अपने पड़ोसियों से जानकारी मिली ऐसा अपने देश के इतिहास में पहली बार हो रहा था जब धमाल के समय मुसलमान अधिकारियों को छुट्टी दे दी गयी। दरअसल सूबे की सरकार ने यह अलिखित आदेश दे दिया था कि अपनी सुरक्षा के लिए पुलिस-प्रशासन के मुस्लिम अधिकारी-कर्मचारी छुट्टी पर चले जाएँ। खुदा पुलिस कमिश्नर सत्ता के डर से या किसी बड़े लालच में हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहे जबकि पूरा शहर धमाल की आग में धूँ-धूँ जल रहा था जिस पर तवा रखकर सत्ताधारी दल बेफिक्र रोटियाँ सेंक रहा था इन्सान को ईंधन की तरह इस्तेमाल करने पर जो रोटियाँ बन रही थीं, वे उसे देसी पिज्जा की मानिन्द जायकेदार लग रही थीं। इस मेहनत, सफाई और हुनर के आगे पाँच सितारा होटलों के चैफ़ झूठ मारें। उनके आगे नीरो भी झूठ मारे। वर्दी पर खून के छँटे बार-बार पड़ रहे थे मगर वे उसे बदलते या छुपाते जा रहे थे। टिनोपाल या उजाला से वर्दी की झक़ धुलाई कराना सरकार के जिम्मे था और सरकार अपनी जिम्मेदारी

से मुँह नहीं मोड़ रही थी। बाद में यह भी खुलासा हुआ कि तूफान मचानेवाले अधिकतर लोग भाड़े के थे। दूर-दूर के गाँवों से भाड़े पर दंगाई लाए गए थे। एक आदमी को जान से मारने के लिए एक हजार रुपए उन्हें इनाम में दिए जाते थे। एक घर-बार जलाने के लिए डेढ़ हजार रुपए और एक होटल, दुकान, कारखाना जलाने के लिए दो हजार रुपए दिए जाते थे। आदमी की जान सबसे सस्ती होने का ऐलान था। बाम्बे स्टॉक एक्सचेंज में सेंसेक्स तेजी से बढ़ने लगा। कई अर्थशास्त्री और पत्रकार इसे विकास का नया पैमाना कह रहे थे। दलाल स्ट्रीट पर धमाल के शेर खूब बिक रहे थे। दस रुपए का शेर पाँच सौ में बिक रहा था। जुआ खेलने वाले सट्टा लगा रहे थे कि अगले चुनाव में सत्ताधारी दल कितने बहुमत से जीतेगा। जब अल्पमत रूपी बाँस रहेगा ही नहीं, तो विरोध की बाँसुरी कैसे बजेगी?

मिल्लत और भाईचारे का भाव एकदम नीचे गिर गया। कोई इसका पुछतर नहीं था। मुफ्त में भी कोई नहीं ले रहा था इन्हें। एक तो ढोने का चक्कर, दूसरे रखने की जगह नहीं। सारे कुएँ और कूड़ेदान पहले ही लाशों से भर गए थे और नगर निगम नरक निगम बन गया था। उसकी गाड़ियाँ लावारिस लाशों को ढोने में परेशान थीं। इन्सानों के साथ-साथ कौमी एकता की ऐतिहासिक मिसालें जैसे पीर बाबाओं की मजारें और मशहूर शायरों की दरगाहें भी पूरी तरह मटियामेट कर दी गयीं जिससे हिन्दू-मुस्लिम अपनी साझी विरासत भूल जाएँ। वहाँ गिट्टी और कोलतार को खून में सानकर पक्की और चिकनी सड़क बना दी गयी जिस पर दिन-रात मोटरगाड़ियाँ धक्-धक् करती सरपट दौड़ती रहती हैं। फिर पाँच सौ वर्ष पुरानी मस्जिद भी ढहा दी गयी जिससे इतिहास का नामोनिशान मिट जाए। फिर घरों-होटलों-कारखानों-दुकानों के रूप में उन्होंने वर्तमान को भी मिटा दिया।

मगर तूफान मचानेवालों ने भविष्य को भी नहीं बख्शा। उनमें दूरदृष्टि और पक्का इरादा था। अबोध नन्हें-नन्हें बच्चों को त्रिशूलों पर रखकर नचा दिया गया। माँ की कोख में पल रहे भ्रूणों को भी उन्होंने साग बना दिया। हे मालिक, तुम्हारे रहते हए भी पहली बार भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ मिटाने की उनकी मनौती इतनी आसानी से पूरी की गयी।

जब कल्ले-आम का यज्ञ पूरा हो गया, तो पुलिस आयुक्त द्वारा इत्मीनान से शहर में कर्फ्यू लगा दिया गया। पाँच दिनों तक अब्दुल चाचा का कोई पता नहीं चला। कर्फ्यू में छठवें दिन चार घंटे की ढील दी गयी, तो मैं अब्दुल चाचा की खोज में

उनके कारखाने पर चला गया। कारखाने की ऊँची भव्य इमारत मलबे के ढेर में तब्दील हो गयी थी। मुझे अचानक ऐसा लगा कि इसी में मेरा भविष्य गड़ा है। मैं वहाँ कुछ देर तक बेसुध खड़ा रहा। कई लोग आए और उन्होंने गार्ड से पूछताछ की। मैंने भी अब्दुल चाचा के बारे में पूछा। उसने बताया कि अब्दुल चाचा का आधा शरीर जल गया था। उन्हें एक सदर अस्पताल में किसी ने भर्ती करा दिया था। मैं हाँफता हुआ भागा मगर मेरे पास अस्पताल का पता नहीं था, सो मैं चाचा को न खोज सका और चार घंटे की ढील का समय अचानक खत्म हो गया। मैं अब कहाँ भी नहीं जा सकता था। उसी अस्पताल के एक कोने में बेहाल मरीज-सा मैं रात भर कराहता पड़ा रहा। मुझे लगा कि बीमारी सिर्फ किसी अन्दरूनी रोग के कारण ही नहीं, डर से भी पैदा होती है।

अब्दुल चाचा को खोजते-खोजते मैं परेशान हो गया। दिन और दिल की गर्मी और रोशनी गायब हो गयी। उनके साथ काम करने वाले किसुन चाचा के यहाँ मैं गया तजो चाचा की बस्ती से दस किलोमीटर दूर मानपुरा में रहते थे। मैं वहाँ पैदल ही गया क्योंकि मेरे पास किराये के पैसे नहीं थे और मुझे कोई उधार देने वाला भी नहीं था। अभी तक कोई परिचय नहीं हुआ था किसुन चाचा को छोड़कर। मैंने चाचा के बारे में उनसे दरयाफ्त की। वे खुद चाचा को तलाशने में कई दिनों से परेशान थे। मुझमें और पैदल चलने की हिम्मत नहीं रह गयी थी। पहुँचने पर कुछ क्षणों के लिए सन्नाटा छा गया। थोड़ी देर बाद चाची दो प्याली चाय लेकर आयीं। मैं भूख-प्यास से बिलबिला रहा था सो मैंने बिना कुछ देखे एक घूँट चाय पी मगर फौरन मुँह बिचका कर कहा, “इसमें चीनी नहीं?”

“मजबूरी का नाम महात्मा होता है। मैं पहले खालिस दूध और ज्यादा चीनी की चाय पसन्द करता था। मगर परिस्थितियाँ नयी आदतें सिखा देती हैं। अब मैं बिना दूध और चीनी की चाय पीता हूँ। दूध की जगह पानी और चीनी की जगह नमक का इस्तेमाल करके चाय पीने की औपचारिकता पूरी करता हूँ।” किसुन चाचा ने माथे पर हाथ रखकर धीमी आवाज़ में कहा। फिर उन्होंने बताया कि कारखाना जल जाने के बाद वह बोरे ढोने का काम करते हैं। कारखाने से तनख्वाह मिली नहीं थी और गरीबों को जल्दी कोई उधार नहीं देता। लाख कोशिश के बावजूद अब्दुल चाचा का पता नहीं चल पाया। उनके बिना इस अनाथ को पूछने वाला कौन है? फिर मैं अपने बारे में सोचने लगता हूँ। आखिर मेरा कोई जरिया नहीं है। क्या मैं गल्ला मंडी में अपनी

पीठ पर बोरे ढो सकता हूँ? मेरी सेहत इतना वजन उठाने की इजाजत ही नहीं देती। घर-परिवार को खर्चा भेजना होगा और अपनी खुराकी भी चलानी होगी। मैं साबुन-तेल लगाना बन्द कर दूँगा। मैं तेल-मसाला खाना बन्द कर दूँगा। सुबह और दोपहर का खाना बन्द कर दूँगा। मैं दाल खाना बन्द कर दूँगा। मैं सब्जी खाना बन्द कर दूँगा। मैं भात खाना बन्द कर दूँगा। मैं रोटी खाना बन्द कर दूँगा। अचानक मेरे दिमाग में कौंधा कि रोटी नहीं खाऊँगा, तो क्या खाऊँगा? सिर्फ हवा? सिर्फ पानी? सिर्फ धूप? रोज़ा रखने की अपनी आदत पुरानी है। कुछ दिन मैं उपवास रखूँगा। आखिर गाँधी बाबा भी उपवास करते थे। मगर कब तक? दिन भर रोज़ा रखने से पहले अहले सुबह सहरी मिला करती थी और शाम को रोज़ा खोलने पर जायकेदार खाना। मगर लगातार कितने महीने तक मैं बिना खाये-पिये जिऊँगा? क्या? नहीं जी पाऊँगा? क्या खुदा मदद नहीं करेगा? यह सोचते-सोचते मैं बड़बड़ाने लगा और कुर्सी से नीचे लुढ़कने लगा। तभी किसुन चाचा ने मुझे सम्भालते हुए पूछा, “कहाँ खो गये हो, रजाक?” सचमुच मैं खो गया था। फिर किसुन चाचा से अब्दुल चाचा के बारे में मैं पूछने लगा, “और कहाँ गुंजाइश हो सकती है उनके मिलने की?” किसुन चाचा से भी नहीं रहा गया। वह मेरे साथ सदर अस्पताल तक गए। वहाँ लाशों का अम्बार लगा था। डोम लोग नाक-मुँह पर पट्टी बाँधे लाशों को सफेद कफन में लपेट रहे थे। वे लाशें मुस्कराने लगीं। हमें देर तक खड़े देखकर एक लाश ने मुझे इशारे से बुलाया और कहा, “आ जाओ हम लोगों के पास। क्यों परेशान हो रहे हो? तुम्हारी दुनिया में जाति-धर्म का चक्कर है मगर हमारी दुनिया में सब बराबर हैं। हम एक-दूसरे से नफरत नहीं करते। अपनी नापाक दुनिया में रहोगे, तो कभी भी मारे जा सकते हो। तुम्हारे दामन पर दाग नहीं होंगे, तो और जल्दी मारे जाओगे। ज़मीन के ऊपर की दुनिया से बेहतर है ज़मीन के नीचे की दुनिया। हमारी दुनिया में बेरोजगारी और भुखमरी भी नहीं है। हम सबको तुम्हारी दुनिया की चौकीदारी का काम मिला है। हम हिसाब लगाते रहते हैं कि तुम्हारी दुनिया में कब कौन किसको लंगी मार रहा है।”

अचानक मुझे लगा कि अगली बारी मेरी है। मैं काँपने लगा। किसुन चाचा ने मेरा हाथ थाम लिया। बड़ी चिरौरी-विनती करने पर दो घंटे में अब्दुल चाचा की लाश हमें मिल गयी। उनका बदन जल गया था मगर चेहरे की शिनाख्त आखिर में हम दोनों ने कर ली। फिर हम दोनों चाचा की लाश एक ठेले पर लादकर ले गए क़ब्रिस्तान तक। वहाँ भी लाशों का मेला लगा हुआ था। ऐसा

लगता था कि लार्शें नाच रही हैं। मगर जगह कम पड़ती लग रही थी। मैंने एक आदमी से फावड़ा माँगकर खुद ज़मीन में एक गड्ढा खोदा और चाचा को सुपुर्दे-खाक कर दिया। चाचा की रूह की शान्ति के लिए मैंने खड़े होकर कुरान शरीफ की कुछ आयतें पढ़ीं। चाचा पाँचों वक्रत की नमाज़ अदा करते थे, सो आयतें पढ़कर मुझे कुछ सुकून मिला। मैंने सोचा कि नेकदिल चाचा के साथ इस बेरुखी दुनिया ने सही सलूक नहीं किया था, कि चाचा ने किसी को हिन्दू-मुसलमान नहीं, सिर्फ एक इंसान समझा था। वहाँ से लौटकर मैं चाचा के क्वार्टर में आकर काफी देर तक बेसुध पड़ा रहा। मुझे रात भर नींद नहीं आयी। क्वार्टर के अन्दर अपने आप से, दीवारों से, बाँस की बल्लियों से और उनमें लगे घुन से मैं आहिस्ता-आहिस्ता बतियाता रहा। मगर थोड़ी देर में सूरज की रोने से सूजी हुई आँख दिखायी दी। तभी किसी ने किवाड़ पर जोर से धक्का मारा। ऐसा लगा मानो किसी ने मेरे पेट पर जोर से एक लात मारी हो। मैंने अपना पेट एक हाथ से दबाए हुए झटपट किवाड़ खोल दी।

पहले मैं बेरोजगार था, अब अनाथ भी हो गया था। किसी ने बाहर से जोर से आवाज़ दी, “अब्दुल भाई!” मैं बाहर निकला। उसने मुझसे पूछा कि अब्दुल भाई कहाँ हैं। मैंने डर और दुख के मिले-जुले भाव से कहा, “वह तो इस दुनिया से चले गए।”

“अच्छा हुआ! एक तो कम हुआ इस नरक में। मैं तो उसके मरने का इन्तज़ार कर रहा था।” वह तेज़ी से बोल गया।

“लेकिन ऐसा क्यों कह रहे हो आप? लोग-बाग तो दूसरों के जीने की दुआ करते हैं।” मैंने उसे धीरे से टोका।

“तू कौन है जो इतनी बकवास कर रहा है? उल्टा चोर कोतवाल को डाँट? किरायेदार हो, कोई नेक इन्सान नहीं।” उसने मुझे घुड़की दी।

“मैं उनका भतीजा हूँ।” मैंने लड़खड़ाती जुबान से कहा।

“इस क्वार्टर का किराया तीन महीने से बाक़ी है। लाओ दो बकाया किराया।” उसने अल्फाज़ के कोड़े से मुझे जोर से मारा।

“लेकिन मेरे पास पैसे बिल्कुल नहीं हैं।” मैं गिड़गिड़ाते लगा।

“मेरा नाम हकीम भाई रहीम भाई है। तू मुझे नहीं जानता?” कहते हुए उसने अपना आपा खो दिया और मुझे तथा चाचा को भद्दी-भद्दी गालियाँ देते हुए धमकी दी, “अबे, बहनचो! धमाल ने

मेरा रोजगार भी चौपट कर दिया है। घोड़ा घास से दोस्ती करेगा तो खाएगा क्या? अगर कल तक तुमने किराये के तीन सौ रुपये मुझे नहीं दिए, तो अब्दुल की तरह ही तुम्हारा भी हस हो जाएगा।” उसके जाने के बाद मैं बहुत ज़्यादा घबरा गया। फिर मैंने वहाँ से भागकर गाँव जाने का निर्णय लिया। मैंने अब्दुल चाचा के टिन के एक बक्से को खोलकर देखा। दो पुराने कपड़े, जवानी के दिनों की अब्दुल चाचा की एक पुरानी तस्वीर और एक नोटबुक मिला। नोटबुक में अब्दुल चाचा के तीस रुपये थे और खर्च के हिसाब लिखे थे। कुछ पन्नों पर उन्होंने शायरी भी लिखी थी। मैंने ये सब ले लिया। फिर भागते हुए राजपुर चौराहे पर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर मैंने राहत की साँस ली और सोचा कि जान बची तो लाखों पाए।

वहाँ कई छकड़े आए और स्टेशन-स्टेशन पुकारने लगे। फिर मुसाफिरों को चढ़ाये और चले गये। मैं उन्हें निहारता ही रहा। मेरी जेब में पाँच रुपये भी नहीं थे कि छकड़े में बैठकर स्टेशन चला जाऊँ। चाचा की नोट बुक में रखे तीस रुपये चाचा की अमानत थी। उसे खर्च करनेवाला मैं कौन हूँ? कोई चारा नहीं था। सो मैं पैदल ही स्टेशन के लिए चल दिया। स्टेशन पहुँचते-पहुँचते दोपहर हो गयी। मुझे काफी भूख लगी थी। चारों ओर छोटी-बड़ी दुकानें सामानों से भरी थीं। मगर मेरे पास न कोई खाने का सामान था, न सामान खरीदने के पैसे थे। मैंने स्टेशन पर ख़ूब पानी पिया। लेकिन कुछ न खाने से मेरे पेट में धक्का लगा। दर्द के कारण मैं प्लेटफॉर्म पर लेट गया। आधे घंटे के बाद मुझे कुछ आराम महसूस हुआ। मैं शुद्ध हवा लेने के लिए स्टेशन से बाहर आकर टहलने लगा। थोड़ी दूरी पर मुझे एक गुरुद्वारा दिखायी दिया। मैं वहाँ धीरे-धीरे टहलते हुए चला गया। संयोग से दोपहर का लंगर शुरू हो गया था। मैं हाथ-मुँह धोकर पाँत में खाने के लिए बैठ गया। वहाँ का खाना मुझे बहुत स्वादिष्ट लगा। काश! मुझे ऐसा खाना रोज़ मिलता। लम्बे अरसे के बाद मैंने छककर खाना खाया। ऐसा लगा कि मेरा पेट फट जाएगा। सो मैं गुरुद्वारा के हाते में ही लेट गया। मुझे नींद आ गयी, थोड़ी देर बाद मुझे किसी आदमी ने जगाया। मैं उठ बैठा। फिर नल से मैंने पानी पिया। मैंने सोचा कि उसी लंगर में मुफ्त खाना खाकर कुछ दिनों तक गुजारा किया जा सकता है। मगर सोएँगे कहाँ? फिर हकीम भाई रहीम यहाँ आसानी से आ सकता है। तब क्या होगा? फिर धमाल हो सकता है, तब क्या होगा?

कुछ देर तक टहलने के बाद मैं फिर स्टेशन

पर आ गया। थोड़ी देर बाद उत्तर भारत में मेरे इलाक़े की जाने वाली स्वराज एक्सप्रेस गाड़ी आ गयी। वह नाम मुझे अन्दर से मथने लगा। कहाँ है स्वराज? क्या मारने-काटने-जलाने की आज़ादी ही स्वराज है? क्या गाँधी बाबा का स्वराज का सपना यही था? मेरे पास टिकट खरीदने के पैसे नहीं थे। मैंने अभी तक बेटिकट सफर कभी नहीं किया था। मन ऊभ-चुभ कर रहा था। तभी रेलवे गार्ड ने सीटी बजा दी और रेलगाड़ी सरकने लगी। खुदा का नाम लेकर मैं भी एक चालू डिब्बे में चढ़ गया। डिब्बे में समूची दुनिया खचाखच भरी हुई थी। गाली-गलौज, मार-पीट, धक्का-मुक्की का माहौल था। हिन्दी की कई बोलियाँ आपस में लड़-झगड़ रही थीं अपने-अपने वजूद के लिए। कोई कारखाना जलने, कोई होटल लूटने, कोई घर तोड़ने और कोई परिवार के सदस्य को जान से मारे जाने की चर्चा कर रहा था। सबसे ज़्यादा दुर्दशा बच्चों, बूढ़ों और महिलाओं की थी। मगर इस भीड़ का एक फायदा यह हुआ कि कोई टी.टी. टिकट चेक करने के लिए उस डिब्बे में न घुस सका। मैं एक सीट के नीचे छिप कर और अपने को कछुए की तरह सिकोड़कर लेट गया था।

जब स्वराज एक्सप्रेस गाड़ी क़रीब बत्तीस घंटे बाद मुगल सराय रेलवे स्टेशन पहुँची, तो इस चालू डिब्बे के बहुत सारे मुसाफिर उतर गए। कुछ राहत की साँस लेकर मैं सीट के नीचे से धीरे-धीरे निकल कर बाहर आया। मुझे ताज़ा हवा से कुछ सुकून मिला। मगर हम शरीबों की ख़ुशी क्षण भर की ही होती है, ऐसा मुझे लगा। जैसे गीदड़ की मौत आने पर वह शहर की ओर भागता है, वैसे ही बेटिकट यात्री की मौत आने पर वह दरवाज़े के पास की सीट पर बैठता है। ज्यों ही गाड़ी खुली, एक टी.टी. उस डिब्बे में घुस गया। उसका काला कोट देखते ही मेरी पतलून ढीली हो गयी और थोड़ी देर में गीली भी हो गयी। उसके द्वारा टिकट की माँग करने पर मैंने अपना सिर नीचे झुका लिया। वह सिंह की तरह गरजता रहा। फिर मैंने उसे बताया कि रोजगार की तलाश में मैं अपने चाचा के साथ कर्णनगर गया था, वहीं उनकी मौत हो गयी और मैं उन्हें वहीं दफ़ना कर आ रहा हूँ। इस पर टी.टी. रावण की तरह ठठाकर हँसा और बोला, “तुम अच्छी कहानी गढ़ लेते हो। तुम्हारी कल्पनाशक्ति इतनी तेज़ है कि तुम एक अच्छे कहानीकार बन सकते हो। मगर क़ानून, क़ानून होता है। तीन सौ रुपए जुर्माना भरो, वरना एक हफ़्ते की जेल काटो।”

मेरे पास तीन सौ क्या, तीन रुपए भी नहीं थे।

सो अगले स्टेशन पर मुझे उतार कर टी.टी. और रेलवे पुलिस बल ने मेरे हाथों में हथकड़ी डालकर रेल थाने में बनी कानून की काली कोठरी में बन्द कर दिया। शाम में मजिस्ट्रेट ने मुझे जुर्माना न देने के कारण एक सप्ताह की कैद की सजा सुनायी। फिर मुझे जिला जेल में भेज दिया गया। वहाँ जाने पर शाम को खाना मिला। खाने की रोटी खिसक रही थी। मगर भूख की आग बर्दाश्त न होने के कारण मैं तीनों रोटियाँ खा गया। फिर भी मेरा पेट नहीं भरा। पास बैठे एक कैदी के घर से खाने का डिब्बा आया था, सो उसने जेल में मिली अपनी रोटी-सब्जी मेरे हवाले कर दी। मैंने सोचा- ऐसे ही बिल्ली की तकदीर से छींका टूटता है। किसी तरह मैंने वहाँ एक सप्ताह काटा। मुझे जेल अधीक्षक ने रविवार को मुक्त करते हुए कहा, “भविष्य में कभी बेटिकट सफर मत करना, वरना फिर इस काल कोठरी में आना पड़ेगा। जवान हो, कहीं कमाओ-खाओ। कानून को अपने हाथ में मत लो। कानून के हाथ आदमी के हाथ से ज्यादा लम्बे होते हैं।” मुझे यह सुनकर ऐसा लगा कि शैतान के नाखून भी मेरे हाथ से ज्यादा लम्बे हैं।

उसकी चीख मेरे कानों में देर तक गूँजती रही। फिर मैं पैदल चलते हुए शाम को अँधेरा होते-होते अपने गाँव पहुँचा। मुझे सबसे पहले अब्दुल चाचा के घर जाना था। मुझे देखते ही चाची ने चाचा का हाल-चाल और घर का खर्चा भेजने के बारे में पूछा। फिर मेरी नौकरी के बारे में तड़ातड़ पूछा। मैं बिल्कुल चुप था। न मेरे पास जबान थी और न अल्फाज। प्रिय पाठको, पूरा वाक्या बयान करने की मुझमें अब हिम्मत ही नहीं बची थी और जुमलों में सजा कर मनगढ़न्त कहानी कहने की कला अभी तक मैं सीख नहीं पाया था। जवाब न पाकर चाची मेरे और नजदीक आ गयीं और मेरी बाँहें पकड़कर मुझे झकझोरने लगीं। फिर मेरी चुप्पी की आवाज़ सुनने लगीं। तब मेरी धक्-धक् तेज़ हो गयी और थोड़ी चेतना लौट आयी। मैं आँसुओं की भाषा में उनसे सिर्फ इतना कह सका, “चाची! सब कुछ गुजरात हो गया।” और चाची दहाड़ मार कर रोने लगीं। मेरी आँखों के आँसू अब पूरी तरह सूख चुके थे। और सूख चुके थे इन्सानियत के नदी-नाले।

**डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के.पुरम,
सेक्टर-10, नयी दिल्ली- 110 022
फोन : 011-26162591**

नयी किताबें

आखेट ज्ञानप्रकाश विवेक

ज्ञानप्रकाश विवेक का ‘आखेट’ उपन्यास एक बेरोज़गार युवक चेतन के घर परिवार, जीवन-संघर्ष, महत्वाकांक्षा, सपने, प्रेम, दोस्ती, तनाव, अकेलापन तथा उपेक्षाओं से लड़ने और ताक़त हासिल करने की कथा है।

अम्बाला छावनी की जिस इंश्योरेंस कम्पनी में चेतन (रीजनल आफिस दिल्ली से) नियुक्ति पत्र लेकर जाता है, वहाँ का भ्रष्ट और ताक़तवर तन्त्र उसे आउटसाइडर की तरह उपेक्षित और प्रताड़ित करता है।

लेकिन चेतन... ऐसे तनावपूर्ण और ख़ौफ़ज़दा माहौल में भी जीवन राग को ढूँढ़ने का प्रयास करता रहता है।

कम्पनी की बाहरी भव्यता के पसःमंज़र संशय का वातावरण है। कार्यालय के शिखर पुरुष, कायर और भ्रष्ट हैं। वे खुद को बचाने तथा दूसरे को गिराने का खेल खेलते रहते हैं—
किसी आखेट की तरह।



पृष्ठ: 168, मूल्य :150 रु.

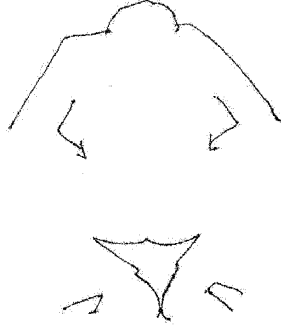
देश निकाला धीरेन्द्र अस्थाना



धीरेन्द्र अस्थाना का उपन्यास ‘देश निकाला’ एक ऐसे जीवन-संघर्ष का आख्यान है जिसमें सफलता और सार्थकता के बीच मारक प्रतियोगिता चल रही है। मुम्बई की फ़िल्मी दुनिया का यथार्थ शायद ही किसी अन्य रचना में ऐसी बहुव्यंजकता के साथ अभिव्यक्त हुआ होगा। गौतम सिन्हा और मल्लिका इस सपनीली दुनिया में साँस लेने वाले ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने-अपने व्यक्तित्व को परिभाषित करना चाहते हैं। पुरुष वर्चस्व का व्यामोह गौतम को मल्लिका से विलग करता है। मल्लिका प्रेम, आत्मीयता और अन्तरंग के लिए भौतिक उपलब्धियों को धूल की तरह झटक देती है। गौतम के साथ व्यतीत समर्पित अतीत बेटी चीनू के रूप में मल्लिका के साथ है—

‘यह दो स्त्रियों का ऐसा अरण्य था जिसमें परिन्दा भी पर नहीं मार सकता था।’ अन्तिम निष्पत्ति में धीरेन्द्र अस्थाना ‘देश निकाला’ को स्त्री के अस्मिता-विमर्श का रूपक बना देते हैं। सिने जगत की अनेक वास्तविकताओं से यह विमर्श पुष्ट होता है, श्रेया की उपकथा ऐसी ही एक त्रासद वास्तविकता है।

पृष्ठ: 124, मूल्य :120 रु.



पुराना आदमी तरसेम गुजराल

वीरों की छोटी बहन गुड्डी का विवाह नज़दीक था। गुड्डी की सास का, रिश्ता करवाने वाले के हाथ सन्देश आ गया कि काके को ब्रेसलेट बनवा कर दिया जाए। साथ ही यह सुझाव आया कि काका और गुड्डी अकेले लुधियाना के बाज़ार चले जाएँ। गुड्डी के सैंडिल वर पक्ष वाले उसी दिन खरीद पाएँगे। वीरों ने कहा, “गुड्डी की सास है बड़ी चालाक। मीठी-मीठी बातों में अपनी बात कर जाती है। उसको अच्छा-भला पता था कि काके का कड़ा पहले ही बन चुका है।”

नरिन्द्र चुप न रह सका। कहा, “यह तो सीधे-सीधे दहेज़ माँगने का मामला है। झाई जी को साफ़ मना कर देना चाहिए था। फालतू में लटटू हो रहे हैं।” वीरों अभी अपनी ही धुन में थी, “विवाह से पहले दोनों को अकेले घुमने-टहलने का मौक़ा तो मिलेगा। यहाँ तो इतनी-सी बात पर दारजी अड़ गये थे। जब अमृतसर जाने की बात उठी थी। कह दिया— विवाह से पहले लड़का-लड़की अकेले नहीं जाएँगे।” उसने दारजी के खँखारती आवाज़ में नक़ल उतारी।

दारजी की नक़ल उतारने से नरिन्द्र चिढ़ गया। बोला, “दारजी ने एक ही रुपया शगुन में लिया था। बाक़ी दहेज़ सख़्ती से मना कर दिया।” वीरों से खरी-खोटी न सुनी गयी। कुछ तीखेपन से कहा, “तो क्या करते! दहेज़ मिलता है घर-बाहर देख कर। इस घर में था ही क्या? दो गाय, एक बछड़ा। उपलों से भरी हुई दीवार और पीछे दो कोठरियाँ। और कुछ भी था, बताऊँ क्या था? वह भी सुन लो— कुछ मुकदमे थे। उस ज़मीन के भी जो कभी अपनी हुआ करती थी।”

बाहर गाय को चारा खिलाते हुए सरदार महिन्द्र सिंह यह सब सुन रहे थे। उन्हें अचरज नहीं हुआ, अफ़सोस ज़रूर हुआ। जुबान पर काबू रखते हुए नरिन्द्र को बुलाया और कहा, “बहू से झगड़ा नहीं बढ़ाना। एक वक़्त आता है जब नेकनामी बदनामी में बदल जाती है। हमारा दिल साफ़ है। हम किसी भी अग्निपरीक्षा के लिए तैयार हैं। यार, छोटी-सी जोत थी इसके बाप बेअन्त सिंह की। पहले साल आलू चौपट हो गया। सभी ने तब आलू निकाल कर ट्रालियों में भरवा कर सड़कों पर फ़िकवा दिया था। दूसरी बार गेहूँ की फ़सल पक गयी थी कि खेत को आग लग गयी। हम जुल्म करने वाले नहीं थे। कैसे विवाह के लिए उसको कर्ज़ की खाई में धकेल देता।”

सुबह का यह ज़ख़्म शाम को फिर छिल जाने वाला था। टकराव हुआ दर्द हुआ, पर लहू बहने तक नहीं गया। शाम को कृष्णा बुआ जो कि विधवा थी, फोटो देने आ गयी। फोटो अर्जी पर लगने थे। अर्जी फूड सप्लाईज़ विभाग के इन्स्पेक्टर तक जानी थी दारजी के जरिये।

बुआ चली गयी परन्तु वीरों का पारा चढ़ गया शाम के कम हुए तापमान के बावजूद।

“दारजी समझते हैं कि पूरे गाँव का भला कर रहे हैं। पर कौन पूछता उनको! सभी लोगों का मतलब सध जाये, इतना ही बहुत है।” नरिन्द्र अभी थक कर लौटा ही था। जूते खोल रहा था।

“हो गयी शुरू टर-टर... न चाय न पानी...।”

“मैं अपने लिए नहीं कहती उनके लिए कहती हूँ। कल को कुछ हो गया तो इनमें से कोई पानी नहीं पूछने वाला।”

“अच्छा-अच्छा।”

“आपको कुछ नहीं होता। सुरिन्दर ने, याद है, तूफान खड़ा कर दिया था।”

उसी वक़्त दारजी का छोटा पुत्र सुरिन्दर साइबर कैफे के बाहर खड़ा नीरजा की प्रतीक्षा कर रहा था। खदर के कुर्ते और कसी हुई जीन में नीरजा को देख कर उसने सोचा कि उसका गाँव यहाँ से अट्ठाइस किलोमीटर दूर है लेकिन सीधी बस नहीं जाती। गाँव इतना पिछड़ा हुआ नहीं है परन्तु खदर के कुर्ते और कसी हुई नीली जीन में नीरजा यदि साथ चली जाएगी तो दस दिन तक चर्चाओं में महकती रहेगी।

“देर लगा दी?”

“गिल सर को एक-दो पेपर निकलवाने थे।”

“पेपर? या पेपर के बहाने तुम्हें रोके रखना।”

“दूसरी बात हो तब भी क्या हो सकता है।”

“हो क्या नहीं सकता?”

“छोड़ो भी, ज़रा-सी इन्तज़ार में भुनभुनाने लगते हो। थके हो तो कहीं चाय-काफ़ी का बन्दोबस्त करो।”

सुरिन्दर मुस्करा दिया, “तुम्हें जल्दी आश्रम तो नहीं जाना?” वह उसके घर को आश्रम कहता था।

“मम्मी-पापा कैरियर के नाम पर काफ़ी छूट दे रहे हैं।” दोनों पास के रेस्तराँ में चले गये। कोने की मेज़ घेर कर बैठ गये।

टी.वी. के स्क्रीन पर एक ख़बर बार-बार आ रही थी। साधु के भेस में एक व्यक्ति को नन्ही बच्चियों के साथ घटिया हरकतों की वजह से गिरफ़्तार कर लिया गया था।

“गिल सर भी साधु ही लगते हैं।” सुरिन्दर ने शरारती लहजे में कहा।

“तुम बाज नहीं आओगे!”

“मुझे एक बात याद आ गयी।”

“ज़रूर सुनूँगी। पहले पेट पूजा।” सुरिन्दर उठ कर कूपन कटवा कर आ गया।

“अब बोलो।”

“गाँव के बाहर खंडहर में एक महन्त ने आकर डेरा डाल लिया। दिनों में ख़बर फैल

गयी कि वह काला इल्म जानता है। जगू की बकरी गुम हो गयी। उसने कागज़ पर स्याही का गोला बनाया, उसमें कुछ लिखा और कहा कि बकरी मिल जाएगी। और बकरी मिल गयी। कल्लू की साइकिल का भी ऐसा ही हुआ।”

“वह खुद ही उठवाते होंगे।”

“सुनो तो, दारजी ने जाकर सरपंच से कहा कि यह कोई योगी-वोगी या चमत्कारी नहीं है, इससे कह दें कि लुटिया-बिस्तर सम्भाले और भाग ले। सरपंच साहब ने कहा कि भटके हुए लोग उसके पास जाते हैं, उन्हें तसल्ली मिलती है, बुरा क्या। दार जी को तसल्ली नहीं हुई—वह ताये को साथ लेकर थानेदार के पास गये।”

“ताया कौन, तुम्हारे तायाजी भी हैं?”

“मैंने बताया था न धरमिन्दर के क्लासफेलो। गाँव में सभी उन्हें ताया कहते हैं।”

“क्या उनका धर्मन्द्र साहब से अब भी सम्बन्ध है?”

“हाँ, उसका फोन आता रहता है। पिछले दिनों सन्नी देओल और बॉबी के साथ जो फ़िल्म बनी तब भी ताया को फोन आया था कि गाड़ी भेज देता हूँ, आ जाओ। जवाब में ताया ने कहा, बड़ा आया गाड़ियोंवाला! नहीं आता मैं।”

“उनसे मिलना पड़ेगा।”

“मिल लेना, बात तो सुनो।”

“हाँ, क्या कहा थानेदार ने?”

“थानेदार ने कहा, ‘धार्मिक मामला है पुलिस दखल नहीं देगी।’ दारजी तमक उठे, ‘धार्मिक कैसा जी? कुरान की आयतें वह नहीं पढ़ता। बाइबल उसके पास नहीं। गीता या रामायण उसने नहीं बाँची। ग्रन्थ साहब का प्रकाश नहीं किया। कौन-सा धर्म है उसका? आप तब आना जब कोई कारनामा हो जाएगा।’ ताया दारजी को खींच कर बाहर ले गया। कारनामा हो गया। एक शरीफ आदमी की बेटी गर्भावस्था में आ गयी। उसकी माँ उसे चुपचाप पटियाला मौसी के पास ले गयी जैसे छुट्टियाँ काटने गयी हो। परन्तु गाँव में आग सुलगती रही। दारजी ताये को साथ लेकर खंडहर की तरफ गये। बातों के भूत लातों के बिना कहाँ मानने वाले थे। ताये की लाठी लेकर दो-चार ही छोड़ी की अभिशाप फेंकता-फेंकता चले सहित भाग लिया।”

नीरजा ने दुपहर में कुछ खाया न था। जब तक सुरिन्दर कपटी साधु की कहानी सुनाता

वह अपनी प्लेट साफ़ कर चुकी थी।

“तुम्हारे लिए कुछ और लाऊँ?”

“नहीं।”

“क्या सोच रही हो?”

“दारजी के बारे में। मुझे लगता है तुम्हारे दादाजी वाटर पाइप हैं।”

“क्या?”

“वाटर पाइप पूरे शहर के नीचे ज़मीन में छुपी रहती है। सारे शहर के लोगों की बिना भेद-भाव के प्यास बुझाती है। बिना किसी शोहरत की इच्छा के। छोटी अँगुली को खून लगा कर शहीद होना सभी चाहते हैं। मैंने पहले भी उनकी बातें सुनी हैं। स्वार्थरहित होकर पूरे गाँव के छोटे-बड़े काम करते रहना... आजकल ऐसे आदमी होते नहीं... वह कोई पुराने आदमी हैं। लोगों के लिए फलदार वृक्ष उगाने वाले लोग हुआ करते थे। आजकल के हालात तो देखो।”

“हाँ हालात तो बिगड़े हुए हैं।”

“बिगड़े हुए? एक ऐसी आँधी चली है कि कोई किसी का रह नहीं गया। भाई-भाई का दुश्मन है। बेटा बाप को मार रहा है। बाप बेटी का गला रेत रहा है। दोस्त-दोस्त को अन्धी खाई में धकेलने को बेताब है। वह समाज संस्कृति जिसकी बातें सुनते थे, कहाँ है? पति अपनी पत्नी के टुकड़े कर बोरों में भर कर फेंक रहा है।”

“पत्नियाँ याराने निभा रही हैं। पति से बेवफा हो रही हैं।”

“सभी जगह एक जैसा नहीं लेकिन अक्सर पति ‘पति’ बना रहता है। पत्नी को रसोई की मशीन या बिस्तर के इस्तेमाल की चीज़ समझता है और नौबत यहाँ तक आ जाती है।...खैर मैं यह कह रही थी ऐसे स्वार्थ भरे, बेरहम, दलदल में फँसते जा रहे समाज में दारजी...। आई कांट बिलीव...। तुम्हें तो फख्र होना चाहिए... तुम हर वक्रत कहते रहते हो कि उन्होंने घर का कुछ नहीं बनाया। घर में सोफा, कूलर, अच्छी कुर्सियाँ कुछ भी नहीं हैं... अच्छा एक बात बताओ, तुम्हें माँ की याद आती है कभी...?”

“हमारी माँ भी यही हैं, पिता भी यही। छोटे थे तो माँ गुज़र गईं। उन्होंने ही पाला...।”

सुरिन्दर ने नीरजा की तरफ गहरी नज़र से देखा और कहा, “कभी किसी औरत के गले लग कर रोने का मन होता है।”

“सुरिन्दर, मैं जैसी भी हूँ अपनी शक्ति और सीमाओं का आकलन जरूर करती रहती हूँ। सड़क पर चलते हुए मैं सीख चुकी हूँ किन आवाज़ों को कान के अन्दर नहीं उतरने देना। बस में कुहनियों के उपयोग से किस-किस से बच कर निकलना है, मैं अचानक ही सीख गयी। इस तरह खुद को सज़ा देने से बचना जान गयी हूँ।”

“मैंने तुमसे कोई व्याख्या नहीं माँगी।”

“सुनो तो, इसके साथ ही मैंने अपने भीतर विकास किया कि न तो धोखे में रहो और न ही किसी को धोखा दो। हो सकता है कुछ लड़कियों को भ्रम में रहना अच्छा लगने लगता हो, मुझे उलझन होने लगती है। मैं तुम्हें बता रही हूँ कि कम-अज़-कम मुझमें उस औरत का प्रतिबिम्ब नहीं देखना जो तुम्हारे स्वप्न में है। तुम्हें पता है कि मैं तो विदेश में उड़ जाने को तैयार हूँ। असल में मैं नीरजा के रूप में नीरजा नहीं हूँ। एक तीर हूँ, जिसका लक्ष्य पापा ने साधा है। मेरा कोई भाई होता तो और बात थी।... तुम इस तरह उदास मत हो जाओ। अभी मैं यहीं हूँ... तुम भी... मेरी तुम्हारे साथ गाँव जाने की इच्छा हो रही है। मैंने कभी भी कोई गाँव नहीं देखा है। दारजी से मिलना चाहती हूँ। ले चलोगे न? दारजी नाराज़ तो नहीं होंगे?”

“नहीं, नहीं तुम जब भी चाहो, चलेंगे।”

वीराँ जब नरिन्द्र से सुरिन्दर के तूफान खड़ा कर देने की बात कह रही थी तब नरिन्द्र को खाट पर लेटे-लेटे सभी कुछ याद आने लगा। दारजी चारा काट कर गाय को खिला रहे थे कि चक्की वाली गली के हरनाम का बेटा आ गया। वह जैसे घोड़े पे सवार हो, एक साँस में कह डाला।

“दारजी, हलवाई लिस्ट दे गया है। बापू ने कहा है कि आज ही सारा सामान ले आओ शहर से। लिस्ट भी हलवाई से आपको ही लानी थी, आप कल गये ही नहीं।”

“पानी नीचे उतर गया है। गुरुद्वारे का बोर करवाते रात होने को आ गयी। तुम जाओ, आज हम सारा काम निपटा लेंगे।”

जिस तुनकमिजा जी में लड़का बोल कर गया, बुरा नरिन्द्र को भी लगा, परन्तु वह चुप मार गया। वीराँ कब मौक़ा छोड़ने वाली थी! नरेन्द्र से कहा, “देख लिया?”

थोड़ी देर पहले ही दारजी के लिए नीम की दातुन लेने गया था। तब नम्बरदार के भतीजे ने पूछा था। “सुरिन्दर नहीं नज़र आता आजकल?”

“वह शहर में ही काम कर रहा है और वहीं रहकर अँग्रेजी बोलने के लिए सन्ध्या कालिज जाने लगा है।”

वह यह कहते-कहते रुक गया कि उसका पासपोर्ट बन कर आ गया है। पुलिस के आदमी को वेरीफिकेशन के नाम पर चुपचाप पाँच सौ का नोट उसी ने मुट्ठी में सरकाया था। दारजी, को पता चलता तो देने ही नहीं देते। सुरिन्दर अब उड़ जाने की तैयारी में है, उसे गाँव आना अच्छा नहीं लगता। कहता है, “यहाँ है ही क्या?” मच्छर उसे अब ज़्यादा काटने लगे हैं। इससे ज़्यादा उसे दारजी का गाँव के सभी लोगों के काम करते रहना पसन्द नहीं। उसे यह छोटा काम लगता है। कहीं गुलामदारी जैसा। जैसा दारजी को किसी के काम आने में सुख महसूस होता है, वैसा बिल्कुल नहीं।

उन दिनों सुरिन्दर यहीं था। नम्बरदार ने दारजी को बिल अदा करने के लिए पैसे दिये थे। दिन भर की भाग-दौड़ में पैसे किसी ने निकाल लिये या गिर गये थे। बिल चुकता न किया जा सका। रकम डेढ़ हज़ार से ऊपर थी। नम्बरदार ने तो दुबारा चुपचाप उतने पैसे दे दिये परन्तु उसके छोटे भाई जीवन ने गेन्दी की दुकान पर कह दिया— पैसे ही हैं कभी घर में भी खर्च हो जाते हैं।” चाय की पत्ती लेने गया सुरिन्दर वहीं खड़ा सुन रहा था। उसने कहा, “सारे गाँव के बिना अपने फायदे के दिन-रात करते रहने का यही सिला मिलना था। दारजी ने कभी किसी का एक पैसा भी नहीं रखा। कोई साबित कर दे, गाँव छोड़कर चले जाएँगे।”

घर आकर दरवाज़े पर खड़े होकर लोगों को सुनाकर कहा, “आज के बाद कोई अपना काम लेकर दारजी के पास आया तो टाँगें तोड़ दूँगा।”

चोट का दर्द गहरा था। दूसरों की आग बुझाते-बुझाते दारजी के हाथ जल चुके थे। सुरिन्दर का गुस्सा ड्योढ़ी की छत में तरेड़ डाल गया। पीपल से पक्षी उड़ गये और गाँव के बाहर के दरवाज़े पर जाकर बैठ गये।

विधवा कृष्णा बुआ का राशन कार्ड गुम हो गया था। दारजी ने वायदा किया था कि फिर बनवा देंगे। आठ किलोमीटर साइकिल चला

कर स्कूल पढ़ाने वाली जसविन्दर का गैस का सिलेंडर खत्म हो गया था। दारजी से भरवा देने के लिए कहने आने वाली थी। गेन्दी दुकानदार के बेटे के स्कूटर का लाइसेंस लाने की पर्ची भी उन्हीं के पास थी। धरमेन्दर के क्लासफेलो ताये की भैंस बीमार थी, डॉक्टर को दारजी ने ही लाना था। रुके हुए अधूरे कागज़ात दारजी के झोले में विश्राम की मुद्रा में पसर गये। सरपंचनी को शहर सिलने दिये कपड़ों के मिलने की तारीख भी याद नहीं थी। रिटायर्ड मास्टर जी को लगा कि उनकी टूटी टाँग ठीक होगी ही नहीं। घर में न किसी के पास उनके लिए समय था, न उनके ठीक होने की चिन्ता। एक ही शख्स था, जो रोज़ आकर एक्सरसाइज करवाता और चलने-फिरने का ही नहीं, मिल्खा सिंह की तरह दौड़ लगाने का भी भरोसा देता।

चार पेड़ों के नीचे ताश तो उस दिन भी खेली गयी पर कोई जीतने के लिए नहीं खेल रहा था। एक भी पत्ता पटक कर नहीं फेंका गया। न ही मुकद्दर का सिकन्दर होने का दावा पेश किया गया। लगा कि गाँव की मशीन थम जाएगी। महिन्द्र सिंह उर्फ दारजी ही उस मशीन का कभी तेल हैं, कभी पहिया।

गाँव भर में चर्चा गर्म हो गयी।

“करे कोई, भरे कोई।”

“लड़के को गुस्सा बहुत आता है।”

“लड़कों का गुस्सा बेकाबू है आजकल।”

“मन वाला है, बाप की बात थोड़े ही सुनेगा।”

“कहते हैं, बन्दूक भी लेकर आया है इस बार।”

“ज़रूर नक्सलियों से सम्बन्ध होंगे।”

“गुस्सा एक आदमी के लिए नहीं होता। सभी गलत बातों के लिए होता है। गलत बयान, गलत इलजाम, गलत शिकायत, सबको लेकर...।”

काँवे की काँव-काँव, कबूतर की गुटर गुँ, मुर्गे की बाँग, सभी में बात फैलती रही।

ब्लॉक डेवलपमेंट अफ़सर परेशान। कहीं कोई अखबार के लिए कुछ कहलवा न ले। आजकल ईंट उखाड़े तो संवाददाता...। सरपंच की नौद उड़ गयी। पाँच छह महीने में चुनाव न आ जाये। महिन्द्र सिंह को अगर विपक्ष ने उड़ा लिया।

इधर महिन्द्र सिंह को अपना महकमा याद आ गया। वह पूरा दिन कहीं गये नहीं। दिन में

खाट पर लेटने की आदत नहीं थी। कोठरी में लेटे। ज़रा देर करवटें बदलीं। फिर उठ गये। दरवाज़े तक गये, लौट आये। महकमा याद आ गया, जहाँ नौ-दस साल पहले नौकरी किया करते थे। नौ साल पहले या दस साल, ठीक से याद नहीं आया। पहले महकमे को याद करते थे। महीने-दो-महीने बाद जब निलम्बन भत्ता लेने जाते थे। अब इस तरह याद आया कि उन्होंने कभी बहाल करने के लिए अर्जी तक नहीं दी। महकमा उनकी सेवा को और वह महकमे की अधीनता भूल गये।

जन सेवा की तालीम महिन्द्र सिंह को पिताजी ने दी थी। वह उम्र भर लड़ते रहे। पता नहीं लड़ाइयाँ उनके गले पड़ जाती थीं या वह पैसा फेंक कर लड़ाई मोल ले लेते थे। दिन में दस बार सिस्टम को गाली देते थे।

लड़ाई तब शुरू हुई जब उनके भाई ने तीन किल्ले पैतृक ज़मीन, एक सोने का कड़ा, एक पेटी शराब, एक रात धन्नो के पलंग पर उस के साथ सोने का वायदा और बारह हज़ार रुपये नकद लेकर चैन सिंह को अँगूठा टीप दिया था। चैन सिंह ने सन्ते बदमाश के लठैत लाकर कब्ज़ा कर लिया था।

पिताजी जाकर वकील से मिले, जिसने भरोसा दिया कि छह महीने में ज़मीन वापिस मिल जाएगी और जब छह साल गुज़र जाने पर भी केस का कोई ओर-छोर नज़र नहीं आया तो सोचने लगे कि क़ानून का (का) तथा (नून) का किसी भाषा वैज्ञानिक से अनुवाद करवायेंगे। ‘नून’ का अर्थ वह उपहार लगा लेते फिर कपूत जैसे ‘क’ को साथ जोड़कर काली दुपहर जैसा अर्थ बनाने पर बात न बनती देख कर छोड़ देते।

फिर मुकदमों की झड़नी लगती गयी। साइकिल वाले को पुरानी साइकिल तीन सौ पचास रुपये में बेची थी। पचास रुपये देने के बाद वह रोज़ बहाने बना देता। महीना-दो महीना चक्कर काटने के बाद जब उससे कहा कि वह पैसे देने में कमीनगी दिखा रहा है तो उसने मकैनिक के साथ मिल कर पिताजी को पीट दिया। यह मुकदमा नम्बर दो था।

विधवा कृष्णा बुआ की बेटा को ससुराल वालों ने पीटकर आधी रात को घर से निकाल दिया, क्योंकि वह सास के लिए सोने की चैन नहीं लायी थी। केस आहलुवालिआ जी की कोर्ट में था और उसमें उनकी गवाही थी। एक केस

बिजली महकमे के साथ था— उन्होंने दस हजार एक सौ बीस का बिल भेज दिया जबकि घर में सिर्फ एक बल्ब था और एक रेडियो था। बल्ब के नीचे बैठ कर वह सरकारी महकमों को चिट्ठियाँ लिखते थे और रेडियो से पाकिस्तानी ड्रामे सुनते थे और लाहौर की उन गलियों से जुड़ा व महसूस करते जहाँ वह कभी खेले थे।

होते हवाते वह दस मुदकमे ठोक चुके थे। दो में उनकी गवाही थी, चार मुदकमे उन पर थे। उनके पास एक झोला था, जो दरवाजे के पीछे कील पर टँगा रहता। झोले में अलग-अलग केसों के लिफाफे थे। तारीखों की एक डायरी थी, जो उसी झोले में पड़ी रहती।

जमीन बेचने के कागज़ पर अँगूठा टीप देने वाले भाई से उनका कभी संवाद नहीं हुआ। देखा भी तो अनदेखा कर दिया, सामने आया तो रास्ता बदल लिया। उन्हें पता चला था कि अँगूठा टीपने के एवज में मिला सोने का कड़ा लोहे का निकला। सोने का पानी चढ़ा था। शराब की पेटी में बोटलें ही अँग्रेजी थीं, दारू देशी थी। पूरी रात को धनो ने तीन मिनट में ही खत्म कर दिया था।

क्योंकि उनका ज़्यादा समय कचहरी में गुज़रता था इसलिए उन्होंने घड़ियाँ ठीक करने का काम शुरू कर दिया। कभी किसी वकील की, कभी किसी तारीख भुगतने आये आदमी की घड़ी ठीक कर देते या स्ट्रैप बदल देते तो कभी किसी का शीशा और घर की रोटी के पैसे कमा लेते।

उन्हें टी.बी. हो गयी थी। दवा पर पैसे न खर्च करने से ज़्यादा बीमार रहने लगे। जब बिल्कुल बेजान से रहने लगे, अस्पताल में दाखिल करवा दिया। अन्तिम दिन अस्तपताल में उन्होंने महिन्द्र सिंह से कहा, “मानस देह मिलना बड़े सौभाग्य की बात है। तुम्हें हमेशा साबित करना है कि तुम मनुष्य हो और पशुओं से बेहतर हो। ताकतवर लोग आदमी को पशु बनाते हैं। यह सरकार उनकी पीठ पर है, इसे जहाँ तक हो सके हमेशा याद रखना। अपना पेट पशु भी भर लेते हैं कोशिश यह करो कि यह देह लोगों के काम आ सके। जीवन का सच लोगों की सेवा करते-करते मिल जाता है। ज़माना खराब है इसलिए यह सब करते काफ़ी कष्ट उठाने पड़ते हैं। ...और नहीं बोला जाता... पानी पिला दो।”

महेन्द्र सिंह से दो घूँट पानी पीया और आँखें

बन्द कर लीं... फिर आँखें खुली ही नहीं...।

अन्तिम रस्मों के बाद जिस चाचा ने ज़मीन के टुकड़े को बेच देने के कागज़ों पर अँगूठा लगाया था, उसका पुत्र अफ़सोस ज़ाहिर करने आ गया। पूछा, “सुना है ताये ने सरग (स्वर्ग) जाने से पहले तुमसे अकेले में बात की थी। पेड़ों के नीचे किसी छुपे खजाने के बारे में बताया?”

“हाँ, उन्होंने ज़मीन के केस की फाइल मुझे दे दी और कहा कि सारी उम्र गुज़र जाए तब भी केस ज़रूर लड़ना।”

उसे दाल में मिर्च लगने लगी और रोटी बीच में छोड़कर भाग लिया। गाँव के लोगों के काम वह पहले भी करते थे, परन्तु पार्टटाइम के तौर पर या किसी अवकाश के दिन। परन्तु कुछ घटनाएँ अपनी तरह से परीक्षा लेती हैं और आपकी उत्तर पुस्तिका पर अंक देने की जगह कुछ ऐसा अंकित कर जाती हैं कि आप की दशा और दिशा बदल जाती है या निश्चित हो जाती है।

रामसेवक बिहारी सरपंच के ट्रैक्टर के नीचे आ गया। महिन्द्र सिंह से उसकी दशा देखी न गयी। वह सीधा सरपंच के पास गया और फटाक से कह दिया— रामसेवक के इलाज का खर्च आपको उठाना चाहिए नहीं तो वह मर जाएगा।

सरपंच का जवाब था, “मैं सारा खर्च दूँगा। दवा-दारू एक तरफ़, देखभाल एक तरफ़। मैं खर्च कर सकता हूँ, समय नहीं दे सकता। तुम उसकी देख-रेख का ज़िम्मा लो, पैसे की कमी नहीं आने दूँगा।”

महिन्द्र सिंह ने मान लिया। दफ़्तर से छुट्टी का दिन था, परन्तु उन्हें सन्देश दिया गया था कि दफ़्तर आकर स्टेटमेंट बनाएँ। उसी दिन रामसेवक का ऑपरेशन होना था। उन्हें कागज़ी घोड़े दौड़ाने की जगह रामसेवक के लिए अस्पताल रहना ज़रूरी लगा। दफ़्तर से वह सस्पेंड कर दिये गए। उन पर लापरवाही, आदेश नहीं मानने और कार्य को गम्भीरता से नहीं लेने के साथ संस्थान की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाने के आरोप थे।

रामसेवक की दुर्घटना की खबर गेंदी की दुकान पर अलग ही रूप में सुनने को मिली। ट्रैक्टर जागर चला रहा था। जागर की आँख रामसेवक की नयी ब्याही बीवी पर मैली थी। रामसेवक उसकी ताक-झाँक से परेशान था : वह बीवी को पंजाब इसलिए तो नहीं लाया था। उसने जागर की शिकायत सरपंच से की थी। गेंदी को जाने कैसी खबर मिली थी कि पंजाब

आने से पहले रामसेवक ने पत्नी से कहा था कि पंजाब में ज़्यादातर काम वही लोग सम्भाल रहे हैं। पंजाब के लोग छोटे दिल के नहीं हैं। हर अच्छे मौक़े को ज़रन में बदल डालते हैं। यह सब कहते हुए उसे लगा कि यह नहीं कहना चाहिए था कि पंजाब के लोग बड़े दिलदार हैं।

जागर सरपंच का ट्रैक्टर ही नहीं चलाता था, गाड़ी भी चलाता था। गाड़ी ही नहीं चलाता था चुनाव के दिनों शराब की भट्टी भी चलाता था। रुकी हुई पेमेंट लेने के लिए किसी को गालियाँ भी निकाल आता था। लोग यह कहने से भी बाज नहीं आते थे कि सरपंच के कुछ अँधेरी रात के अफसाने, कुछ अँधेरी गलियों के कारनामे जागर की वजह से ही सम्भले हुए थे। सो जब रामसेवक ने जागर की शिकायत की, तब जागर को बुलाकर केवल हँस कर ही कहा गया, “पागल, इस तरह नहीं करते, वह भी अपने ही गाँव में। रामसेवक दिन रात-सेवा करने वाला आदमी है। अढ़ाई घर तो डायन भी छोड़ देती है।”

मौजूदा लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अपने लोगों की परवाह हो न हो, व्यवस्था पर जब बन आती है तो प्रात कोरा साँझ सूनी नहीं रह पाती। कोई नायक कोई नायिका अपने बूते उससे चुस्त-दुरुस्त रखने के लिए सीमाएँ तोड़ कर बाहर आ जाते हैं।

ऐन उस वक़्त जब महिन्द्र सिंह उस लिफाफे को ढूँढ़ रहे थे, जिसमें उन्हें नौकरी से अस्थायी रूप से अलग किए जाने के आदेश थे, तभी नम्बरदारनी का सन्देश आ गया कि उन्हें हवेली पे बुलाया गया है।

नम्बरदारनी ढलान के पास पहुँची उम्र के बावजूद ख़ुबसूरत थी और उम्र में सात-आठ साल छोटी लगती थी। दिखने-छिपाने की कला में पहले से ही पारंगत थी। ‘जैसा चलता है चलने दो’ में विश्वास करते हुए कम ही बोलती थी। परन्तु जब बोलती थी कि क्या मजाल कि कोई उनके तर्क को काट जाए। सबसे बड़ी क़ामयाबी उनकी मानी गयी, जब सरपंच और नम्बरदार के बीच हुए राइस शेल्डर के झगड़े को उन्होंने निपटारा। तब से गाँव में उनका नाम प्रचलित हुआ ‘सीज़फायर।’

पहले देवर को बुलवाया। पूछा, “तुमने कभी महिन्द्र सिंह को किसी का एक रुपया मारते हुए भी देखा है?” थोड़ी बहुत राजीनति वह

भी सीख चुका था। कहा, “मेरी बात का गलत मतलब निकाला गया।”

“जीवन, तुम्हारे इस छोटे सिक्के को मैं जरूर चला देती परन्तु महिन्द्र सिंह का लड़का सुरिन्द्र वहीं था। जब बात हाथ से निकल रही हो तो मुआफी माँगने में कुछ बिगड़ नहीं जाता फिर यह कहाँ लिखा है कि मुआफी माँगने के बाद हम गलती नहीं करेंगे। जुबान बाँध कर रखेंगे।”

“ठीक है जी, गलती तो तभी गलती है, जब लोग पकड़ लेते हैं। पीछे पड़ जाते हैं।” महिन्द्र सिंह आया तो दोनों को गले मिलवा दिया।

सुरिन्द्र की बारी अन्त में आयी। प्यार से गले लगाकर उसका आधे से ज्यादा गुस्सा हर लिया। पानी पिलाते हुए बताया कि उसके दारजी से जीवन ने माफी माँग ली है। चाय के साथ पेस्ट्री, बादाम की गिरियाँ, नमकीन काजू खिलाते हुए यह कह दिया कि एक विद्यार्थी को किसी भी तरह की राजनीति से दूर रहकर पढ़ाई और कैरियर पर ध्यान देना चाहिए। जाते हुए आशीर्वाद दिया कि न्यूयार्क जाने पर डॉलर उसके क्रदमों में बरसें।

वह हैरान था नम्बरदारनी की सूचना क्रान्ति के वेग में फरफराती चून्तर पर।

सुरिन्द्र दीवाली की छुट्टियों में ही गाँव आया। साथ थी नीरजा, जो जगह-जगह बैग से कैमरा निकाल कर फोटो खींचने लगती और इसी वजह से ‘पेंट वाली लड़की’ के नाम से गाँव में जानी गयी। उसने कभी गाँव नहीं देखा था। गाँव आते ही उसे पहले इस बात पर हैरानी हुई कि गाँव के आते रास्ते के दोनों तरफ कोई पेड़ नहीं था। कहा, “प्रकृति और पर्यावरण का विनाश शहर में तो होता ही है गाँव भी इससे नहीं बच पाया।”

वह जगह-जगह लोगों के घरों में चली जाती और परिवार में घुलमिल जाती। बाद में गाँव वाले कहते, “लड़की थी तो माडलन, पर सुरिन्द्र से समझदार थी।” जाने से पहले गेट पर लिख दिया— ‘होम, स्वीट होम।’

सुरिन्द्र ने कहा, “जहाँ तुमने ‘होम स्वीट होम’ लिखा है। उसकी नीचे की फट्टी टूटी हुई है। बरसों से कभी पेंट नहीं हुआ।”

“कुछ पेंट नकली ही दिखते रहते हैं।”

गाँव से विदा होने के दिन नीरजा ने घर के सभी लोगों को बिठा लिया। दारजी उस वक़्त घर पर नहीं थे। उसने कहा, “पहले मैं सुरिन्द्र

के पिताजी के बारे में सुरिन्द्र से कई बातें सुनती थी तो लगता था कि वह वाटर पाइप है, जो शहर के नीचे बिछी रहती हैं, सभी को चुपचाप पानी पहुँचाती हैं। यहाँ गाँव में आकर लोगों से मिली हूँ तो पता चला कि वह पानी की पाइप नहीं, पानी है, जिसके बिना कंठ प्यासे रहते हैं और जिसकी हम सभी ने सदा उपेक्षा की है और बड़े से बड़ा खामियाजा भुगतने को तैयार हैं।”

सुरिन्द्र ने बिना अवसर की बात की तरह कहा, “वहाँ क्लास में मैडम कहती है कि घर में भी अँग्रेजी में बात करो। यहाँ अँग्रेजी तो क्या कोई हिन्दी भी नहीं बोलता।” वीराँ ने कब की रोकी हुई बात निकाल दी, “आपके घर में कौन-कौन है?”

“मेरी बहन, पापा और मम्मी। मेरा कोई भाई नहीं है। मेरे पापा मुझे विदेश इसलिए भेजना चाहते हैं ताकि इस बहाने वह भी विदेश जा पाएँ। मेरा भाई होता तो यह इच्छा उसके माध्यम से पूरी होती। वह मेरे लिए आठ-दस लाख खर्च करने को तैयार हैं ताकि वे दुगुने हो के मिलें। उन्हें इस देश की ज़मीन के लिए कोई मोह नहीं है। तुम्हारे दारजी गाँव से जुड़े हुए हैं। मुझे लगता है कि वह ज्यादा खर्च नहीं कर सकते। इस फ़र्क को तुम्हें समझना चाहिए।”

“अगर तुम पापा के साथ सहमत नहीं तो तुम इनकार क्यों नहीं कर देती?”

“सुना है बेटियाँ नदी होती हैं। नदी रास्ता नहीं बदल सकती। बदलती हैं तो बहुत कुछ झेलना पड़ता है।”

उस दिन कोर्ट में ज़मीन वाले केस की तारीख थी। बात कोई बड़ी नहीं थी परन्तु वह रात भर सो नहीं पाये थे। सुरिन्द्र ने दीवाली पर गाँव आयी लड़की से कहा था, “साथ गाँव का निरंजन आस्ट्रेलिया चला गया। उसके बाप ने ज़मीन का टुकड़ा बेच दिया। हमारी ज़मीन का टुकड़ा मुकदमे में फँसा हुआ है।”

दारजी ने नये कपड़े पहने थे। और अब पगड़ी सँवार रहे थे। सरपंच के किसी काम से रामसेवक को भी शहर जाना था। वह तैयार होकर आ गया था।

वीराँ ने नरिन्द्र से कहा, “आज दारजी ऐसे तैयार हो रहे हैं, जैसे लड़के का विवाह हो।”

नरिन्द्र हँस दिया।

चाय पीकर दरवाज़े की कील से केसों वाला

बैग उतारने वाले थे कि पाँव थिरक गया। देखा तो माथा पसीने से भरा था। नरिन्द्र से रामसेवक को डिस्पेंसरी के डॉक्टर की तरफ़ भगाया। हरनाम का लड़का मोटरसाइकिल से कहीं जाने वाला था। वह भी डिस्पेंसरी की तरफ़ गया और डॉक्टर को पीछे बिठा लाया। डॉक्टर ने पानी के साथ गोली खिला दी। कहा, “इन्हें शहर के बड़े अस्पताल ले जाओ। रास्ते में इन गोलियों का घोल पिलाते जाना। जागर ट्रक ले आया और अस्पताल पहुँचा दिया।”

अब असली इम्तहान था। पन्द्रह मिनट में डॉक्टर ने ‘ऑपरेशन ज़रूरी है’ बता दिया। नर्स पैसे जमा करवाने को कह गयी।

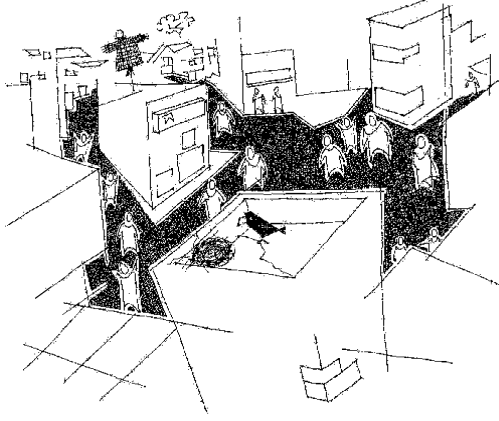
नरिन्द्र बेंच पर माथा पकड़कर बैठा था। वीराँ का रेडियो चल रहा था। “कहाँ से आएगी इतनी रकम? वह नवाब तो गया दिल्ली, मरीका (अमरीका) जाने के लिए। अब कोई पास भी नहीं फटकेगा... सारा गाँव, जिसके लिए दारजी मरते रहे, न दिन देखा न रात, न धूप देखी न बरसात, अफ़ीम खाकर सो गया। अब दारजी किसी का काम नहीं कर पाएँगे। हमें तो वह ज़मीन का टुकड़ा खा गया। पहले बाप काग़ज़ उठा कर शहर भागता रहा, अब पुत्र।”

नरिन्द्र पंखे की तरफ़ देखता रहा। जेब में पता था कि एक सौ पचहत्तर रुपये हैं। कैसा शरवण पुत्र हूँ मैं! एक सौ पचहत्तर रुपये लेकर शहर के अस्पताल में, जिसकी दीवारें एक क्रिले जैसी लगती हैं, बाप का इलाज करवाने चला आया हूँ। तभी विधवा बुआ ने आकर एक पुराना रूमाल उसकी झोली में डाल दिया। रूमाल की गाँठ में मुड़े-तुड़े सौ-सौ के नोट थे। रिटायर्ड अध्यापक ने दो महीने की पेंशन बैंक से निकलवायी नहीं थी। उसी वक़्त निकलवाकर लाया और हरनाम के लड़के को मोटरसाइकिल से अस्पताल छोड़ देने को कहा। नरेन्द्र के पास आकार लिफाफा थमा दिया, “दस हज़ार पाँच सौ हैं। इलाज शुरू करवाओ।”

वह काउंटर पर बैठी लड़की की तरफ़ बढ़ा तभी अध्यापक ने कहा, “ज़रा बाहर तो देख।”

रामसेवक बाहर खड़ा था— बाहर लोगों से घिरा जो इलाज के लिए पैसे लाये थे।

78, रामशरणम कालोनी, कालिज रोड बस्ती दानिशमन्द, जालन्धर-2 (पंजाब)



ये धुआँ-धुआँ अंधेरा हरिओम

दिन एक बार फिर गर्म और रातें उदास हो चली थीं। अखबार और खबरिया चैनल उन घटनाओं से पटे पड़े थे जो अभी हाल में ही देश के कुछ हिस्सों में घटित हुई थीं। कहीं एक ट्रेन में लगी आग से कुछ लोग मरे थे और फिर 'स्वाभाविक प्रतिक्रियास्वरूप' हजारों लोग कत्ल कर दिए गए थे। राजनीतिक दलों के छोटे-बड़े नेताओं की बयानबाजी जारी थी। उच्चस्तरीय बैठकें भी चल रही थीं। बुद्धिजीवी अपनी बहुमूल्य राय राष्ट्र को समर्पित कर रहे थे। सामाजिक सद्भाव संगठनों ने शान्ति मार्च निकाले। धर्मगुरुओं ने सर्वधर्म सभाओं में फिर से एक बार अपने-अपने धर्मग्रन्थों की मानवीय व्याख्याएँ कीं। कुछ नए जुर्म किए गए। कुछ नयी अर्जियाँ अदालतों में दाखिल हुई। कुछ सरकारी जाँच आयोग बनाए गए और तमाम तथ्यान्वेषी टीमों ने घटनाग्रस्त इलाकों का दौरा कर अपनी रिपोर्ट जनता के सामने रखी। धुएँ के घने छल्लों से शहर का आसमान घिरा हुआ था। कुल मिलाकर इतिहास एक बार फिर खुद को दोहराता लग रहा था। मौसम के इस बदलाव से परेशान और डरे हुए लोग हमेशा की तरह अपनी रोजी-रोटी की चिन्ताओं में उलझे हुए थे।

जयराज अपने जिस अतीत से लगातार भाग रहा था, आज के हालात उसे उसी ओर फिर ढकेल रहे थे। जब बेचैनी बर्दाश्त नहीं हुई तो जयराज ने अपना एक पुराना सन्दूक खोल दिया था। उसके सामने इतिहास की गन्ध में डूबी डायरियों के पन्ने बेतरतीब खुल रहे थे और अतीत के चलचित्रों का एक कोलॉज बनता चला जा रहा था। चेहरों, जगहों और घटनाओं की अन्तहीन कड़ियाँ बिखरती चली जा रही थीं। जयराज उन कड़ियों को समेटता हुआ वहाँ पहुँच रहा था जहाँ से कभी उसने अपने सपनों का सफर शुरू किया था। बारहवीं पास करने के बाद वह गाँव से शहर तक का सफर। गाँव के पास वाले कस्बे तक साइकिल या इक्के से जाना, वहाँ घंटों इन्तज़ार करना और फिर पैसेंजर ट्रेन पकड़कर शहर पहुँचना। ट्रेन में पूरी दुनिया ही सफर करती दिखती थी। जयराज को ये दुनिया परेशान और उखड़ी हुई लगती थी। माल-असबाब और गृहस्थी-फाटा के बोझ से दबे लोग। कभी-कभार तो बकरी और भेड़ भी यात्रियों के साथ डिब्बे में यात्रा करते। जिन यात्रियों के पास स्टेशन के क़रीब साइकिल रखने की जगह न होती या आगे उतरने पर उन्हें साइकिल की आवश्यकता होती तो वे उसे भी खिड़की से बाहर की ओर लटकाकर बाँध देते। फिर गाँव-घर, खेती-किसानी, देश-समाज, बाज़ार-राजनीति न जाने किस-किस पर चर्चाएँ चल निकलतीं। ऐसा लोग सफर की सुस्ती और बोरियत दूर भगाने के लिए करते। पैसेंजर ट्रेन रास्ते के बीच सभी छोटे-बड़े स्टेशनों पर रुकती जाती। जहाँ स्टेशन न होते लेकिन पुरवा-पाही, गाँव-गिराँव के लोगों को चढ़ना-उतरना होता वहाँ ज़रा-सी हिम्मत और हिकमत से यह ट्रेन रोक दी जाती। जयराज को बीच में कहीं उतरना नहीं होता था। वह यात्रा के बीच छिड़ने वाली

चर्चाओं में भी कोई सक्रिय भागीदारी नहीं करता था। उसके सपने जुदा थे। वह पढ़-लिखकर अपनी ज़िन्दगी और अपने घर-परिवार का नाम रोशन करना चाहता था। जयराज को यह पहले से पता था कि उसके सपनों के सफर का अन्तिम पड़ाव वह शहर ही था लेकिन उसे यह पता नहीं था कि इस सफर में वह अकेला नहीं है। उसके जैसे हजारों उस शहर में अपनी बारी का बरसों से इन्तज़ार कर रहे हैं।

डायरी के पन्ने जयराज को वहाँ ले जा रहे थे जहाँ वह दुबारा कभी जाना नहीं चाहता था लेकिन स्मृति और विस्मृति का यह खेल उसे आज इसलिए अच्छा लग रहा था कि वह अपनी ज़िन्दगी के एक पुराने टुकड़े को फिर से बिल्कुल ताज़ा महक के साथ जी रहा था। वो यूनिवर्सिटी में दाखिले की कवायद। वो हॉटल के शुरुआती दिन। वो कुंठा का मनोविज्ञान और रैगिंग के रंग। वो आधी रात तक सीनियर्स के नाम, पते, कमरे और विषय याद करना। वो सीढ़ियों के स्टेप्स, फेंस की सलाखें और लॉन के पेड़ गिनना। वो झिझक दूर करने के नाम पर ज़ोर-ज़ोर से माँ-बहन की गालियाँ निकालना। वो हर ऐरे-गैरे सीनियर को दरबारी सलाम और शाही फर्शी ठोकना। डायरी पर 'हुज़ूर की लौंडिया...' करके फर्शी की भाषा भी लिखी हुई थी। उसका मन हुआ कि एक बार चीख कर आसमान को शाही फर्शी लगाये। वो कुत्ते के पिल्लों, चूहों और मच्छरों के साथ बाहर से बन्द अँधेरे कमरे में फ़र्श पर सोना। डायरी गर्ल्स हॉस्टल के अश्लील गीत 'मज़ा रात का किरकिरा हो रहा है...' और हॉस्टल एन्थेम... 'एक दो तीन...' मेरी ...रंगीन भी याद दिला रही थी। और भी जाने क्या-क्या? डायरी के पन्नों पर दर्ज ये सारी सच्चाइयाँ आज जयराज को उस एक सपने की तरह लग रही थीं जो वक्रत के साथ न जाने कितनी जगह से कितने टुकड़ों में टूटकर बिखरा हुआ था। डायरी के पन्ने जयराज को यह भी याद दिला रहे थे कि उसने उन्हें कब और कैसे लिखा था। यह याद उतनी रोमांचकारी थी जितनी यथार्थ से सपनों की यात्रा और उतनी पीड़ादायी थी जिनती सपनों की यथार्थ से टकराहट। बहरहाल डायरी पर सफे-दर-सफे जयराज अपने अतीत के सोपान उतरता गया। अनगिनत कहानियाँ, अनगिनत प्रसंग जी उठे। उन्हीं में से एक प्रसंग था नसीम से मुलाकात का। यह मुलाकात भी एक सपने की तरह थी जो वास्तविकता की सख्त ज़मीन से टकराने तक जयराज की ज़िन्दगी पर लगातार छाया रहा।

शहर की ज़िन्दगी वैसी नहीं थी जैसी गाँव की थी। गाँव की ज़िन्दगी ऊपरी तौर पर सीधी-सरल,

बैंधी-बैंधई, शान्त ज़िन्दगी लगती थी लेकिन शहर की ज़िन्दगी के कई स्तर थे। ऊँच-नीच, बुद्धिमान-बेवकूफ की जो फाँट गाँव में इतनी साफ और सीधी थी, शहर में उसकी पहचान जटिल हो चली थी। पढ़ाई-लिखाई, कक्षा, इम्तहान और रिजल्ट की सीधी चिन्ताओं से जुड़े जयराज के सामने ज़िन्दगी के कई दूसरे आयाम भी खुलते जा रहे थे। लड़कों और लड़कियों के हॉस्टल के जुदा तौर-तरीके, सरकारी और कॉन्वेंट स्कूलों से पढ़े हुए छात्र-छात्राओं की खेमेबन्दियाँ। जातीय छात्र-राजनीति की गोलबन्दी। डेलीगेंसी अथवा हॉस्टल के बाहर किराये के कमरों में अपने सपनों के साथ अकेले रहने वाले हज़ारों छात्र-छात्राओं की समस्याएँ। आए दिन कैम्पस, हॉस्टल और सड़क पर छात्रों के बीच छीन-झपट, मार-पीट, बमबाजी। यूनिवर्सिटी शिक्षकों और कर्मचारियों की खींचतान और वर्चस्व राजनीति। इसके अलावा कैम्पस और हॉस्टल में आए दिन पुलिस के दखल को भी जयराज ने पहली बार देखा था। जयराज याद कर रहा था— यूनिवर्सिटी में दाखिले में उसके जैसे तमाम नए लड़के-लड़कियों को कितनी परेशानी हुई थी। रजिस्ट्रेशन फोल्डर कैसे भरना है? कौन-सा सब्जेक्ट चुनना है? फोल्डर्स कहाँ-कहाँ जमा करने हैं? फीस कहाँ जमा होगी फिर हॉस्टल कैसे मिलेगा और कक्षाएँ कब से शुरू होंगी आदि-आदि। यह सब शुरुआती चिन्ताएँ चन्द दिनों में ही दूसरी बड़ी चिन्ताओं में बदल गयी थीं। इस माहौल में सिर्फ किताबों की पढ़ाई नहीं हो सकती थी। यहाँ समाज, राजनीति और शहरी रहन-सहन के बीच ज़िन्दगी का सबक बिखरा पड़ा था जिसे सीखे बगैर शिक्षा अधूरी थी।

हॉस्टल में पहला साल बीतते-बीतते जयराज शहर के समाजशास्त्र और यूनिवर्सिटी की राजनीति से वाकिफ हो चला था। हॉस्टल में रहनेवाले अनीस से उसने पहली बार प्रगतिशील विचारधारा और राजनीति के बारे में कुछ बातें सुनी थीं। पाठ्यक्रम में शामिल होने के नाते जयराज ने प्रेमचन्द्र, रेणु, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, टैगोर, गाँधी और मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों के बारे में पढ़ा था लेकिन साहित्य, समाज, धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति और गरीब-मजदूरों की ज़िन्दगी के बारे में मार्क्स, एंजल्स, लेनिन, स्टालिन, ट्राट्स्की, माओ, लूकाच, देरिदा, फूको, हो ची मिन्ह, फिदेल कास्त्रो, चारु मजूमदार, चेंग्वरा, नाजिम हिकमत, पॉब्लो नेरूदा, टॉल्स्टॉय, मायकोव्स्की, मक्सिम गोर्की, दोस्तोव्स्की और सोल्झेनित्सन जैसे तमाम नामों और दुनिया की बेहतरी के लिए उनके कार्यों और विचारों का परिचय जयराज को अनीस से ही

मिला था। अनीस को हॉस्टल में कुछ लड़के साथी या कामरेड कहते थे जबकि बाकी 'स्यूडो' या 'फर्जी मार्क्सिस्ट'। अनीस का कमरा ठीक उसके दिमाग की ही तरह भरा हुआ था—दुनिया-जहान की किताबें, पत्रिकाएँ, पम्फलेट्स, पोस्टर और मीर, गालिब, फ़ैज, अल्लामा इक़बाल, फिराक और फ़राज जैसे शायरों की गज़लों के ढेर सारे सी.डी. और कैसेट्स। हॉस्टल का कोई और कमरा इतना बेढंगा और अपनी क्षमता से ज़्यादा ठसा हुआ नहीं था जितना अनीस का। लकड़ी का तख्त कमरे से बाहर गैलरी में खड़ा था और फ़र्श पर दरियाँ बिछी हुई थीं जिन पर अनीस के अलावा अक्सर कुछ अजनबी चेहरे लेटे-बैटे, सिगरेट फूँकते मिलते थे। अनीस और उसके ये दोस्त जिस तरह की बातें करते उससे जयराज को लगता कि उन्हें पढ़ाई-लिखाई, इम्तहान, नौकरी से कुछ लेना-देना नहीं है लेकिन उसे यह बातें समझ में आने लगी थीं। खेती-किसानी, खाद-बीज, आलू, धान, गेहूँ की क्रीमों, दिहाड़ी-मजदूरी की बातें, पलायन-बेरोजगारी, सामन्ती-पूँजीवादी शोषण और सरकारी लूट के साथ अमरीकी साम्राज्यवाद और तीसरी दुनिया का भविष्य जैसी बातें जयराज को ऐसे लगतीं जैसे कहीं-न-कहीं ये लोग उसके गाँव घर-समाज के बारे में ही सोचते हैं। डायरी के अलग-अलग पन्नों पर ऐसी तमाम चर्चाएँ और उससे जुड़ी हुई अपनी राय जयराज ने नोट कर रखी थी। जयराज खुद उतना धार्मिक नहीं था कि अपने दूसरे ज़्यादातर साथियों की तरह अपने सपनों को साकार करने के लिए पूजा-पाठ करता या सिविल लाइन स्थित हनुमान मन्दिर में हर मंगलवार प्रसाद चढ़ाता लेकिन अनीस को मुसलमान होते हुए भी सिगरेट-शराब पीते और धर्म को सबसे बड़ा नशा कहते देख उसे विश्वास न होता। बचपन से जो संस्कार जयराज को मिले थे उससे कहीं-न-कहीं उसे यक़ीन था कि धर्म व्यक्ति को चरित्रवान और मानवीय बनाता है। मगर अनीस अपनी बहसों में नैतिक-अनैतिक, सही-ग़लत जैसे मूल्यों की बुनियादी मान्यताओं को ही ख़राब कर डालता था। अनीस की बातें जयराज को अर्थहीन लगती थीं लेकिन उसके पास उन्हें काटने के लिए तर्क नहीं होता था।

जयराज को पता भी नहीं चला कि कब वह अपने पढ़ने-लिखने वाले दोस्तों की सोहबत से अलग अनीस और उसकी मंडली का हिस्सा बन गया। सवालियों, संवेदनाओं, बहसों और विचारों की यह दुनिया जयराज को अच्छी लगने लगी थी। उसके सपनों का रंग बदलने लगा था। इस मंडली में बैठकर

ही जयराज ने जाना कि अनीस 'स्टूडेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया' नामक एक छात्र संगठन से जुड़ा हुआ है जिसके सदस्य अक्सर खेतिहर मजदूरों और फैक्ट्री कामगारों के साथ ही समाजवाद, पूँजीवाद और फासीवाद के बारे में बातें करते हैं। जयराज को यूनिवर्सिटी में रहते हुए ये सब बातें ग़ैरज़रूरी और हैरान करने वाली लगतीं। धीरे-धीरे उसने जाना कि यूनिवर्सिटी में इसी तरह के कुछ दूसरे संगठन भी थे जो ठीक वैसा और वही सब बातें करते थे जैसी अनीस करता है लेकिन अनीस अपनी बातों में इन संगठनों और उनसे जुड़े हुए छात्रों की आलोचना करता था। जयराज ने कई दफे अनीस से जानना चाहा कि आखिर इन सब संगठनों में फ़र्क क्या है? अनीस ने घंटों तमाम नज़ीरें दे-देकर जयराज को यह फ़र्क समझाने की कोशिश की पर शायद जयराज ही अपने तमाम फोकस और ध्यान के बावजूद समझ नहीं सका था ये फ़र्क। जयराज ने अपने इस कन्स्यूजन का उल्लेख डायरी में हर उस जगह कर रखा था जहाँ-जहाँ उसने अनीस का जिक्र किया था। अनीस की बातों और यूनिवर्सिटी की दीवारों पर लिखे हुए नारों से जयराज को यह भी पता चल गया था कि कैम्पस में राष्ट्रीय छात्र संघ और विद्यार्थी परिषद जैसे दूसरे संगठन भी थे जिनसे ज़्यादा छात्र-छात्राएँ जुड़े हुए थे। इन संगठनों से जुड़े हुए छात्र-छात्राएँ अनीस और उसके कामरेडों की तुलना में काफी साफ-सुथरे, स्वस्थ, प्रसन्न और निश्चिन्त दिखते थे। जयराज इस पर अक्सर सोचता। वह सोचता कि आखिर इतने संगठनों की ज़रूरत कैम्पस में क्यों है? आखिर किन लोगों ने इन संगठनों को बनाया है? इन सबका वास्तविक मकसद क्या है? जयराज ने अपनी डायरी में एक जगह लिख रखा था "यह सब बड़ा कन्स्यूजिंग है। पढ़ाई-लिखाई से राजनीति का क्या वास्ता? इन सबको इनके माँ-बाप कुछ कहते नहीं? इन्हें अपने कार्यक्रमों और बैनर-पोस्टर-पम्फलेट के लिए पैसा कहाँ से मिलता है? अगर ये सब संगठन छात्रों के भविष्य और शिक्षा की बेहतरी के लिए परेशान हैं तो यूनिवर्सिटी की हालत ऐसी खस्ता क्यों है? कक्षाएँ क्यों नहीं होती? आए दिन कर्मचारियों की हड़ताल कैसे रहती है? इतने छात्र-छात्राएँ जो 'डेलीगेंसी' में रहते हैं उनके लिए हॉस्टल क्यों नहीं बनते?" जयराज उस मनःस्थिति में लौटने की कोशिश कर रहा था जब उसने ये सब अपनी डायरी पर लिखा था।

वह एक गुज़रा हुआ ज़माना था जिसे जयराज फिर से लम्हा-लम्हा जीने की कोशिश कर रहा था। यह कोशिश रूमानियत से भरी हुई थी लेकिन थकाऊ भी कम न थी। जयराज ने डायरी एक

किनारे रख कर जोर की अँगड़ाई ली और अपने आपको दरी पर लम्बा कर दिया। वह लेटे-लेटे इस शहर में बितायी हुई अपनी बदहवाश ज़िन्दगी के बारे में सोचता रहा लेकिन सबसे ज्यादा उसकी स्मृतियाँ जहाँ उसे ले जा रही थीं वह थी नसीम से उसकी मुलाकात और नसीम के साथ उसके रिश्तों का सफरनामा।

नसीम से उसकी मुलाकात अनीस ने ही करायी थी। अनीस के कमरे में जमने वाली महफिलों में आने वाले तमाम छात्रों, पत्रकारों, रंगकर्मियों और किसान-कामगारों के बीच काम करने वाले साथियों से जयराज खुद मिल चुका था। बहुत कम ऐसे लोग थे जिनसे बाकायदा अनीस ने उसका परिचय कराया था। जिस शहर में जयराज था वह उतना बड़ा नहीं था कि लड़कियाँ, लड़कों के हॉस्टल में बिना खबर बने आ सकें लेकिन नसीम का अनीस के कमरे में आना और वहाँ की अमूमन मर्दाना बैठकों में शिरकत करना एक पुरानी खबर जैसा था। अनीस ने एक दिन जयराज को नसीम का परिचय देते हुए कहा था, “जयराज इनसे मिलो, ये हैं कामरेड नसीम। पार्टी का सबसे बहादुर लीडर। इनकी वजह से ही यह ज़हनी तौर पर पिछड़ा शहर तरक्की पसन्द लगता है।” यह कहकर अनीस ने नसीम की ओर एक मानीखेज नज़र डाली थी। जयराज को अनीस के इस आखिरी वाक्य का अर्थ समझ में नहीं आया था। वह कुछ जिज्ञासा और कुछ झिझक से बारी-बारी अनीस और नसीम को देखता रहा। नसीम ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। थोड़ी देर में ही उसने बगल में सिगरेट फूँक रहे एक साथी से सिगरेट लेकर एक कश मारी और धुएँ को अनीस के मुँह की तरफ उछाल दिया। जयराज ने इससे पहले किसी भी लड़की को सिगरेट पीते नहीं देखा था। वह जिन संस्कारों में पला-बढ़ा था उसमें पान-बीड़ी-सिगरेट-शराब सब पतन के सोपान बताए गए थे। लड़कों के लिए भी यह सब वर्जित था। लड़कियों के लिए तो इनके बारे में सोचना भी हिमाकत समझा जाता था। मगर नसीम को इस तरह लड़कों के हॉस्टल में अकेले तमाम लड़कों के बीच बैठ सिगरेट फूँकते देखना जयराज के लिए ज़िन्दगी का एक बड़ा वाकया था। जयराज को अनीस के आखिरी वाक्य का मतलब समझ में आ गया था। नसीम ने दो-तीन कश लेते हुए सिगरेट जयराज की ओर बढ़ाई और कुछ इस तरह मुस्करायी कि जयराज के मन में एक सिहरन दौड़ गयी। जयराज ने ‘न’ में सिर हिलाया। अनीस ने चुटकी ली ‘ले लो यार। कैसे कामरेड हो। इतनी बड़ी पेशकश

तुकरा रहे हो। आखिर कब तक दकियानूस मजहबी संस्कारों का लबादा दोओगे।’ ऐसे जुमले अनीस और उसके साथियों ने पहले भी जयराज के सामने उछाले थे मगर आज जयराज ने सिगरेट थाम ली थी। शायद नसीम की मुस्कराहट का असर हुआ था। हालाँकि एक फूँक के बाद ही तम्बाकू और धुएँ की तासीर से उसे खाँसी का ऐसा सिलसिला पड़ा कि आँखों में पानी आ गया। जयराज ने डायरी में इस घटना का जिक्र बड़े रोमांटिक अन्दाज में किया था।

‘जाने उस दुबली-पतली लड़की में क्या था? यह उसकी आँखों की चमक थी या उसकी खनकती मुस्कान, मैंने सिगरेट थाम ली और उसके साथ ही बचपन से ओढ़ा हुआ दकियानूस मजहबी संस्कारों का लबादा उतार फेंका। इस लड़की की आँखों में कुछ वैसा है जैसा अब तक मुझे कहीं और नहीं दिखा।’

इस मुलाकात के बाद नसीम से जाने कितनी मुलाकातें हुईं जयराज की। पार्टी की बैठकों, सेमिनारों, दूसरे सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अलावा यँ भी कभी-कभार कैम्पस में टकरा जाने पर नसीम जयराज से कुछ देर बात ज़रूर करती थी। जयराज को धीरे-धीरे नसीम के साथ बैठना, बातें करना अच्छा लगने लगा था। नसीम उसे कामरेड जयराज कहने लगी थी। जयराज ने एक बार अकेले में नसीम से पूछा था, “नसीम आप मुझे कामरेड क्यों कहती हैं?” नसीम ने फिर मुस्कराती आँखों से उसकी ओर देखा था, “क्यों जयराज, बोलूँ?” जयराज चुप रहा। थोड़ी देर बाद नसीम ने ही जवाब दिया, “ज़िन्दगी के लिए साथ मिलकर लड़ने वालों को कामरेड कहते हैं माई डियर!” और यह कहकर नसीम जयराज से हाथ मिलाकर अपनी राह निकल पड़ी थी। जयराज वहीं देर तक खड़ा सोचता रहा था कि आखिर ज़िन्दगी की वह कौन-सी लड़ाई है जो वह नसीम के साथ मिलकर लड़ रहा है। नसीम का यह जवाब फिर जयराज को आगे कई दिनों तक उलझाए रहा।

नसीम जयराज से दो-तीन बरस बड़ी थी। मगर उससे बातचीत या मुलाकात में जयराज को इस बड़प्पन का बिल्कुल भी अहसास नहीं होता था। वह यूनिवर्सिटी के इकलौते गर्ल्स हॉस्टल में रहती थी। यूनिवर्सिटी में मुसलमानों छात्रों के लिए अलग हॉस्टल था लेकिन लड़कियों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसका कारण यह भी था कि यूनिवर्सिटी में गिनी-चुनी मुस्लिम लड़कियाँ ही पढ़ती थीं। अगर होता भी तो शायद नसीम उसमें न रहती ठीक वैसे जैसे अनीस मुस्लिम हॉस्टल में नहीं रहता था। जयराज के हॉस्टल में अनीस के अलावा और कोई मुसलमान छात्र नहीं था। हॉस्टल

के ज़्यादातर छात्र जहाँ अनीस से दूरी बनाए रखते थे वहीं मुस्लिम हॉस्टल के छात्र भी उसे अपनी जमात से बाहर मानते थे। जयराज को भी शुरू-शुरू में यह अजीब लगता था कि अनीस के अलावा दूसरा कोई मुसलमान छात्र उस हॉस्टल में नहीं था। बाद में उसे पता चला कि अनीस ने दाखिले के समय खुद को मुस्लिम हॉस्टल भेजे जाने का विरोध किया था। यूनिवर्सिटी मैनेजमेंट ने जब अनीस को दूसरा हॉस्टल देने से इनकार कर दिया तो अनीस ने वाइस चांसलर के दफ्तर के आगे धरना दे दिया। अनीस का सवाल सीधा था, “जब ईसाई, पारसी, सिख, जैन मायनॉरिटी छात्रों के लिए दूसरा हॉस्टल नहीं है तो मुसलमानों के लिए क्यों? दूसरा संविधान और दूसरा मुल्क नहीं तो दूसरा हॉस्टल क्यों?” अनीस की ज़िद थी “पहचान मजहब और जात से नहीं होगी, काबिलियत से होगी। अगर वह दूसरे हॉस्टल में दाखिले के लिए ज़रूरी मेरिट रखता है तो फिर उसे दाखिले से इनकार नहीं किया जा सकता।” कैम्पस में वह अनीस की पहली लड़ाई थी और वहीं से यूनिवर्सिटी में एस.एफ.आई. यूनिट की बुनियाद पड़ी थी। अनीस के समर्थन में तमाम छात्र-छात्राएँ आए थे। पूरे महीने भर चला था वह धरना। कैम्पस से लेकर पूरे देश में मुसलमानों की स्थिति और उनके अधिकारों पर अखबारों ने टिप्पणियाँ छापीं। कर्मचारियों और यूनिवर्सिटी शिक्षकों के एक तबके ने भी अनीस की माँग का समर्थन किया तब कहीं जाकर यूनिवर्सिटी के बाइलाज़ में संशोधन कर अनीस को दूसरा हॉस्टल दिया गया। उससे पहले यह मुमकिन नहीं था। मुसलमान छात्रों को मुस्लिम हॉस्टल। कमरा खाली न होने पर इन्तज़ार के सिवाय दूसरा उपाय नहीं था।

अनीस की इस लड़ाई का फायदा बाद में दूसरे कई मुस्लिम छात्रों को मिला। नसीम को यह लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी थी लेकिन अपने पहनावे-ओढ़ावे, रहन-सहन खासकर लड़कों की बेलाग सोहबत और सिगरेट फूँकने के कारण उसे हॉस्टल की दूसरी लड़कियाँ ऐसे देखतीं जैसे उसकी वजह से गर्ल्स हॉस्टल का चरित्र खराब हो रहा हो। जयराज ने कई बार लड़के-लड़कियों को रस लेकर नसीम का चरित्र-चित्रण करते सुना था। नसीम अक्सर गर्ल्स हॉस्टल के गेट पर अपने पुरुष-मित्रों के साथ गप्प लड़ाते और सिगरेट फूँकते दिख जाती थी। उसे पता रहता था कि हर आने-जाने वाला उसकी इस दुस्साहसिक उपस्थिति को नोट कर रहा होता है और वह चाहती थी कि यूनिवर्सिटी ही नहीं उस समूचे शहर का हर व्यक्ति उसकी इस

हरकत को नोट करे।

जयराज ने एक बार नसीम को उसके बारे में कुछ छात्र-छात्राओं की राय की जानकारी दी। नसीम ने अपनी निश्चल मुस्कान के साथ जयराज के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा था, “कामरेड! अगर राय की ही परवाह होती तो ये नसीम खुली हवा में साँस न ले रही होती। धूप में ये मेरे बाल न लहरा रहे होते। ये नसीम भी लाखों नसीमों की तरह जहालत और मजहबी लिहाज का काला बुरका ओढ़े गूँगी बैठी होती। और फिर दिन-रात, स्याह-सफ़ेद के क्या मानी।” जयराज खामोश था। डायरी में जहाँ यह घटना नोट थी उसी के नीचे नसीम का यह सवाल भी दर्ज था ‘जयराज! तुम कभी मुस्लिम बस्तियों में गए हो? तुमने कभी किसी मुस्लिम लड़की को अपने धुले बाल सुनहरी धूप या बहती बयार में सुखाते देखा है?’ जयराज फिर बड़ी दूर तक अपनी स्मृतियों में इस सवाल का जवाब तलाशता रहा था— यह जानते हुए भी कि उसके पास इसका एक ही जवाब था— “नहीं।”

एक बार जयराज नसीम से मिलने गर्ल्स हॉस्टल गया था। वहाँ लड़कियों से मुलाकात के कुछ नियम थे। सप्ताह में मिलने के दो दिन तय थे। उन दिनों शाम को दो घंटे के बीच बाकायदा मुलाकाती रजिस्टर में नाम, पता और मुलाकात का मकसद नोट कर किसी लड़की से मिला जा सकता था। लड़की के परिजनों अथवा अभिभावकों के लिए विशेष कार्ड बनाए जाते थे जिन पर लड़की से रिश्ते का उल्लेख होता था। प्रत्येक लड़की ऐसे दो कार्ड बनवा सकती थी। ऐसे बरीयता प्राप्त कार्डधारक सप्ताह में किसी भी दिन निर्धारित दो घंटे के बीच लड़की से मुलाकात कर सकते थे। उन दिनों मोबाइल फोन नहीं होते थे अतः लड़की तक मुलाकात की पर्ची हॉस्टल का ही कोई कर्मचारी या दूसरी कोई लड़की ले जाकर देती थी। अनीस और उसके कुछ साथियों को कैम्पस में पॉलिटिक्स करने के जुर्म में एक बार पुलिस ने गिरफ्तार कर जेल भेजा था। जयराज भी अनीस से मिलने जेल गया था। अपने उस अनुभव की याद करते हुए जयराज ने डायरी में नोट किया था, “आश्चर्य है। लड़कियों से मुलाकात की यह व्यवस्था ठीक वैसी ही है जैसी जेल में कैदियों से मुलाकात की। कैदियों से समाज को खतरा रहता है। क्या लड़कियों से भी कैम्पस को खतरा है? जयराज ने नसीम से इस व्यवस्था पर चुटकी ली थी, “आखिर आप लड़कियों को हम लड़कों से इतना खतरा क्यों हैं?” नसीम ने आँखों की चमक बिखेरते हुए कहा, “माई

डियर। खतरा हमें आपसे नहीं है। दरअसल आपको ही हमसे खतरा है। ये समाज और यूनिवर्सिटी मैनेजमेंट यह मानता है कि लड़कियों को लड़कों से मिलने-जुलने की आजादी मिल गयी तो फिर लड़कों का पढ़ाई-लिखाई में मन नहीं लगेगा। वे इश्क-विश्क के चक्कर में पड़ जाएँगे। तुम्हारा यह मेल शोविनिस्ट समाज मानता है कि लड़कों को बिगाड़ने वाली लड़कियाँ ही होती हैं इसलिए उन पर नज़र रखो।” नसीम ने गहरी साँस ली थी। फिर थोड़ी देर बाद जोड़ा था, “जयराज। तुम्हें पता है मुसलमान लोग अपनी औरतों को बुरका पहनने के लिए मजबूर क्यों करते हैं?” जयराज ने ‘न’ में सिर हिलाया था। इस पर नसीम ने दूसरा सवाल किया था, “तुम्हारे बाप अपनी बेटियों और तुम अपनी बहनों पर बचपन से ही नज़र क्यों रखते हो? क्यों नहीं रात-बिरात, देर-सबेर उन्हें बाहर आने जाने देते जयराज? जब देश में लड़कियों की आबादी लड़कों के बराबर है तो तुम्हारी यूनिवर्सिटी में उनकी तादाद लड़कों की तुलना में दस फीसदी से भी कम क्यों है?” जयराज को पता नहीं था कि उसकी चुहल इतना गम्भीर रुख अख्तियार कर लेगी। जयराज के पास नसीम की किसी बात का कोई जवाब नहीं था। उस मुलाकात में सिर्फ नसीम ही बोलती रही थी।

इस मुलाकात के कुछ रोज बाद गर्ल्स हॉस्टल में नसीम की अगुवाई में लड़कियों ने एक आन्दोलन छेड़ा था जिसमें मुलाकात का समय सप्ताह के सभी दिन दो घंटे से बढ़ाकर चार घंटे करने की माँगें प्रमुख थी। इस आन्दोलन को कुछ ही रोज में आधे से ज़्यादा लड़कियों का समर्थन मिला। लड़कियों ने भूख हड़ताल से लेकर वार्डन के आफिस में तालाबन्दी तक की तब कहीं जाकर माँगें मानी गईं। इस आन्दोलन की नेता नसीम को भले ही यूनिवर्सिटी की तरफ से हॉस्टल से निकाले जाने का नोटिस मिला हो लेकिन हॉस्टल की ज़्यादातर लड़कियों ने नसीम को बड़ी दीदी का मान देना शुरू कर दिया। मगर जयराज ने देखा था कि जब भी कोई लड़की नसीम को दीदी बोलती, नसीम कहती “दीदी नहीं। कामरेड बोलो। ज़िन्दगी की लड़ाई साथ मिलकर लड़ने वाले साथी।”

पता नहीं यह ज़िन्दगी की लड़ाई का तकाजा था या अनीस और नसीम की सोहबत का असर, जयराज अपने आपको कामरेड मानने लगा। उसके मन में भी देश के दूसरे शहरों और दुनिया के दूसरे देशों में चल रही ज़िन्दगी की लड़ाइयों को जानने की इच्छा बढ़ चली। उसके साथ ही शुरू हुआ

विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों से साक्षात्कार का अन्तहीन सिलसिला। जयराज जितना इस सिलसिले से वाकिफ़ होता जा रहा था, संगठन के कामों में भी उसकी व्यस्तता बढ़ती जा रही थी। अनीस संगठन की स्थानीय ईकाई का मुखिया था। ज़्यादातर उसके निर्देशन में ही संगठन की गतिविधियाँ होती थीं। वैसे अनीस, नसीम, जयराज और दूसरे कुछ पुराने साथियों से विचार-विमर्श के बाद ही कार्यक्रम तय करता था। जयराज की कोशिश यह होती थी कि उसे जो भी काम दिया जाए, नसीम के साथ दिया जाए। नसीम जयराज की इस कोशिश को समझने लगी थी और कहीं-न-कहीं उसे यह कोशिश अच्छी भी लगने लगी थी। जयराज को याद आ रहा था कि नसीम कभी-कभार अचानक उसकी आँखों में झौंकते हुए कहती, “कामरेड। ज़िन्दगी की लड़ाई बड़ी मुश्किल है। आखिर तक लड़ना पड़ेगा। लड़ोगे?” जयराज जब तक इन शब्दों के अर्थ तलाशता तब तक नसीम की आँखों में चमक और होठों पर मुस्कान तैर आती। फिर जयराज इस मुस्कान और चमक में भटक जाता। पहले यह भटकना कभी-कभार होता था, फिर अक्सर होने लगा। जयराज अपनी इस भटकन को दुनिया भर से छिपाना चाहता था जाने क्यों।

जयराज एक के बाद एक डायरी के पन्ने बेतरतीब पलट रहा था। बीच-बीच में घर से आने वाली चिट्ठियों का भी हवाला था। बाबा की चिट्ठियाँ बिना नागा लगभग हर महीने आती थीं। सबमें लगभग एक ही तरह की बातें रहती थीं। परिवार की उम्मीदें, घर की परेशानियाँ और गाँव में किसी के मरने आदि का ज़िक्र। बाबा पढ़ाई-लिखाई में मन लगाने और अपनी सेहत का ख्याल रखने की नसीहत देना नहीं भूलते थे। जयराज का जवाब देने का मन नहीं होता था फिर भी बाबा और अम्मा की खुशी के लिए कुछ लिख कर भेज देता था। वह जानता था कि उसके सपनों ने जो करवट ली है उसे बाबा-अम्मा को नहीं समझाया जा सकता। बाबा की चिट्ठी के सन्दर्भ में ही जयराज ने एक जगह लिख रखा था, “यह उम्मीद भी अजीब है। माँ-बाबा, रिश्तेदार, समाज सबको इतनी उम्मीदें हैं। कोई यह जानना नहीं चाहता कि ज़िन्दगी को हम सबसे क्या उम्मीदें हैं। और फिर हम सबकी भी तो कुछ उम्मीदें हैं ज़िन्दगी से।” जयराज उस समय अपने इस लिखे हुए को तफ़सील से सबको समझा नहीं सकता था लेकिन वह खुद समझता था कि किसी की उम्मीदों पर खरा उतरना कितना मुश्किल है।

जयराज ने एक जगह लिख रखा था “वो रास्ते महके हुए थे और वो शाम रोशनी से धुली। सुनहरे पंखों और मद्धम उड़ान वाले असंख्य पंछी उन सुन्दर पत्तों में सरगम घोल रहे थे जो अनायास ही ज़िन्दगी का अटूट हिस्सा बन गए थे।” डायरी में इसी अन्दाज़ में कुछ और वाक्य लिखे गए थे। कोई और पढ़ता तो शायद ही उन शब्दों की खूबसूरती की वजह और उन्हें पन्नों पर दर्ज कर इतिहास बनाने वाले का मन समझ पाता। जयराज ने इससे पहले भी अपने ही लिखे हुए इन शब्द को न जाने कितनी बार पढ़ा था। लेकिन आज उन शब्दों से जैसे ज़िन्दगी की लड़ाई जारी रखने का हौसला मिल रहा था। या जैसे गहराती हुई शाम के बीच कोई रोशनी फूट रही थी। जयराज ने नये सिरे से उस पूरे प्रसंग को फिर से याद किया।

वह शायद पार्टी कार्यकारिणी की बैठक थी। बैठक में देश में बदलते सियासी हालात पर चर्चा हुई थी। कैम्पस में बढ़ती जातिवादी, सामन्तवादी और फासीवादी गतिविधियों का पुरजोर प्रतिवाद करने का संकल्प भी लिया गया था। पार्टी में नये छात्र-छात्राओं को जोड़ने की एक मुहिम चलाने का जिम्मा भी जयराज और नसीम को सौंपा गया था। जयराज को पूरी बैठक की कारगुजारी सिलसिलेवार याद थी क्योंकि उसने इसे न जाने कितनी बार याद किया था। शायद उसे याद करना पड़ा था क्योंकि इस बैठक के समाप्त होने पर नसीम ने उसे अपने साथ हॉस्टल तक चलने को कहा था। जयराज बिना कुछ कहे चल पड़ा था। नसीम ने कैम्पस से बाहर निकल एक रिक्शे को आवाज़ दी थी। जयराज को तब थोड़ी हैरानी हुई थी क्योंकि अमूमन नसीम पैदल ही हॉस्टल जाती थी पहले कई बार जयराज नसीम के साथ कैम्पस से उसके हॉस्टल तक चहलकदमी करता हुआ गया था। यह दूरी रिक्शे की दूरी नहीं थी। रिक्शे पर बैठने तक जयराज चुप था। नसीम ने रिक्शेवाले से कहा था, “भइया! संगम की ओर ले चलो।” जयराज ने तब नसीम की ओर एक साथ कई सवालों से भरी निगाह डाली थी। नसीम अपने परिचित अन्दाज़ में मुस्कराया थी और जयराज की पीठ पर हाथ रखते हुए कहा था, “घबराओ नहीं कामरेड! भगाकर नहीं ले जा रही हूँ। फिर जयराज रास्ते भर खामोश रहा। नसीम बोलती रही। नसीम की बातों में आज शहर की शामों का ज़िक्र था। शहर की मशहूर मिठाइयों और पानी बताशे का ज़िक्र था। नसीम यह भी कह रही थी कि उन रास्तों पर वह पहले कब गुज़री थी रिक्शे से। और यह भी कि शहर की इस खूबसूरती की और क्या-क्या वजहें हैं। जयराज

सिर्फ़ एक सम्मोहित साथी की तरह नसीम की बातों और उसके स्पर्श की गन्ध में डूबा हुआ था। मील भर लम्बा रास्ता गहरी साँस लेते-लेते खत्म हो गया था। जयराज अभी भी इस अनियोजित यात्रा का मकसद नहीं समझ पा रहा था। तट पर उतरकर नसीम ने जयराज का हाथ पकड़ा और बोली, “कामरेड लहरों पर चलें।” जयराज कुछ बोलता इससे पहले ही नसीम ने एक नाव बुला ली थी। जयराज को नसीम के इस व्यवहार पर हैरानी हो रही थी और उसका मन ज़ोर-ज़ोर से हँसने का हो रहा था। मगर वह सिर्फ़ मुस्करा कर रहा गया था। नसीम से अलग उसकी कोई मंशा नहीं हो सकती थी। देखते-देखते नाव नदी की गोद में थी। नसीम ने अपने बालों को भीगी हुई हवा के हवाले कर दिया और जयराज का हाथ अपनी दोनों हथेलियों में समेट लिया। छोटी सफ़ेद बतखों और सीगुल पक्षियों के एक झुंड को उड़ाती हुई नाव लहरों पर तैर चली थी। यूँ नदी में अनगिनत नावें थीं। उन पर तमाम लोग भी थे लेकिन जयराज और नसीम के लिए उनका कोई वजूद न था। उस शाम संगम पर अगर उन दोनों के अलावा कुछ था तो वह गुनगुनाते पक्षियों का मेला था। नसीम के बालों और जयराज की साँसों को महकाती हवा थी। उछलती, नाचती हुई लहरें थीं। तट पर टिमटिमाते हुए दीप थे। ऊपर साँवला होता हुआ आकाश था और शाम की ठंडक उनके चेहरों पर गुलाब जल छिड़क रही थी।

जयराज नसीम को एकटक देखे जा रहा था और मुस्करा रहा था। नसीम एक बच्चे की तरह खिली हुई थी। अपना एक हाथ झुक कर लहरों से भिगोते हुए उसने जयराज से पूछा था, “जय! तुमने इतनी ताज़ा ठंडक कहीं और महसूस की है जितनी इन लहरों में है?” जयराज ने नसीम के बदले हुए सम्बोधन को महसूस किया था। नसीम ने फिर पूछा, “जय! तुम इन लहरों पर उतर सकते हो? इनमें इतना आकर्षण है कि मैं खुद को रोक नहीं पा रही हूँ। जी करता है तुम्हारा हाथ पकड़ते हुए छलाँग लगा दूँ। फिर सोचती हूँ कि अपने पागलपन के लिए तुम जैसे भोले-भाले दोस्त की जान क्यों लूँ।” इतना कहकर नसीम खिलखिलाकर हँसी थी। जयराज ने नसीम के चेहरे पर उड़ रहे उसके बालों को हटाते हुए कुछ कहना चाहा था। शायद यह कि वह नसीम के साथ लहरों पर उतरने को तैयार है। मगर उसके मुँह से कुछ और ही निकला, “नसीम आज इस खुशी की कोई खास वजह?” जयराज ने जैसे नसीम के बदले हुए मिजाज़ की वजह खुद समझ पाने में नाकाम होकर नसीम से ही जानना चाहता था। नसीम ने

आसमान की ओर देखते हुए थोड़ी देर में कहा था, “जय! कई बार खुशी की कोई वजह नहीं होती और कई बार उदासी का डर भी खुश होने को मजबूर करता है।” जयराज नसीम के इस आखिरी वाक्य का पूरा अर्थ नहीं समझ सका था। लेकिन उसकी चर्चा करके वह उन खुशगवार लम्हों को उदास नहीं करना चाहता था। उसने बात दूसरी ओर मोड़ी, “नसीम! तुम्हें आज हॉस्टल लौटने में देर नहीं हो रही है?” नसीम ने जयराज की ओर कुछ इस तरह देखा था कि जयराज को अपना सवाल बेहद ग़ैर-ज़रूरी लगा था। नसीम ने नाव वाले को किनारे लौटने को तो कहा लेकिन जयराज की ओर देखकर कहा, “देर तो हो चुकी है कामरेड! और अब लौटना चाहता भी कौन है! किसके लिए लौटूँ जल्दी, बताओ?” जयराज चुप रहा। सब पंछी भी चुप थे। समय के बुलबुले लहरों पर तैर रहे थे। वापसी में कोई कुछ खास नहीं बोला। कभी नसीम जयराज की हथेली पर कुछ अबूझ लिख देती और कभी जयराज नसीम के बालों की लट उसके चेहरे से सहेज कर कान के पीछे कर देता।

हॉस्टल के गेट पर पहुँचकर नसीम ने जयराज से हाथ मिलाया। अन्दर जाने को मुड़ी। थोड़ी दूर जाकर फिर वापस हुई। पास आकर जयराज से कहा, “कामरेड! ज़िन्दगी की ये लड़ाई ज़िन्दगी भर साथ मिलकर लड़ोगे? उदासी की ये सलीबें थोड़ी हल्की हो जाएँगी।” नसीम जयराज को जवाब का मौका दिए बग़ैर ही वापस जा चुकी थी।

जयराज इतने बरस बीतने के बाद भी नसीम के साथ गुजारी उस शाम की भूलभुलैया से निकल नहीं सका था। बाहर की खुली वीरान सड़क पर तनहा चलने की ऊब के कारण शायद वह निकलना चाहता भी नहीं था।

आने वाले दिन ठंड के ज़रूर थे लेकिन ज़िन्दगी की उमस मौसम पर भारी पड़ रही थी। शहर की सड़कें भगवा जुलूसों, कीर्तन मंडली के शोर और राष्ट्रभक्तों के प्रमाद से पटी पड़ी थीं। जयराज ने डायरी पर लाल स्याही से लिखा था, “आम शहरी के लिए यह रतजगे का दौर है और स्वयंसेवकों के लिए रात्रिजागरण का। केसरिया झुंड-के-झुंड घर-दुकान घूम-घूम कर अपने अभियान के लिए चन्दा वसूल रहे हैं। सिर्फ़ एक रुपया देकर कोई भी शुद्ध हिन्दू और प्रखर राष्ट्रभक्त हो सकता है।”

एक-एक कर डायरी के पन्ने पलटते, पढ़ते जयराज बीते देश-काल को फिर से निर्मित कर रहा था। समाज में धार्मिक उन्माद की एक चिंगारी

परच रही थी जिसे मुल्क के हुक्मरान और तमाम सियासी खेमे अपने-अपने लिहाज से हवा देने में लगे हुए थे। कैम्पस में भी धर्म, आचरण, राष्ट्रीय-चरित्र, राष्ट्र-प्रेम, साम्प्रदायिक सौहार्द और फिरकापरस्ती पर बहस चलने लगी थी। कुछ छात्र संगठन जहाँ अपने आयोजनों और यात्राओं से राष्ट्रवाद की अलख जगा रहे थे वहीं कुछ दूसरे सभ्यता के सहिष्णु इतिहास और सामन्तवादी विरासत की समसामयिक व्याख्या कर रहे थे। अनीस उन दिनों अपने भाषणों और भंगिमाओं में कुछ ज़्यादा ही व्यग्र दिखने लगा था। जयराज को भी लगने लगा था कि देश की राजनीति कुछ ऐसे सवाल और मुद्दों को लेकर गरम हो चली थी जिससे आम जनता, खेत-मजदूर, किसान, व्यापारी, स्टूडेंट का कोई फायदा नहीं लेकिन उनसे वह बुरी तरह प्रभावित हो रहा था।

उसके शहर में राजनीतिक दलों और कुछ स्वयं-सेवी संगठनों के बड़े-बड़े नेताओं के कार्यक्रम होने लगे। कार्यक्रम कैम्पस में भी हुए। सबके भाषणों और तकरीरों में कुछ बनाने की 'ज़िद' थी तो बहुत कुछ तोड़ने का 'संकल्प'। शहर के गली, चौराहों, दुकान, सड़क यहाँ तक कि हॉस्टल की मेस में भी इसी ज़िद और संकल्प के चर्चे चल रहे थे। शहर में जैसे देखते-ही-देखते भिंके जबड़ों, खौफनाक आँखों, धारदार तिलक और खतरनाक भंगिमाओं वाले चेहरों की भरमार हो गयी थी। जयराज को यक़ीन ही नहीं हो रहा था कि ये सब वही चेहरे हैं जो पहले भी उसके आस-पास दिखते थे। आज ये चेहरे बिल्कुल अजनबी लगने लगे थे। उनकी बातों के पंख पर सवार हो उनके इरादे हवा में उड़ रहे थे। मौसम कुछ ऐसे बदल रहा था कि सामान्य बातचीत भी सनसनीखेज लगने लगी थी।

अनीस के कहने पर नसीम और जयराज ने कैम्पस और हॉस्टलों में कुछ कार्यक्रम किए थे जिसमें समाज में ज़हर फैलाने वाली कोशिशों से सावधान रहने और ऐसी ताकतों को पहचानने की अपील की गयी थी। पर कहीं-न-कहीं जयराज को लग रहा था कि अनीस, नसीम और उसकी तुलना में दूसरे खेमे की तैयारियाँ अधिक थीं। उनके पास लोग भी ज़्यादा थे और ऐसा लगता था जैसे उनकी बातें भी लोगों को ज़्यादा कनविंसिंग लगती थीं। कम-से-कम उनके झुंड और आक्रामक तेवरों से तो ऐसा ही लगता था। तैयारी जैसे मुल्क के हज़ार साल के ताने-बाने को झिंझोड़कर रख देने की थी। अनीस इसे फासीवादी उधार कहता था, समाज और मुल्क को एक साथ तोड़ने की कोशिश जिसे हुक्मरानों का खुला समर्थन था। उसके लिए

यह ज़िन्दगी की लड़ाई का सबसे मुश्किल दौर था।

जयराज ने डायरी में ऐसे कुछ प्रतिरोध मार्चों और सर्वधर्म प्रार्थना सभाओं का जिक्र किया था जिसमें वह नसीम के साथ शामिल हुआ था। नसीम का कहा यह वाक्य कि 'सबकी प्रार्थनाएँ अल्लाह कहाँ सुनता है!' जयराज ने डायरी में दर्ज किया था। नसीम ने जयराज से उन दिनों कहा था, "कामरेड! जब तक यह मजहब और धर्म की घुट्टी हमारी दादी-नानियाँ और पंडित-मौलवी बच्चों को पिलाते रहेंगे, फिरकापरस्ती का यह सियासी तमाशा चलता रहेगा। ये मदारी इसी तरह डमरू बजाते रहेंगे और जनता जमूरे की तरह नाचती रहेगी।" जयराज ने उन दिनों की काफ़ी बातों का उल्लेख डायरी में किया था तो भी सब बातें नहीं लिखी जा सकती थीं। जो कुछ भी लिखने से छूट गया था वह समय के पन्नों पर हमेशा के लिए दर्ज हो गया था और जयराज की स्मृति में भी। जयराज अपनी उसी स्मृति का सिरा थामे अतीत की काली गुफाओं में भटक रहा था।

अखबारों और टेलीविज़न के जरिये वह सब पता चल रहा था जो मुल्क के दूसरे शहरों, क़स्बों और गाँवों में घट रहा था। जो हालत जयराज, नसीम और अनीस के शहर की थी वही देश के दूसरे मुल्कों की भी। ईश्वर ने एक बार फिर अपने भक्तों को किसी पवित्र मिशन के लिए तैयार किया था। गाँवों, खेतों, क़स्बों और शहरों को रौंदता हुआ भक्तों और सेवकों का रेल मिशन पर निकला था। जो सच्चे देशभक्त और धर्मप्राण थे जिनका खून प्रवचनों, जयकारों और मातृभूमि के नाम पर खौल उठता था, वे इस रेल में शामिल थे। जो साधन सम्पन्न थे वे भक्तों की सेवा कर रहे थे। वे इस पवित्र संकल्प यात्रा को सुखकर बनाने के लिए रास्तों में पूरी-कचौरी, हलुआ-मिठाई का पंडाल सजाए दिन-रात सक्रिय थे। बाकी बचे हुए देशवासियों में से अधिकांश ईश्वर की आसन्न कृपा की आतुर अभिलाषा में घर बैठे भजन-कीर्तन में लीन थे। चन्द लोग जो और बचे हुए थे वे अपने घरों में दुबके हुए सलामती की दुआ कर रहे थे। उन्हें यक़ीन था कि ईश्वर के कहरे से सिर्फ़ अल्लाह ही बचा सकता है। हालाँकि वे सही नहीं थे। वे लोग जिस मुल्क में हज़ारों साल से रहते आए थे वहाँ ईश्वर हर लिहाज से अल्लाह से ताकतवर था। उसकी सेना बेहद खतरनाक थी। सरकारों भी उसी की मर्जी से बनती-गिरती थीं। इसलिए अल्लाह को हमेशा उसके सामने दबकर रहना होता था।

अनीस उन दिनों बदहवाश-सा शहर के एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में अपने कुछ साथियों के

साथ नुक्कड़ सभाएँ कर रहा था। जैसे भाग-दौड़कर, भाषणों और तकरीरों से सब कुछ बचाया जा सकता है।

दिन में सन्नाटे सनसनी फैलाते मगर रातें शोर-शराबे से भरी रहतीं। शहर के बाहर दूर अक्सर रातों में आग के बगूले उठते और फिर देर तक काले आसमान का एक टुकड़ा लाल धुएँ से घिरा रहता। शहर तक इस धुएँ की तपिश और गन्ध अगली सुबह ख़बरों के सहारे पहुँच पाती। ऐसी ही कुछ ख़बरों के सिरे थाम अनीस ने आसपास के गाँवों में जाकर हालात का जायजा लेने के लिए कुछ टीमें बनायी थीं। एक टीम में नसीम और कुछ दूसरे साथियों के साथ जयराज भी था।

जयराज ने अपनी डायरी का वह पन्ना खोल रखा था जिस पर नसीम के साथ शहर से तकरीबन पचास मील दूर एक बस्ती की यात्रा का जिक्र था— "दिन के ग्यारह बजकर तीस मिनट हुए थे। हमारी टीम जहाँ पहुँची थी वह सड़क के दोनों किनारे बसी एक पुरानी बस्ती थी। सड़क से निकल कर दूर तक गयी संकरी गलियों के किनारे एक-दो कोठरी या कमरों वाले कच्चे या अधपक्के मकान थे। एक जमाने में वह हाथ-कारीग़ों, कपड़ा शिल्पकारों और कताई-बुनाई करनेवाले हुनरमन्दों की बस्ती के नाम से मशहूर था लेकिन अब सरकारी मदद के अभाव और बाजारी छीन-झपट और मुनाफाखेरी की मार के चलते यह बस्ती दलालों और ठेकेदारों के लिए दिनरात हैंडलूम और चरखों पर अपनी उँगलियाँ काटने वाले जुलाहों की बस्ती थी। हमारी टीम जुलाहों की इसी बस्ती में पहुँची थी जिसे यहाँ के स्थानीय नेता, व्यापारी और अख़बारीजन मुसलमानों की बस्ती कहते थे।"

जयराज याद कर रहा था कि उनके पहुँचने पर बस्ती भरी दोपहर में कैसे वीरान लग रही थी। जो चन्द लोग दिख भी रहे थे वे उखड़े-उखड़े थे। उनकी आँखें टीम के अपरिचित चेहरों को बड़े सूखेपन से देख रही थीं। कई घरों के दरवाज़े, खिड़कियाँ बेहंगे तरह से जले हुए थे जिन पर पुराने चीथड़े या बोरे लटका कर परदा किया गया था। जले हुए सूत की गन्ध अभी भी हवा में बची हुई थी। तमाम घरों के बाहरी कमरों में लगे हुए हथकरघे और चरखे ऐसे टूटे हुए थे जैसे हिंसक भैंसों की लड़ाई की चपेट में आ गए हों। नसीम और जयराज ने खुद कई घरों में जाकर बात करने की कोशिश की थी लेकिन कोई कुछ बोलने को तैयार नहीं था। घर की औरतें बहुत पूछने पर फटी हुई आँखों से अपने बिखरे हुए घर को निहारने लगती थीं। लौटते हुए नसीम ने जयराज से कहा

था, “कामरेड! चुप्पी को चीखते हुए सुना है कभी? नहीं सुना तो आज रात यहाँ रुक कर सुन लो। दिन में अधूरी दिखने वाली ये दास्तान पूरी-की-पूरी समझ में आ जाएगी।”

कुछ ही रोज़ पहले एक रात बस्ती में जो कुछ घटा था उसके तमाम सुराग जयराज और उसके साथियों ने बटोरे थे। सवाल सिर्फ़ यह था कि इन सुरागों का किया क्या जाए! किस मुंसिफ़ या कौन-सी अदालत के सामने इन्हें पेश किया जाए कि ईसाफ़ मिले!!

जयराज ने लौटकर डायरी पर लिखा था, “एक तरफ़ पूरे देश में कान के परदे फाड़ डालने वाला शोर है और दूसरी तरफ़ पागल कर देनेवाली खामोशी। शोर इसलिए कि वेदना की चीखें सुनायी न दें और खामोशी इसलिए कि गुनाह बेपरदा न हो जाए।”

इस यात्रा से लौटकर नसीम कई रोज़ कहाँ गुम रही, जयराज को पता नहीं चला। अनीस जरूर देर रात कमरे पर लौटता और सवेरे ही फिर शहर के गली-मोहल्लों में खो जाता। जयराज आज भी उन उदास दिनों की टूटन और थकान को महसूस कर सकता था।

जयराज की इस बीच बाबा-अम्मा से फोन पर कई बार बात हुई थी पर उसे याद नहीं कि नसीम या अनीस में से किसी ने कभी अपने घर-परिवार के बारे में कोई बात की हो। उनकी चिन्ताओं में उनके परिवार की चिन्ताएँ कभी शामिल देखी नहीं जयराज ने। हालाँकि वह जानता था कि नसीम उस छोटे कस्बे की रहने वाली थी जिसके पास ही वह शहर था जहाँ आज़ाद हिन्दोस्तान के इस सबसे बड़े अभियान को अंजाम दिया जाना था।

फिर जयराज को वह शाम याद आयी जब नसीम अचानक उसके कमरे पर आ धमकी थी। बेहद थकी और टूटी हुई-सी। यूनिवर्सिटी एक हफ़्ते पहले ही बन्द कर दी गयी थी। हॉस्टल लगभग खाली हो चुका था। कैम्पस में भी सिर्फ़ वही बचे थे जिन्होंने अनीस, नसीम और जयराज की तरह अपने लिए कुछ अलहदा भूमिकाएँ चुनी थीं। जयराज ने नसीम को कुर्सी पर बिठाया और एक गिलास पानी पकड़ाया। नसीम ने वह पूरा पानी धीरे-धीरे अपने चेहरे और बालों पर उलीच दिया था, जैसे बीती रातों के समूचे उनींदपन और दिनों की थकान को पोंछकर फेंक देना चाहती हो। जयराज ने उसे तौलिया दिया था। नसीम ने बहुत देर तक अपने चेहरे और बालों पर तौलिया फिराया था। जयराज ने पूछा, “चाय पिओगी?” नसीम ने कहा था, “नहीं, सिगरेट सोचती हूँ जब बाहर

पहले से ही इतना धुँआ है तो थोड़ा मैं भी उड़ेल दूँ। तुम्हें दिक्कत तो नहीं होगी जय!” जयराज ने बेआवाज़ हामी भरी। नसीम ने अपने झोले से सिगरेट की डिब्बी निकाल एक सिगरेट सुलगायी थी और कमरे को धुएँ से भर दिया था। और दिनों की तरह आज जयराज ने धुआँ बाहर निकालने के लिए खिड़की नहीं खोली थी। वह पास आकर बैठ गया था और नसीम के चेहरे को एकटक देख रहा था। नसीम ने अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। धुएँ के छल्ले नसीम और जयराज दोनों के चेहरों को घेरे हुए थे। जाने कब जयराज ने नसीम की रूखी काँपती उँगलियों को अपनी हथेली में सहेज लिया था। जाने कब नसीम ने जयराज के कन्धे पर अपना भीगा सिर टिकाया था। जाने कब अपने अन्दर का सारा धुआँ कमरे की हवा में उड़ेल सिगरेट की आखिरी चिंगारी राख में बदल गयी थी। एक हद से ज़्यादा वक्रत का ख्याल आखिर कौन रख सकता है। जयराज को ठीक याद नहीं कि कितनी देर बाद नसीम ने जयराज के कान में बहुत हल्के से कहा था, “जय! आज रात तुम्हारे कमरे पर ही सो जाऊँ। शायद सो सकूँ।” नसीम को जवाब की ज़रूरत नहीं थी और न ही जयराज के पास कोई जवाब था। जयराज के कमरे का धुआँ कुछ ही देर में हवा में घुल गया था लेकिन उस रात कमरे के बाहर हवा में इतना धुआँ उठा कि रात काली हो गयी थी और सितारे बेनूर।

जयराज ने जब आँखें खोलीं एक धुँधली सुबह खिड़की से झाँक रही थी। नसीम किसी बेसुध बच्चे की तरह सोई हुई थी। किसी ने दरवाज़े पर दस्तक दी थी। जयराज ने दरवाज़ा खोला। यह अनीस था। अनीस के बाल बिखरे हुए थे। उसकी आँखों में बेबसी और विषाद के लाल डोरे ठहरे हुए थे। नसीम को कमरे में देखकर अनीस ने गहरी साँस ली और जयराज को किनारे ले जाकर कुछ कहा। अनीस वह सब कुछ नसीम के कहने के लिए रुकना नहीं चाहता था इसलिए नसीम को जगाना ज़रूरी नहीं था। नसीम के जगने तक जयराज यही सोचता रहा कि अनीस का सन्देह वह नसीम तक कैसे पहुँचाएगा। अनीस ने जयराज से जो कुछ कहा था उससे यह साफ़ था कि उस सुबह यह सन्देश सुनने वालों में न नसीम अकेली होगी और न सुनाने वालों में जयराज। जयराज चाहता तो सीधे नसीम को कह सकता था लेकिन वह तमाम मानसिक तैयारी के बाद भी सब कुछ कहने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। जयराज अपनी डायरी का वह पन्ना देख रहा था, जिस पर उसने अनीस का वह सन्देश काफी दिनों बाद दर्ज किया

था— “उस रात स्वयंसेवकों ने भगवान के नाम पर लहलहाती फसलों को रौंदा, दुकानों को लूटा और कुछ खास बस्तियों को घेरकर आग के हवाले कर दिया था। धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए उन्हें एक खास पहनावे, हुलिए और जबान वाला जो भी कहीं मिला, उसे उन्होंने गाजर-मूली की तरह काटकर फेंक दिया। औरतों को अपने पौरुष से लहलुहान किया। उन तमाम बस्तियों में से एक बस्ती नसीम की भी थी।”

जयराज के गले में काँट चुभ रहे थे और उसके दिमाग की नसें तिड़तिड़ रही थीं। वह यह याद करने की हालत में नहीं था कि नसीम कब उठी थी और उसने कैसे नसीम को अनीस का सन्देश सुनाया था। उसे बस इतना याद है कि नसीम को ट्रेन पर छोड़ने वह स्टेशन तक गया था। नसीम की आँखें पथरायी हुई थीं। वह जैसे जयराज से दूर नहीं ज़िन्दगी से दूर जा रही थी और उसमें किसी के प्रतिरोध की कोई ताकत नहीं बची थी। सिवाय इसके कि उसने जयराज के लाख कहने के बावजूद उसे अपने साथ चलने से मना किया था। जयराज के लिए उसके बाद समय जैसे काफ़ी दिनों तक ठहरा हुआ था। उसकी आँखों में नसीम की वह आखिरी तस्वीर इतनी साफ़ दर्ज हुई थी कि जयराज आज भी उसे तमाम रंग और गन्ध के साथ अपने सामने उकेर सकता था। जयराज स्टेशन से कमरे की ओर तब लौटा जब ट्रेन गुजरने के बाद ठिठुरी हुई पटरियों का कम्पन भी रुक गया था। मेज़ पर एक किनारे सिगरेट की अधखुली डिब्बी पड़ी हुई थी जिसे नसीम अपने झोले में रखना भूल गयी थी। जयराज उस डिब्बी को देर तक देखता रहा जैसे उसके चारों ओर लिपटी हुई नसीम की उँगलियाँ देख रहा हो। फिर उसने एक-एक कर सभी सिगरेट निकालीं। उन्हें सूँघा फिर आँखों से लगाया। बाहर धूल, धुएँ और उमस का भयावह शोर था। जयराज ने होले से एक सिगरेट सुलगा कर अपने होठों से लगा ली थी। पूरा कमरा धीरे-धीरे नसीम की महक और धुएँ की गन्ध से भर गया था। जयराज डायरी पर भीगी हुई स्याही से लिख रहा था— “बोगी नं.-सात, ए.एफ.अप। समय— दस बजकर चालीस मिनट।

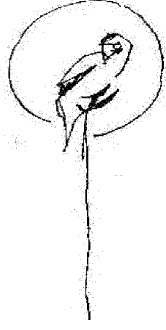
तारीख— तीन दिसम्बर उन्नीस सौ बानबे।

ज़िन्दगी विदा!”

...फिर दिन-पर-दिन बीते और बरस पर बरस। कामरेड जयराज से न सिगरेट छूटी और न ही छूटा ज़िन्दगी की लड़ाइयों से हलकान वह शहर।

21, गुलिस्ताँ कालोनी, लखनऊ

मो.: 09838568852



फैनी अर्चना पैन्ग्लूली

“इसका नाम फैनी है...” माँ ने घोषणा की, और हमारे पास दो घंटे पूर्व ही आयी छ: हफ़्ते की काली-कलूटी कुतिया का नामकरण हो गया। हमारे दूर के रिश्ते के चाचाजी जीप में सुदूर हिमालय प्रदेश के किसी पहाड़ी गाँव से फैनी को लाए थे। चाचाजी का घर आना हमें एक सुखद अनुभूति देता था। हमारे तहसीलदार चाचाजी जीप से जब कभी बिन बताए किसी भी पहर हमारे घर पहुँच जाते थे। जीप की आवाज़ जब भी हमारे कानों में पड़ती तो हम समझ जाते कि गोविन्द चाचाजी आ रहे हैं। उस गली में और किसी के घर जीप नहीं आती थी। हम फटाक से गेट खोलने के लिए भाग जाते। घर से जीप के पहिये बजरी पर घूमते। चाचाजी युक्ति से स्टेयरिंग घुमाते हुए जीप गेट के अन्दर कर, आँगन में खड़ी कर देते। फिर इंजन बन्द करके, एक मुस्कराहट के साथ जीप से उतरते। अक्सर उनकी पोस्टिंग पहाड़ी गाँव में हुआ करती थी। वे हमारे लिए पहाड़ी फल—खुमानी, सेब व नारंगी लाते। कभी पहाड़ी सब्जियाँ—काकड़ी, मूली, पालक लेकर आते। पर इस बार चाचाजी जीप से उतरे तो उनके हाथों में एक निपट काला कुत्ता...

हम हतप्रभ...। हमारे भरे-भराये परिवार को देखते हुए वो बोले, “तुम्हारे लिए लेकर आया हूँ।”

सुखद आश्चर्य से हम सभी की आँखें फैल गयीं। अजय, हमारा सबसे छोटा भाई तो खुशी से नाचने लगा।

“बहुत दूर, बट्रीनाथ से भी दूर तिब्बत को छूते चमोली गढ़वाल के भोटिया गाँव सलधार का है यह। पर नस्ल एलशेशियन है। प्योर एलशेशियन, क्रास ब्रीड नहीं। बहुत ऊँचा कद जाएगा इसका। तुम्हारे घर की रखवाली करेगा।

चाचाजी की गोदी में दुबके उस नन्हें, निरीह कुत्ते को देख हम भाई-बहन अचरज करने लगे कि कभी यह इतना बड़ा भी होगा कि हमारी रखवाली करेगा।

हम पाँच भाई-बहन—तीन भाई व दो बहनें—पाँच साल से चौदह साल के थे उस समय। सुशील हममें सबसे बड़ा, फिर अरुणाभ, फिर मैं, फिर मेरी बहन, फिर सबसे छोटा अजय। मेरा नाम सुनिता व मेरी छोटी बहन का अनामिका। उस दौरान गोविन्द चाचाजी हमारी ज़िन्दगी का एक सुखद पहलू हुआ करते थे। उनके माँ पिताजी की सगी बुआ थी। चाचाजी का घर आना, हमारा उनके नौकरों-चाकरों वाले आलीशान घर जाना, उनकी जीप में घूमना हमारे लिए एक विहार, मनोरंजन होता था।

और अब चाचाजी हमारे मनबहलाव के लिए एक कुत्ता ले आए थे। हमारे मन में कभी से एक कुत्ता पालने की तमन्ना थी। माँ-पिताजी कहा करते थे कि उन्होंने बहुत साल पहले जब हम बहुत छोटे थे और अजय तब तो पैदा भी नहीं हुआ था एक कुत्ता पाला था—राका। हर समय वह माँ के पीछे-पीछे घूमा करता। माँ हाट बाज़ार जाती तो वह माँ के साथ जाता। माँ खेतों में

उगी धान की फसल का निरीक्षण करने जाती वह पीछे हो लिया करता। एक दिन माँ खेत से लौट रही थी, पीछे-पीछे राका। हमारे खेत घर से लगभग बीस मिनट के पैदल रास्ते पर थे। एक गड़रिये किसान को फसल उगाने के लिए आधे पर दे रखे थे।

घर के नज़दीक आने पर माँ ने हमारी गली में घुसने के लिए मेन रोड पार की, पीछे से राका पार करने लगा। मगर जब वह सड़क के बीचोबीच था, पूरी रफ़्तार से आते एक ट्रक ने उसे दबा दिया। एक साथ कई चीखें सुनकर माँ पलटी तो देखा जीता-जागता राका सड़क पर चित्त पड़ा हुआ... खून की बूँदें उसके बदन से छिटक कर दूर-दूर तक फैल चुकी थीं। ज़िगर, अंतर्दियाँ, मूत्राशय... पता नहीं क्या-क्या उसके अंग बाहर निकल आये थे। राका वहीं पर दम तोड़ चुका था।

वह हादसा माँ ने हमें कई बार सुनाया। हर बार माँ बोला करती, “उस दिन सड़क पर पड़ी राका की लाश, उसकी बिखरी अंतर्दियाँ वगैरह देख कर मुझे पहली बार आभास हुआ कि हम प्राणियों का शरीर अपने अन्दर कितना कुछ समाए हुए है।”

उस घटना के बाद माँ का मन फिर कुत्ता पालने का नहीं हुआ। हमारे आग्रह पर वह हर बार मना कर देती। पर शायद चाचाजी ने हमारी फरियाद सुन ली थी।

“यह फीमेल डॉग है। कुत्ता नहीं, कुत्ती है। बारह-पन्द्रह साल तक ज़िन्दा रहेगी,” चाचाजी ने बताया।

“बस बारह-पन्द्रह सालों तक। हम तो चाहते हैं कि वह हमेशा, जब तक हम इस दुनिया में हैं तब तक ज़िन्दा रहे।”

“कुत्ते इतना लम्बा नहीं जीते। उनका जीवन चक्र छोटा होता है। कुछ तो आठ-दस साल तक ही ज़िन्दा रहते हैं। लम्बे व ऊँचे कुत्ते लम्बा जीते हैं। जो बात मनुष्यों के लिए सही है कि स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक जीती हैं वह बात कुत्तों के सन्दर्भ में भी सही है—फीमेल डॉग मेल डॉग से ज़्यादा जीते हैं।”

चाचाजी ने कुत्तों के सन्दर्भ में कुछ और बातें हमें बताईं, फिर कुत्ता हमारी गोदी में थमाकर चाचाजी पिताजी के साथ बतियाने लगे। हम सभी भाई-बहन कौतुक से कुत्ते के ईदगिर्द

जमे उसे घूरते उसके चिकने बालों में हाथ फेरते। उसकी दुम व कानों को हिलाते। हमने तुरन्त उसे दूध पिलाने के लिए एक बर्तन बना दिया। उसमें दूध डाला और उसका मुँह दूध में डाला तो वह चट चट कर पी गयी।

“अरे वाह...” अजय हर्ष से बोला।

हमने फैनी के लिए पीछे के बरामदे में एक जगह बना दी—एक जूट की टोकरी में मोटा-सा बिछौना बना कर, कॉजी-सी आरामदायक जगह। अगले रोज़ पिताजी व सुशील ने मिलकर बाड़े में बनी कोठरी, जिसमें यूँ ही बेकार का सामान भरा रहता था, थोड़ा खाली करके वहाँ भी फैनी के लिए जाड़ों की रात बिताने के लिए जगह बना दी। फैनी हमारे परिवार का एक अभिन्न अंग बन गयी। वह हमेशा हमारे बीच में रहती। हम उसे बेहद प्यार करते, उसे दुलारते-पुचकारते। मगर जैसे हम भाई-बहनों पर माँ-पिताजी द्वारा कुछ अनुशासन, कुछ अंकुश थे, वैसे ही अनुशासन-अंकुश फैनी पर भी लगे। मसलन फैनी मेज़, कुर्सी या बिस्तर पर नहीं चढ़ेगी। घर के अन्दर टट्टी-पेशाब नहीं करेगी। कुछ बातें फैनी ने खुद ही सीखीं। वह हमारे पूजा के कमरे या रसोई में नहीं घुसती थी। घर के पीछे बाड़े में जब वह टट्टी-पेशाब करती तो पहले गड्ढा खोदती, उसमें मल-मूत्र त्याग कर मिट्टी से ढक देती थी। वह साफ़-सफ़ाई पसन्द करने वाला जीव थी।

एक महीना बीता, दो महीने बीते... छः सात... देखते-ही-देखते एक साल में फैनी पूरी जवान हो गयी। जैसा कि चाचाजी ने कहा था उसने बहुत अच्छी लम्बाई पकड़ी—ऊँचा कद, तना शरीर, कजरारी आँखें। जब वह अपनी दो टाँगों पर खड़ी होती तो कद उसका मनुष्य कद जैसा ऊँचा लगता। कान हर समय खड़े रहते, पूँछ लहराती रहती। बहुत खूबसूरत हो गयी फैनी जब वह बड़ी हुई। आवाज़ इतनी दमदार कि जब भौंकती, पूरी गली में गूँजती। वह पूरी काली नहीं थी। बड़े होने पर कुछ और रंग भी उसके बदन पर निखरे। उसके चेहरे पर कुछ बाल सफेद थे। कान व पूँछ में कुछ बाल भूरे। हमें फैनी पर बहुत गुरूर था।

हम फैनी को वही खाना खिलाते जो हम स्वयं खाते। उसके खाने का समय भी वही रहता

जो हमारा हुआ करता। सुबह नौ बजे नाश्ते में दो मोटी रोटी सब्जी के साथ। दोपहर एक बजे दाल-चावल व रात आठ बजे दाल-रोटी। फैनी दूध की बहुत शौकीन थी। सुबह-शाम हम उसे दूध भी दे दिया करते थे। और तो और वह चाय भी पिया करती। फल व मिष्ठान भी खाती। पर एक चीज़ जो उसे हमारे घर पर नसीब नहीं होती, वह थी मीट। हमारा परिवार शुद्ध शाकाहारी, मीट एकदम निषिद्ध। जब कभी फैनी अपना मुँह खोलती, उबाई लेते या गुराते वक्रत, उसके नुकीले पैने दाँतों को देख कर हमें खेद होता कि फैनी तो एक मांसाहार जीव है। और हमारे घर उसे शुद्ध सात्विक खाना ही उपलब्ध है। मगर शाकाहारी खाना खाकर भी फैनी हट्टी-कट्टी, तन्दुरूस्त थी।

हम फैनी को कभी बाँधते नहीं थे। वह पूरे घर—छत, आँगन, बरामदे, कमरे, बगीचे व बाड़े में विचरती रहती। वह छत की मुंडेर पर, बरामदे की सीढ़ियों पर, रसोई के आगे बने चबूतरे पर, गेट पर, ड्राइंगरूम, स्टडी व बेडरूम में बैठती, सोती, जम्माई लेती। बस वह रसोई व पूजा के कमरे में नहीं घुसती। वह समझ गयी थी कि इन दो स्थानों में उसका घुसना घर की मालकिन पसन्द नहीं करेगी (शायद शुरू में जब उसने अन्दर घुसना चाहा हो तो माँ ने उसे ‘दुर-दुर’ कह बाहर भगाया हो)। दूध, जिसकी वह इतनी शौकीन हुआ करती थी अगर उसे रसोई में दे तो वह बाहर से ही दुम हिलाती रहेगी। मगर रसोई में नहीं घुसती चाहे हम उसे कितना ही अन्दर धकेलें या खींचें। एक दिन की बात है... माँ स्टोव पर दूध चढ़ाकर पड़ोस में कहीं गयी हुई थी। हमें दूध पर नज़र रखने को कहा था। हम भूल गए। स्टोव में चढ़ा दो लीटर दूध उबाल खाकर पूरा गिर गया। हम सभी भाई-बहन एक-दूसरे को कोसने लगे। “तेरी गलती है, तेरी गलती है”, करने लगे।

ज़मीन पर गिरा गरम-गरम, भाप उड़ाता सफेद दूध धार बनाता हुआ नाली की तरफ बह रहा था। हमें बेहद अफ़सोस हो रहा था। अचानक हमें फैनी का ध्यान आ गया। आज तो फैनी के बल्ले-बल्ले! इतना सारा दूध उसे चाटने को मिलेगा।

“फैनी आ, ले दूध पी...” हम सभी ने बारी-बारी से उसे रसोई में बुलाया।

फैनी हमारी आवाज़ सुन कर रसोई के दरवाज़े तक आयी। अन्दर नहीं घुसी, बस बाहर से ही ज़मीन पर बिखरे दूध को देख दुम हिलाने लगी।

“ले फैनी ले दूध... ले चाट... फैनी... आ आ... आ भी जा यार...” हमने उसे अन्दर आने के लिए पुचकारा, उसे अन्दर धकेला, खींचा, मगर वह अन्दर नहीं आयी। हमारे हर बार अन्दर खींचने पर वह अपना पूरा बल लगाते हुए पीछे हट जाती। फिर चौकली मार कर वह किचन के बाहर चबूतरे पर बैठ गयी। हमें मजबूरन कपड़े से गिरा दूध पोंछना पड़ा।

फैनी हमारे साथ पकड़म-पकड़ाई, खो-खो व आईस-पाइस खेला करती। जब कभी हम भाई-बहन आपस में लड़ते-झगड़ते वह कमजोर पक्ष की तरफ़ खड़े होकर ताकतवर पक्ष पर भौंकती। घर आने वाले आगन्तुकों पर वह तीखी नज़र रखती। सुविज्ञ, सुव्यवस्थित व फैशनेबुल दिखने वाले आगन्तुक का वह दुम हिलाते हुए स्वागत करते हुए अन्दर बैठक तक लाती। ऊल-जुलूल कपड़े वाले, जैसे साधू, संन्यासी, भीख माँगने वालों को वह भौंक कर गेट पर से ही भगा देती। हमारे कुछ मित्र कटाक्ष भरा मज़ाक भी करते, “तुम्हारे घर तो टिप-टॉप बने स्मार्ट कपड़ों में आना पड़ता है। नहीं तो डर लगता कि कहीं तुम्हारी फैनी हमें गेट पर से ही न भगा दे।”

आईस-पाइस फैनी के साथ बड़े मजेदार होती। पहले हममें से कोई, सुशील, अरुणाभ, मैं, अनामिका या अजय में से एक उसके सामने क़दमों की थाप करता, फिर एक जना उसकी आँखें बन्द कर देता। वह जना छुप जाता। थोड़ी देर में फैनी की बन्द आँखें खोल दी जातीं। फैनी अपनी नाक से सूँघते हुए पूरे घर का चक्कर लगाती और कुछ ही क्षणों में छुपे हुए व्यक्ति को पकड़ लेती। उसकी शर्ट या फ्रॉक अपने दाँतों में कस लेती। कई बार हम अप्रत्यक्ष स्थानों में छुपते जैसे अलमारी, अटारी या दुछत्ती पर वह हमें तुरन्त खोज निकालती। हम उसकी परीक्षा लेने के लिए कभी-कभी रसोई या पूजा के कमरे में छुप जाते, तब फैनी बाहर से ही भौंकती। पूजा के कमरे या रसोई में वह अपने कदम नहीं रखती।

फिर एक दिन हमें पता चला कि फैनी प्रेगनेंट है। माँ-पिताजी ने ही उसकी उदासी, शिथिलता, उसके शरीर के बदलते आकार को देख कर यह भाँपा। फैनी तब मुश्किल से दो साल की रही होगी हम सब भाई-बहन अचम्भित...। फैनी प्रेगनेंट! मगर कौन होगा इसके बच्चों का बाप? बहरहाल हम फैनी के साथ कोमलता से पेश आने लगे। उसे जब दुलारते-पुचकारते तो धीरे से। उसका स्पर्श आहिस्ते से करते। उसे पौष्टिक आहार खिलाते, लेकिन मच्छी-माँस नहीं, फली वाली दालें, दलिया, दूध आदि।

हमारे अनुमान से फैनी का प्रसव काल दो-ढाई या तीन माह का रहा। जब फैनी का प्रसव का समय आया तो उसने जो आवाज़ें बनायीं, जो हरकतें कीं, माँ समझ गयी। माँ ने कोठरी के एक कोने में घास-फूस बिछा कर तृणशैल्या बनायी, ऊपर बोरी डाली। वहाँ एक कटोरी में पानी और एक में दूध रखा। फैनी माँ को तैयारी करते देखती रही। फिर माँ ने जब उसे कोठरी में आने का इशारा किया, वह कुलबुलाती, धिधियाती, रेंगती हुई-सी कोठरी में बोरी पर चुपचाप पसर गयी। हल्के से कोठरी का कपाट बन्द कर माँ ने रसोई में जाकर स्टोव जलाया। कढ़ाई चढ़ा कर शुद्ध घी में आटा भूनने लगी।

हम सभी भाई-बहन कौतुक भरे, रह-रह कर कोठरी का दरवाज़ा धकेल कर अन्दर झाँकते कि फैनी ने बच्चे दिए कि नहीं, दिए तो कितने दिए। माँ ने हमें डाँटा कि यूँ एक-एक मिनट में अन्दर न झाँको। फैनी को डिस्टर्ब न करो। हम भाई-बहन में से किसी ने पूरे आधे घंटे तक कोठरी के अन्दर नहीं झाँका। फिर अरुणाभ से नहीं रहा गया। धीरे से दरवाज़ा धकेल कर उसने अन्दर झाँका। हर्ष से किलकारी भरी, “दे दिये बच्चे, दे दिये बच्चे...” वह चिल्लाया।

हम सभी भागते हुए कोठरी में घुसे। दो नवजात पिल्ले फैनी के स्तनों से चिपके हुए। प्यारे क्यूट से। फैनी दोनों पिल्लों को चाट रही थी। हम उसके पिल्लों को छूने लगे तो वह हम पर गुराँने लगी। वाह रे माँ का प्यार!

ख़ैर माँ ने फैनी को तुरन्त शुद्ध घी में बना आटे का हलुवा खिलाया। फैनी की वजह से उस शाम हमें भी गरमा-गरम हलुवा खाने को मिला। फैनी को एक प्रसूता मानते हुए हम सभी ने उसकी बहुत देखभाल की। पिताजी का

कहना था कि उसके बच्चे जब तक ‘नियोनेटल पीरियड’ में हैं हमें किसी को दे देने चाहिए। अगर वे कुछ समझने-बूझने लग गए तो उन्हें हमारे घर की आदत पड़ जाएगी। वे कहीं नहीं जाएँगे।

हमने अपने पास-पड़ोस व जान-पहचान वालों के बीच कहना शुरू कर दिया कि हमारी फैनी ने दो बच्चे दिए हैं। उसके बच्चों के लिए घर चाहिए। और घर तुरन्त ही मिल गए। लगभग चार हफ्ते बाद जब पिल्ले ढंग से पूरा खड़ा होना सीख गए, आँखें पूरी खोलने लगे, उनकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित हो गयीं, हमने फैनी की नज़र बचाकर उसके दोनों पिल्ले एक-एक कर लोगों को दे दिये। जब उसका पहला पिल्ला गया तो फैनी सर्तक हो गयी। बार-बार अपने दूसरे बच्चे को निहारती, उसे सूँघती। अपने गायब हुए पिल्ले को पूरे घर में ढूँढ़ती। जब दूसरा पिल्ला भी घर से गया तो वह बेचैन-सी हो गयी। उस दिन उसने कुछ खाया-पिया भी नहीं। हमसे रूठी रही। फिर धीरे-धीरे वह अपने पिल्लों को भूल गयी। अपने सामान्य मूड में आ गयी।

मेरे भाई-बहन तो फैनी के साथ खेलते हैंसते-खिलखिलाते रहते। मैं फैनी की गतिविधियों व उसके शरीर में आते-जाते परिवर्तनों को बारीकी से निहारती। कुत्ते प्रकृति के तमाम रंग नहीं देख पाते, सभी कुछ उनके लिए या तो काला है या सफेद। मुझे दुख होता कि फैनी कितना कुछ मिस करती है। जाड़ों में जब हम स्वेटर, कोट, मफलर और शॉल पहने रहते हैं फैनी अपने को ठंड से कैसे बचाती है? मैंने नोट किया कि जाड़ों में फैनी के बाल और घने हो जाते और उसके बाल हर समय खड़े-से रहते। खड़े बालों के बीच हवा भर जाती है, हवा ऊष्मा की कुचालक। शरीर की गर्मी को बाहर नहीं जाने देती।

हरेक साल फैनी ‘हीट साइकिल’ से गुजरती। पहले हफ्ते थोड़ा रक्तस्राव होता, शायद उसके शरीर के हॉर्मोन्स भी बदलते। वह मूडी हो जाती। उसे छेड़ो तो वह गुराँती, झल्लाती। ऐसे ही एक समय पर एक बार उसने मेरे भाई सुशील का पैर भी काट दिया था, जिसका उसे बाद में गहरा अफ़सोस भी हुआ। सुशील ने ही उसे चिढ़ाया था, और फैनी ने उसे काट खाया।

अपनी जीभ से वह सुशील के घाव को चाटती रहती जब तक वह पूरा भर न गया।

मैंने देखा कि गली के कुत्ते ऐसे समय पर उसकी तरफ़ विशेष रूप से आकर्षित होते पर फैनी उन्हें कोई घास नहीं डालती। दूसरे हफ्ते जब रक्तस्राव बन्द होता और शायद उसके हॉर्मोन्स में भी कुछ तब्दीली हो जाती फैनी फिर से अपनी असली मूड में आ जाती। तब यह सम्भवतः उसके ऑवूलेशन (डिम्ब उत्सर्जन) का समय होता। वह खेलती-दौड़ती, कूदती-फाँगती। गली के कुत्तों का भी वेलकम करती। तब इतनी जागरूकता नहीं थी कि हम फैनी का रजिस्ट्रेशन करवाते। उसका मेडिकल कार्ड बनवाते। उसके टीके लगवाते। उसका अंडाशय उच्छेदन करवाते, या फिर गली के सड़क-छाप, लंडेरू कुत्तों को उससे दूर रख कर फैनी का संसर्ग उसी की तरह किसी उत्कृष्ट नस्ल वाले कुत्ते से करवाते। सब कुछ प्रकृति के अधीन छोड़ रखा था। प्रकृति जो कुछ करवा ले...।

गली में जो कोई बेघर, आवारा, लंडेरू कुत्ता फैनी की तरफ़ बढ़ता उसी से उसका संसर्ग हो जाता। और फैनी प्रेगनेंट हो जाती। मुझे यह शंका भी होती कि फैनी जो एक साथ चार-छः बच्चे जन्मती है यह भी सम्भव है कि उसके बाप अलग-अलग हों। खैर बाप पिल्लों का कोई भी हो फैनी के सभी बच्चों में उसके ज़िंस प्रभावी होते। वे जब बड़े होते तो फैनी की तरह ही डीलडॉल, सुन्दर व कजरारी आँखों वाले। वही दमदार आवारा। कुछ तो उससे भी अधिक ऊँचे व सुन्दर। मेरी सहेली संगीता के परिवार ने फैनी का एक पिल्ला लिया था। उसका नाम उन्होंने टोनी रखा था। संगीता के घर मेरा आना-जाना लगा रहता था। टोनी जब बड़ा हुआ तो उसके भौंकने की आवाज़ मैं दूर से पहचान जाती थी। फैनी से उसकी आवाज़ बहुत मिलती थी। अपनी माँ के ही जैसा उसका कद, वही थराती हुई आवाज़।

फैनी जल्दी ही दुबारा प्रेगनेंट हो गयी। फिर से वही प्रक्रिया दोहरायी गयी। एक दोपहर दिन के बारह बजे उसका कूँ-कूँ कर कराहना, कोठरी में उसके लिए तृणशैल्या का बनना, फैनी का वहाँ चुपचाप बैठ जाना। माँ का किचन में जाकर उसके लिए आटे का हलवा

बनाने लग जाना। उस दिन घर में भाई-बहनों में सिर्फ मैं ही घर पर थी। रह-रह कर मैं कोठरी का भिड़ा दरवाज़ा खोल कर अन्दर झाँक रही थी। फिर यकायक मैंने फैनी के पहले बच्चे को जन्मते देखा। मैं ठिठक कर दरवाज़े पर ही ठहर गयी। मुझे दरवाज़े पर खड़ा देख फैनी गुरगुराने लगी। लेकिन जब मैं फैनी के पास घुटनों के बल बैठ कर उसे सहलाने लगी तो फैनी खामोश हो गयी। सम्भवतः प्रसव पीड़ा में उसे मेरा सहलाना अच्छा लग रहा था। प्रजनन प्राणीजगत का आधार है। फैनी को बच्चे जनते देख मुझे, सृष्टि किस तरह आकार लेती है, इसका आभास हुआ। एक के बाद एक फैनी के चार बच्चे हुए। तीन उसी की तरह काले, चौथा एकदम भूरा।

दो हफ्ते तक पिल्ले कोठरी में ही एक-दूसरे, अपने भाई-बहनों व माँ से चिपके रहे। आहार के लिए पूर्णतः वे अपनी माँ पर निर्भर रहे। तीसरे हफ्ते से वे झुंड को छोड़ व कोठरी से बाहर निकल बाहरी वातावरण से सम्पर्क बनाने लगे। वे चलने लगे, दुम हिलाने लगे, आपस में खेलने लगे। इस बार हमें किसी से कहना नहीं पड़ा कि हमारी फैनी के बच्चों के लिए घर चाहिए। उसके पिल्लों की माँग खुद-ब-खुद आने लगी। हमारा एक पड़ोसी हमारे घर पर आकर दावा करने लगा कि फैनी उसके कुत्ते से क्रॉस (गर्भवती) हुई है, सो फैनी के पिल्लों में उसका अधिकार भी है। माँ ने कहा, “अगर तुम्हें उसका एक पिल्ला चाहिए तो ले लो। मगर यह दलील देने की ज़रूरत नहीं है।”

ख़ैर... जन्म के दो हफ्ते बाद से भी हम फैनी से छुप कर उसके बच्चों को एक के बाद एक विदा करने लगे। एक के बाद दूसरा बच्चा गायब होते देख फैनी गुस्से में आ जाती। वह दुखी हो जाती। विचलित-सी, रोती हुई वह पूरे घर में घूमती, सूँघती। अपने बच्चों को तलाशती। फिर धीरे-धीरे वह सामान्य हो जाती। हमारे साथ खेलने-कूदने लग जाती— पकड़म-पकड़ाई, आईस-पाईस...

फैनी के पिल्लों की माँग इस कदर बढ़ने लगी थी कि लोग हमसे पूछा करते, “क्या तुम्हारी फैनी प्रेगनेंट है? उसका एक पिल्ला हमें ज़रूर देना।”

“तुम्हारी फैनी प्रेगनेंट फिर कब हो रही

है?”

हम नहीं चाहते कि फैनी जल्दी-जल्दी माँ बने। हम चाहते कि एक बार की प्रसव प्रक्रिया के पश्चात फैनी शारीरिक व भावनात्मक पहलुओं से चंगी हो जाए।

फैनी लगभग पाँच साल की रही होगी जब सुशील का चयन एनडीए, नेशनल डिफेंस एकेडमी में हुआ। वह घर छोड़ कर खड़गवासला, पूना एनडीए ट्रेनिंग के लिए जाने लगा। सुशील खड़गवासला जाने की तैयारी करने लगा। नयी संस्था के ब्रोचर्स व बुकलेट्स पढ़ना, अपने यार-दोस्तों से मिलना...। अपने चिरपरिचित पुराने शहर व संगी-साथियों को छोड़ने का अगर उसे मलान था तो नए शहर, नए परिवेश में जाकर अजनबियों के बीच जीवन शुरू करने का रोमांच भी था। हम उसकी खुशी, उसकी इस उपलब्धि में उसके साथ शरीक थे। माँ-पिताजी उसे भेजने की तैयारी में लगे थे। उसके लिए नये कपड़े बने, नया सूटकेस, नया बिस्तर, सभी कुछ उसके लिए नया खरीदा गया। माँ वात्सल्यमयी आँखों से जब-तब उसे निहारती। आँसू पोंछते हुए भावुक स्वर में कहती, “बच्चे कितने जल्दी बड़े जो जाते हैं...।”

माँ को रोते देख फैनी माँ के पैरों पर बैठ जाती। माँ को सहलाने लगती। माँ फैनी से लिपटते हुए कहती “फैनी तू भी मेरी तरह माँ है। आज मैं तेरा दर्द समझ रही हूँ। कैसे हम बेदर्दी से तेरी भावनाओं की परवाह किए बगैर तेरे बच्चों को किसी को भी दे देते हैं। पर हम क्या करें फैनी...? हम इतने सारे कुत्ते नहीं पाल सकते।”

जिस दिन सुशील देहरादून रेलवे स्टेशन से रात नौ बजे की मसूरी एक्सप्रेस पकड़ कर जा रहा था, घर में ताला लगा कर हम सभी घर फैनी के भरोसे छोड़ रेलवे स्टेशन सुशील को छोड़ने चले गए। पिताजी उसके साथ दिल्ली तक जा रहे थे। दिल्ली से उसे पूना के लिए ट्रेन पकड़नी थी।

प्लेटफॉर्म पर गाड़ी की इन्तज़ारी में खड़े हम सुशील के साथ अन्तिम क्षणों में होने वाले किस्से व चुहल कर रहे थे। उससे बार-बार लिपट रहे थे। माँ उसे हिदायतें देती जा रही थी

कि अचानक हमने फैनी की आवाज़ सुनी। आगमन द्वार की तरफ हमारी नज़र उठी, वहाँ तैनात वर्दीधारी दो टिकट चैकर फैनी को दूर भगा रहे थे। फैनी जैसे उनसे जिरह कर रही हो। एक रेलवे कर्मचारी डंडा लेकर भी उसकी तरफ बढ़ा। हम लपक कर आगमन द्वार की तरफ भागे। टिकट चैकरों से विनती की यह हमारा कुत्ता है। इसे मत मारिये। इसे हमारे साथ अन्दर प्लेटफॉर्म में आने दीजिए। हम इसकी पूरी जिम्मेदारी लेते हैं। उस समय देहरादून कोई बहुत भीड़-भड़क्का वाला शहर नहीं था। एक प्लेटफॉर्म वाला छोटा-सा रेलवे स्टेशन। गाड़ी सिर्फ एक दिशा की ओर जाती। जब माँ-पिताजी ने भी आग्रह किया तो टिकट चैकर मान गए। फैनी को हमारे पास अन्दर आने दिया। फैनी अपने चारों पैरों को हवा में लहराते हुए भाग कर सुशील के पास पहुँची और उसके पैरों पर लोटने लगी। अपने आगे के पैरों पर खड़ी होकर उसके गालों व बालों को चाटने लगी। सुशील ने भी उसे खूब प्यार किया। हम सभी के सामने यह कहने से भी नहीं झिझका, “फैनी तुझे मैं वहाँ सबसे ज़्यादा मिस करूँगा।”

फैनी सात की हो गयी थी। प्रौढ़ अवस्था में पहुँच गयी थी। कुत्तों में मेनोपॉज नहीं होता। एक बार पीरियड या ‘हीट साइकिल’ की शुरुआत होती है तो ताउम्र चलती रहती है। फैनी प्रजनन के चक्र से लगभग हरेक साल गुजरती। फिर जब फैनी पाँचवीं बार प्रेगनेंट हुई तो शहर के एक रईस परिवार, सेठ अमीरचन्द, जिनका ईंटों का भट्टा व देशी शराब का ठेका था, का माली हमारे घर अपने मालिक का सन्देश लेकर आया, अपने बाग़ के ताज़े फलों की एक टोकरी के साथ, “साहब ने आपकी कुतिया के विषय में कई लोगों से सुना। यह भी सुनने में आ रहा है आजकल वह गर्भ से है। हमारे साहब ने कहा है कि उसके दो पिल्ले हमारे लिए रिज़र्व कर देना।”

मेरे माता-पिता ने फैनी के पिल्लों को बेच कर कभी पैसे कमाने की नहीं सोची। उसके पिल्लों की डिमांड आती रहती। बच्चे पैदा होने से पहले ही बुक हो जाते। मगर माँ-पिताजी ने कभी किसी से एक पैसा नहीं लिया। बस वे यह देखा करते कि उसके पिल्ले अच्छे, खाते-पीते

घरों में जाएँ। बहरहाल वे बहुत खुश थे कि शहर के नामी व्यक्ति सेठ अमीरचन्द के यहाँ से उसके बच्चों के लिए माँग आयी है।

उस बार फैनी ने एक साथ आठ बच्चों को जन्म दिया। उसमें छः काले व दो सफेद। जिन्होंने फैनी के पिल्लों की माँग कर रखी थी वे दो हफ्ते बाद ही उसके पिल्लों को हमारे घर से उठाते गये। मगर भट्टे वाले सेठ अमीरचन्द के यहाँ से जवाब आया कि पहले पिल्लों को थोड़ा और बड़ा होने दो। माँ का दूध उन्हें पर्याप्त पी लेने दो। उन्हें पूर्णतः स्वाधीन होने दो, तब वे पिल्लों को उठाएँगे। उन्होंने पूरे आठ हफ्ते लगा दिए पिल्ले उठाने में। जब उनका नौकर हमारे घर पिल्ले उठाने आया तो संयोग से उस वक़्त घर में सिर्फ़ अनामिका व अजय ही थे। वे उतनी सतर्कता नहीं बरत सके। अमीरचन्द का नौकर भी इस सन्दर्भ में अधकचरा ही था कि पिल्ले फैनी से छुपकर उठाने पड़ते हैं। जानवर भी अपने बच्चों की केयर करते हैं। नौकर के पीछे-पीछे फैनी भी होती और उसने वह घर देख लिया जहाँ उसके पिल्ले गए।

फैनी भट्टे वाले सेठ के घर जाकर बैठने लगी। वहाँ जाकर अपने पिल्लों को दूध पिलाती। वहाँ काफी समय बिताती। एक बार फैनी जब वहाँ बैठी हुई थी तो मैं और अरुणाभ वहाँ गए। उनसे कहा कि वे हमारी फैनी को इतनी देर अपने घर न बैठे रहने दें। हमने उसके दो पिल्ले उन्हें दे दिये हैं इतना ही काफी है। भट्टे वाले सेठ की बीवी तो पान चबाते हुए बरामदे में रखे झूले में झूलती रही। उसने हमें एक शब्द नहीं कहा। उसकी तरफ़ से उनकी खाना पकाने वाली महाराजिन बोली, “तुम पंडित लोग कुत्ता पाल लियो पर उसे माँस-मच्छी नहीं खिलावत हो। कुत्ते की नस्ल माँस खावत की रही। कल हमारी मुर्गी उसने झपट ली। तालाब में मुँह घुसेड़ कर कौन जाने कितनी मछलियाँ उसने चट कर ली। हमारे यहाँ उसे माँस-मच्छी मिलत रहे तभी वह यहीं बैठे रही। तुम्हारे घरी नहीं जावत रहे।”

हम मन मसोस कर खामोश घर लौट आए। एक अपराधीपन-सा भी हम महसूस कर रहे थे कि फैनी एक मांसाहारी जीव है और हमने उसे इससे वंचित रखा।

सुशील के पूना से पत्र आते रहते। हरेक

पत्र में फैनी के विषय में पूछा रहता कि वह कैसी है, क्या वह भट्टे वाले सेठ के घर से वापस आ गयी। हम खेद के साथ जवाब देते कि नहीं आयी। उसने घर बदल दिया। आखिर वह बेवफा निकली।

हमारे पड़ोसी नेगी जी, जिनसे हमारे अच्छे सम्बन्ध थे, वे घर की बाई भट्टे वाले सेठ के यहाँ भी काम करती थी। नेगीजी ने ही एक दिन हमें बताया कि उनकी बाई कह रही थी भट्टे वाले फैनी को कुछ नहीं खिलाते। फैनी के दोनों पिल्ले उसका दूध चूसते रहते हैं। वह बहुत पतली हो गयी है। हमें सुनकर बहुत दुख हुआ। हम फैनी को लेने फिर भट्टे वाले सेठ के घर गए। हमें देख कर फैनी हमारे पैरों पर लोटी। अपने आगे के पैरों पर खड़ी होकर हमें हग किया। हमारे चेहरे, बालों वगैरह को चाटा। मगर वह हमारे साथ आने के लिए तैयार नहीं हुई। उसके दोनों पिल्ले अब बहुत बड़े हो गए थे। हमने देखा कि फैनी अपने पिल्लों को प्यार से चाट रही है। उनके साथ खेल रही है। वह हमें कमज़ोर तो लगी पर दुखी नहीं लगी। हमने सोचा कि फैनी अपने परिवार के साथ खुश है।

हमारा घर कोई छोटा तो नहीं था लेकिन भट्टे वाले सेठ के घर के आगे कुछ भी नहीं था। वहाँ आँगन, दालान, बगीचा, फल वाटिका। दालान के आगे फैला लम्बा-चौड़ा लहलहाता खेत। दालान में एक किनारे मुर्गी पालन गृह, दूसरे किनारे तैरती मछलियों का तालाब। आबोहवा ही वहाँ अलग लगती थी। फिर उसके बच्चे भी वहीं। हमें फैनी कुल मिला कर वहाँ खुश लगी। सो हम उसे बगैर लिए ही वापस आ गए।

हम सभी की ज़िन्दगी कुछ खासे दौर पर थी... सुशील चार साल की एनडीए ट्रेनिंग के लिए खड़गवासला जा ही चुका था। अरुणाभ ग्रेजुएशन में था। मैं बारहवीं कर रही थीं। उसका ध्येय इंजीनियर बनना था और मेरा डॉक्टर बनना। अनामिका का दसवीं बोर्ड था और अजय आठवीं में पढ़ रहा था। हम सभी भाई-बहन अपनी-अपनी पढ़ाई की गहनता में लिप्त थे। अपने जीवन को लेकर, अपने कैरियर को लेकर हम सभी के कुछ सपने थे। पिताजी अपनी नौकरी में व्यस्त...। जो चन्द साल उनके रिटायरमेंट व उनकी फिसलती जवानी में बचे

थे उसमें जो कुछ वो जोड़-बटोर सकते थे, उसमें लगे थे। नौकरी के साथ वो ज़मीन के धन्धे में भी लग गए थे। ज़मीन खरीदते व बेचते। कभी उन्हें मुनाफा होता तो कभी घाटा। हम जवां होते भाई-बहन यदि पिताजी को खुशी व सुकून देते, तो उन्हें थरा भी देते। हमारा बढ़ता कद, बढ़ती खुराक, बदलता मिजाज, उमड़ता जोश, नए ख़ाब व अरमान... पिताजी को कभी-कभी भयभीत कर देते। माँ हम सभी के लिए खाना पकाने, घर की अन्य देख-सम्भाल व नयी जिम्मेदारियों को निभाने में लगी रहती। हम फैनी, एक कुत्ते, एक पालतू पशु के पीछे अपना समय व शक्ति नहीं गँवा सकते थे। वह जहाँ कहीं भी रहे उसकी मर्जी...। पर हाँ, इतनी कामना हम अवश्य करते थे कि वह जहाँ कहीं भी रहे खुश रहे।

उस शाम करीब पाँच बज रहे होंगे...साइकिल से मैं संगीता के घर जा रही थी। तीसरी कक्षा से हम दोनों एक साथ पढ़ रहे थे। स्कूल में ही मिलना हमें पर्याप्त नहीं लगता। जब तक एक-दूसरे के घर जाकर जी भर बात न कर लेते हमें चैन नहीं मिलता।

जैसे ही मैंने घर के बाहर निकल कर साइकिल पर पैडल मारा, सामने से मुझे फैनी आती दिखायी दी। एकदम दुबली व बुढ़िया लग रही थी। कान नीचे दबे हुए, पूँछ मरियल। मरी-सी खाल। बाल झरे हुए। बदन सिकुड़ कर एकदम पतला हो गया था। मुझे उसे पहचानने में थोड़ा समय लगा। आहिस्ते-आहिस्ते चलते हुए हमारे घर की तरफ़ आ रही थी। मैं संगीता के घर नहीं गयी। ‘फैनी...फैनी’ कहते हुए उसके पास रुक गयी, फिर उसी के साथ घर वापस लौट आयी।

घर में माँ, अरुणाभ, अनामिका व अजय भी खुश। फैनी पूरे दो महीने बाद घर लौटी थी। “फैनी द ग्रेट फैनी द ग्रेट आ गयी...” अजय चीत्कार भर रहा था। फैनी चुपचाप बरामदे में जाकर अपनी पुरानी जगह बैठ गयी।

“ऐसे नंगे फ़र्श पर नहीं फैनी, पहले हम तेरा बिछौना बिछा दें,” अनामिका बोली। अजय झट से कोठरी से उसका बिछौना ले आया। बरामदे में बिछा कर फैनी को उसके ऊपर लिटा दिया। उसके पुराने कटोरे में उसके लिए दूध भर कर ले आए। फैनी ने दूध में मुँह नहीं

डाला। हमने जबरदस्ती जब उसका मुँह कटोरे में डाला सिर्फ उसका मुँह गीला हुआ। उसके मुँह के चारों तरफ चिपका दूध हमें हमेशा बहुत प्यारा लगता था, जब वह चट चट कर पूरा कटोरा दूध पी जाती थी। मगर उस दिन हमें नहीं लगा।

एक-आध घंटे में पिताजी भी ऑफिस से लौट आए। बरामदे में फैनी को देख उन्हें भी हैरत हुई। उसके करीब जाकर उन्होंने उसे पुकारा, “फैनी! फैनी!”

फैनी ने अपनी दुम हिलाने की कोशिश की मगर नहीं हिला सकी। पिताजी को देख कर वह थोड़ा रोई। पिताजी ने ध्यान से उसे निहारा, छुआ, फिर बोले, “यह बीमार है।”

हम सबने भी उसका बदन छुआ। फैनी गरम थी। जो कुछ भी हमने उस रात फैनी के आगे खाने को रखा, उसने कुछ नहीं खाया। दाल-रोटी, दलिया, दूध, हलुआ। शायद भट्टे वाले सेठ के घर में रहते हुए उसकी मीट खाने की आदत पड़ गयी हो.. हमने सोचा। मीट खरीदने की हिम्मत तो हम नहीं कर सके पर दो अंडे उसके लिए खरीद कर ले आए। फैनी ने किसी पर मुँह न लगाया, बस निर्लिप्त भाव से अपने सामने पड़ी खाद्य सामग्रियों को निहारी रही। पिताजी अगले रोज उसे किसी वेटनरी डॉक्टर के पास ले जाने की बात करने लगे।

रात ग्यारह बजे तक हम सभी उसके इर्दगिर्द बैठे रहे, फिर हम भाई-बहन माँ-पिताजी के जोर डालने पर सोने के लिए चले गए, फैनी

को अच्छे से ढक-ढाक कर। सुबह पाँच बजे जब हम उठे तो देखा फैनी बरामदे में स्थिर, निर्जीव पड़ी है। एक चद्दर से उसे पूरा ढका हुआ है। वह रात में ही दम तोड़ चुकी थी। माँ-पिताजी दोनों उसके करीब थे जब उसने अन्तिम साँसे भरी। माँ ने उस वक्त उसके मुँह में गंगाजल भी डाला। चाचाजी के शब्द मेरे कानों में गूँजने लगे, “एलशेशियन ब्रीड थोड़ा लम्बा जीती है। फीमेल डॉग मेल डॉग से ज्यादा जीते हैं।” मगर फैनी दस साल भी नहीं जीयी थी। सात साल में ही चल बसी थी।

हम सभी फूट-फूट कर रोने लगे। माँ-पिताजी ने भी अपनी नरम आँखें पोंछी। माँ हताशा से बोली, “बस यह मरने के लिए ही हमारे घर लौटी...।” अरुणाभ गुप्ते से बोला, “भट्टे वाले के घर फैनी को कुछ खाने को नहीं मिला। अगर उसे वहाँ माँस-मछली मिला होता तो क्या उसकी यह हालत होती!”

बगीचे से कुछ फूल तोड़कर हमने उसके लिए हार बनाया। उसकी निर्जीव दुलकी गर्दन में डाला। उसके माथे पर चन्दन लगाया। फिर अरुणाभ व पिताजी साइकिल में एक चादर में उसकी लाश बाँध कर हमारे खेतों के पास बहती बरसाती नदी रिसपना के किनारे उसे दफनाने चले गए।

फैनी का बिछोना, खाने के बर्तन, गले का पट्टा, जंजीर सब कुछ घर से हटा कर माँ ने आँगन में फेंकने के लिए रख दिए। बरामदे को झाड़-पोंछ दिया। जहाँ फैनी ने दम तोड़ा वहाँ

एक दीया जला दिया। अगरबत्ती सुलगा दी। पूरे घर में गंगाजल का छिड़काव किया। हम सभी को नहाने के लिए कहा। जब तक हम सभी एक-एक करके नहाये, पिताजी और अरुणाभ फैनी को दफना कर वापस लौट आए। अरुणाभ ने बताया कि जब वे फैनी को लेकर जा रहे थे तो गली के कुछ कुत्तों को भान हो गया। तीन कुत्ते भी उसकी शवयात्रा में शामिल हो गए। उन कुत्तों में शायद कोई उसके बच्चों का पिता भी होगा।

बहुत लम्बा समय बीत गया...। हम भाई-बहनों की ज़िन्दगी नये आयामों में फैल गयी। माँ-पिताजी का घर व शहर देहरादून छोड़कर हम अलग-अलग शहरों-देशों में बस गए। माँ-पिताजी बहुत बूढ़े हो गए। देहरादून शहर बहुत कुछ बदल गया। हमारे खेत कुछ बिक गए, कुछ सरकार ने बायपास रोड बनाने के लिए जब्त कर लिए। आज भी जब कभी हम भाई-बहन इकट्ठा होते हैं फैनी को बहुत याद करते हैं। फैनी के बाद हमने घर में कोई कुत्ता नहीं पाला, हम पाल ही न सके। जो बात हमारे मन को सबसे ज्यादा छुई थी वह यह कि फैनी ने हमारे घर आकर अपने प्राण त्यागे। भट्टे वाले सेठ के घर वह मीट के लालच में नहीं अपने बच्चों के प्रति ममतावश बैठी थी।

ब्रैज्रगेड 6,2,4
2100 कॉपनहेगन Ø
डेनमार्क



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

दिनेश कुमार शुक्ल शब्द और मनुष्य की समेकित संस्कृति के संश्लिष्ट कवि हैं। जीवन के द्वन्द्व से उत्पन्न आलाप उनकी कविताओं में एक स्वर-समारोह की तरह प्रकट होता है। विभिन्न संवेदनाओं से संसिक्त दिनेश कुमार शुक्ल की रचनाएँ अति परिचित समय का कोई अ-देखा चेहरा उद्घाटित करती हैं। ‘आखर अरथ’ की कविताएँ समकालीन हिन्दी कविता के अन्तःकरण का आयतन विस्तृत करते हुए उसे कई

आखर अरथ

दिनेश कुमार शुक्ल



तरह से समृद्ध करती हैं। ‘एक आम एक नीम’ की ये पंक्तियाँ जैसे कवि-कर्म के तत्त्वार्थ का निर्वचन हैं— ‘धरती के भीतर से वह रस ले आना है / जिसको पीकर डालों के भीतर की पीड़ा / पीली-पीली मंजरियों में फूट पड़ेगी।’

स्मृति, विस्मरण, आख्यान और मितकथन से लाभान्वित इन कविताओं में ‘आर्ट आफ रीडिंग’ है। शिल्प की लयात्मक उपस्थिति से रचनाएँ आत्मीय बन गयी हैं।

पृष्ठ: 188, मूल्य : 160 रु.



सपने

राजेन्द्र कुमार कनौजिया

“सपने किसी भी आँख में हो सकते हैं। उनके अपने-अपने दायरे होते हैं, अपनी-अपनी सीमाएँ और अपनी-अपनी उड़ान होती है। वो बनते-बिगड़ते हैं परन्तु चलते हैं जीवन के साथ”— मैं जिसे यह सब सुना रहा था, वो कहीं और देख रहा था।

“मैं सपने नहीं देखता”— उसने मेरी बात वहीं काट दी।

“सपने देखे नहीं जाते, दिखते ही हैं”— मुझे थोड़ी झुंझलाहट हो रही थी। मेरे इतने लम्बे भाषण, इतनी देर तक की गयी मेहनत पर वह लगभग प्रतिक्रिया विहीन था।

उसने शराब का दूसरा गिलास गले से नीचे उतारा और सलाद के टुकड़े खाने लगा। उसने ऐसे दिखाया जैसे कि उसने सुना ही नहीं था वह जानबूझकर सब कुछ अनसुना कर रहा था।

एक बार तो मेरा मन किया उसके हाथ से शराब का गिलास छीन लूँ और कहूँ कि पहले मेरी बात पर सहमत हो ले फिर शराब पिये। जब तक मैं सोचकर वैसा कर पाता, उसने पूरा-का-पूरा गिलास एक साँस में खत्म कर दिया था। होंठों के किनारे पर फैल गयी शराब को कमीज़ की बाँह से पोंछा और अगला पैग बनाने लगा।

उसने कुर्सी पर बैठे-बैठे कमर सीधी की और दोनों हाथ पीछे ले जाकर मस्ती में बैठ गया।

उसकी आँखें मुझे गहरे तक घूर रही थीं, ऐसा लग रहा था वह मुझ पर हँस रहा था। उसने धीमे से कुछ कहा, शायद माँ या बहन की गाली दी थी। यदि मैं उसके बारे में ना जानता होता तब शायद सोचता कि उसे शराब चढ़ गयी है पर दो-चार पैग में उसका कुछ नहीं बिगड़ता यह बात मैं अच्छी तरह जानता था।

अचानक वह कुर्सी सहित सीधा बैठ गया। एक धम्म की आवाज़ हुई मैं थोड़ा पीछे हटा, “पता है बहुत दिन हुए जब मैंने सपनों को अपनी ज़रूरत की लिस्ट से ही हटा दिया, जिलाबदर नो इंटी, समझे।” “अच्छा बड़े बहादुर हो आप पर जानते हो सपने कोई छींक या खाँसी नहीं जो जब चाहा छींक लिया या जब चाहा खाँसने लगे। सपने हर ज़िन्दा इन्सान को आते हैं। यहाँ तक कि कुछ शोध बताते हैं, सपने जानवरों तक को आते हैं।”

“तो मैं क्या हूँ, लोग मुझे इन्सान मानते नहीं, अभी तक मैं पूरा जानवर भी नहीं बना।”— उसने अपने गन्दे बालों में हाथों की ऊँगलियाँ फँसाकर हिलारियाँ और मुँह फाड़कर अपने दाँत निपोरे।

“मेरा ये मतलब नहीं था, पर मैं जानना चाहता था कि कोई व्यक्ति ऐसा कैसे हो सकता है, जिसे सपने ही ना आयें।”

“चोप! बहुत हो गयी तुम्हारी बकवास। तुमने इसीलिए मुझे यहाँ बुलाया था। साले, दो घूँट शराब क्या पिला दी, मेरी सारी कहानी जानना चाहते हो... हो बड़े उस्ताद”— उसने गिलास वहीं मेज पर रखा, अपना पुराना कोट उठाया, हैट सिर पर लगायी और एक ही झटके में उठकर खड़ा हो गया।

“तुमने कहा ना सपने जिन्दा लोगों को आते हैं मरे हुए को नहीं, मैं दुनिया के लिए मर चुका हूँ और दुनिया मेरे लिए”— कमरे का दरवाज़ा खोलकर जैसे ही उसने पैर बाहर रखने चाहे एक पल को ठिठका— “उफ़फ़!”

“अब क्या हुआ”— मैं उसके पीछे ही था उसने एक टाँग उठा रखी थी।

“ये नीचे देखो अभी दब जाती”— उसने अपने पाँव के नीचे इशारा किया।

मैंने देखा चिटियों की पतली-सी कतार चौखट पार कर रही थी। उसने धीरे से पैर दूसरी ओर रखा। लड़खड़ाता हुआ वो बार के पीछे की दीवार पर जलधारा छोड़ने लगा। मैं वहीं थोड़ी दूर पर खड़ा था।

उस ने चैन ऊपर की, पलटा और मुझे देखते ही फिर चीखा, “अब तुम मुझे चैन से हगने-मूतने भी नहीं दोगे।”

“नहीं, नहीं, मेरे यहाँ रुकने का कारण सिर्फ़ यह है कि अब रात होने को है, पास ही एक ढाबा है। रोटी-शोटी खाकर चलते, थोड़ी देर आपका साथ और मिल जाता”— मैंने उसके कन्धे पर हाथ रखा, “आप बहुत जल्दी गुस्सा हो जाते हैं।”

“अब मैं अपने मन से गुस्सा भी नहीं हो सकता”— वो फिर चीखा।

“नहीं बयूँ नहीं, आइए चलें”— मैंने उसके कन्धे पर रखे हाथ को प्यार से दबाया। वो थोड़ा कमजोर हुआ। जैसे क्रोध की चरम सीमा आते ही क्रोध समाप्त हो जाता है, जैसे किसी पहाड़ की चोटी ही उसकी ऊँचाई का समापन कर देते हैं।

खाना खाते समय मैं लगभग चुप ही रहा। मैं नहीं चाहता था कि उसे छेड़ूँ और वह उठकर चल दे।

खाना खाकर मैंने उसे घर तक छोड़ने की बहुत ज़िद की परन्तु वो नहीं माना। हाँ, सिर्फ़ मुझे बस स्टॉप तक पहुँचा देने और नियत बस में बिठा देने की बात पर वो राजी हुआ। उसे छोड़कर मैं वापस कमरे पर आ गया।

कैसा है जीवन का उतार-चढ़ाव, धूप-छाँव। हम पूरा एक मौसम जी लेते हैं, उम्र के हर पड़ाव में। एक सिरे पर होता बसन्त और दूसरे पर पतझड़, बीच में तमाम घटनाएँ, परिवर्तन और उनके प्रभाव।

संकटाप्रसाद का जीवन भी ऐसे ही मेरे सामने आ गया था। हाँ, संकटाप्रसाद ही नाम है इनका। जो अभी-अभी बस में बैठे अपने घर की ओर चले जा रहे हैं।

इनसे मेरा परिचय कोई ज्यादा पुराना नहीं है। समझ लीजिए, आपसे थोड़ा पहले का।

बात अभी पिछले महीने की ही है। शहर के पेंशन दफ्तर में अपने पिताजी के साथ मुझे उनकी पेंशन के काम के लिए जाना था। पेंशन दफ्तर शहर के दूसरे कोने पर था। रोज वहाँ भीड़ लगी रहती। पेंशान, दुखी रिटायर्ड लोगों की लम्बी क़तारें, फैमिली पेंशन के लिए लाइन में बैठी बूढ़ी महिलाएँ और उनके साथ-साथ उनसे ज्यादा खीजते, गुराते उनके बेटे-बेटियाँ, नाती न्योते चुपचाप सब कुछ सहन करते डरे सहमे लोग। अपनी बारी के इन्तज़ार में बैठे रहते।

दरअसल पेंशन दफ्तर खुलने का समय आमतौर पर सभी सरकारी दफ्तरों की तरह दस बजे ही था। सबसे बड़े साहब आते थे बारह बजे और दफ्तर भी तब ही खुला समझा जाता था। बड़े साहब के आने की समय सारणी ही अन्य सभी कर्मचारियों के आने का क्रम निर्धारित करती थी।

जैसे यदि साहब बारह बजे तक घर से लंच का अत्यन्त आवश्यक गृहकार्य निपटाकर— इत्मीनान से पान चबाते, डकार लेते सरकारी कार की पिछली सीट पर धँसे-धँसाये सरकारी कार्य जैसे निहायत गैर ज़रूरी काम निपटाने आ रहे होते तब बड़े बाबू ग्यारह बजे अपनी मोटर साइकिल पर अपना टिफिन लटकाए कन्धे पर गमछा टाँगे, आँखों पर सुनहरी फ्रेम वाला चश्मा चढ़ाए लगभग राजाजी के मन्त्री की तरह दरबारे आम से होते हुए, वहाँ सुबह से बैठे बहुत सारे निरीह प्राणियों को थोड़ी घृणा और हिकारत से देखते हुए दरबारे खास यानी की अपने कमरे में दाखिल होते। छोटे बाबू उनसे थोड़ा पहले लगभग पौने ग्यारह बजे अपने दहेज़ में मिली नयी-नयी मारुति कार में आते, गले में सोने की चेन, हाथ में सोने के पानी वाली घड़ी, कमर में मोबाइल उनकी पहचान बन गए थे। उनके आने से ठीक पहले आते थे चिरंजीलाल। वो आकर दफ्तर का दरवाज़ा खोलते, अपना घर का कपड़ा बदलकर ऑफिस की नीली वर्दी पहनते और अब तक बहुत पहले से आ चुकी सफाई कर्मचारी

लछमिनियाँ को आवाज़ देकर ऑफिस की साफ़-सफाई, रख-रखाव में लग जाते।

रोज़ ऐसा ही होता, केवल कुछ अपवादों को छोड़कर जैसे जब साहब सरकारी काम से दौरे पर गए हों तब थोड़ा और लेट या फिर महीने की पहली, दूसरी तारीख या किसी बड़े अधिकारी के जाँच, मुआइने पर आने के दिन थोड़ा जल्दी, पर कमोबेश दिनचर्या यही रहती।

लेकिन कुछ बातें थीं जो इतनी अनिश्चितताओं में भी निश्चित थीं जैसे दफ्तर के बन्द होने का समय बिल्कुल निश्चित था। ठीक पाँच बजे चिरंजीलाल दफ्तर के गेट को ताला लटका कर अपनी साइकिल पर प्रस्थान कर चुके होते थे। यूँ तो दफ्तर में कहने-दिखाने को बड़ी ईमानदारी थी अब भला इन थके-हारे लोगों की पेंशन में से कोई क्या नहाएगा या निचोड़ेगा। मगर कुछ था जो निश्चित था 'खर्चा-पानी', 'सेवा-टहल।' फाइलें महीनों इस छोटे से दफ्तर की चार टेबुलों में कहीं-ना-कहीं उलझी रहतीं, बहुत सारे कागज़ों, प्रमाणपत्रों की दरकार में टाइम गुजरता या फिर साहब के दस्तखत की प्रतीक्षा में फाइलें यूँ लटकी रहतीं कि यदि इन फाइलों में जरा भी जान होती तब ये इसी दफ्तर में फाँसी लगाकर जान दे देतीं। परन्तु यह सारी फाइलें अब तक जीवित रहीं, चलती-फिरती रहीं। इनके सहारे कई सारे रिटायर्ड लोगों के घरों में चूल्हा जलता रहा, इसके अन्य कारणों में से एक बिल्कुल निश्चित कारण था हथेली की खुजली और उस पर लगने वाला गाँधी बाबा छाप खुजली मिटाऊ लोशन।

इन्हीं सब बहुत सारी निश्चित घटनाओं के बीच मैं और पिताजी लोगों के साथ इस दफ्तर के चक्कर लगा रहे थे। पिताजी के पेंशन के कागज़ पूरे दिये जा चुके थे। सारी औपचारिकताएँ पूरी की जा चुकी थीं। लगता था कि बस काम हुआ ही जानो। मेरे पिताजी भी शायद और पिताजी जैसे ही घोर आदर्शवादी थे। अपना काम बिना कुछ लिए दिए होता देखकर बहुत खुश थे। उन्होंने बार-बार मुझे ध्यान दिलाया कि देखो अभी भी बची है सच्चाई। ऐसा नहीं है कि सभी घूसखोर, बेईमान बैठे हैं। आखिर किसने कहा मुझसे कि लाएँ घूस दें। इन्सान को स्वयं ही दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए फिर देखिए भला कौन डिगा सकता है।

मैं भी सोचता रहा कि सही ही तो कह रहे हैं। मेरे सामने ही उदहारण था— चलो अच्छा ही है वरना दुनिया कैसे सम्भलती।

मगर वही हुआ जो मैं नहीं चाहता था। मैं नहीं चाहता था कि पिताजी की बात ग़लत साबित हो, वो हारें। परन्तु फाइल गुम हो गयी थी। अचानक बिना सूचना के चली जाने वाली खुशी की तरह।

“काम हो सकता है, परन्तु...।” कई सारे लोगों ने सलाह दी।

“नहीं, मैं जीते जी घूस नहीं दूँगा।” —ये मेरे पिताजी की नसों में दौड़ता सन् चालीस का खून बोल रहा था।

“आप चुप बैठें, मैं काम करवा लूँगा।”— यह मैं था जिसकी साँसें सन् दो हज़ार आठ की हवा से निकल रही थीं।

मैंने फैसला कर लिया था कि कैसे भी हो, मैं यह काम कराकर पिताजी की इस परेशानी को दूर करूँगा। वो भी बिना घूस के। मैंने सोचा कि कोशिश करके देखने में क्या हर्ज है।

लगभग दो सप्ताह से ज्यादा बीत गए थे। मैं हर रोज ही दफ्तर आता। चिरंजीलाल से लेकर साहब मुकुटबिहारी जी से मिलता, लछमिनियाँ से पूछता कि कहीं सफाई के दौरान उसने फाइल कूड़ेदान में तो नहीं डाल दी। परन्तु फाइल कहाँ थी, कुछ पता नहीं चल रहा था। अब तक मुझे सलाह-मशविरा देने वाले लोग भी थक-हार कर चुप हो गए थे।

उस दिन मैं दफ्तर के पास बनी कैंटीन में चाय पी रहा था। बहादुर आकर पानी रखने लगा था। इतने दिनों में उससे मेरी जान पहचान निकल आयी थी। उसने पानी रखकर पूछा, “आप संकटाप्रसाद से मिले, अपने चाचा।”

“अब ये संकटाप्रसाद कौन हैं, उनका क्या सम्बन्ध है इस दफ्तर से?” — मैंने अब तक सब पर विश्वास करना छोड़ दिया था, “तुम ही मिला दो, मैं यहीं बैठा हूँ।”

“नहीं वो वहीं आफिस में मिलते हैं। आइए मिला देता हूँ। शायद वो कुछ मदद कर सकें।” वो मुझे लेकर दफ्तर आ गया उसने मुझे बाहर ठहरने को कहा और खुद अन्दर चला गया। थोड़ी देर में बहादुर आया, “ये हैं संकटाप्रसाद जी, सबके चाचा।”

संकटाप्रसाद उर्फ चाचा मेरे सामने अपनी

पूरी शानो-शौकत के साथ खड़े थे। उम्र लगभग साठ-पैंसठ। अपने रंग उतर चुकी पैंट, कुछ-कुछ वैसी ही शर्ट जिसके कॉलर के पास की सिलाई उधड़ चुकी थी, पुराना-सा कोट, कई बार रिपेयर किया जा चुका जूता और बड़ा सा हैट। कन्धे पर एक खादी का झोला।

“चचा इनका काम समझ लीजिए, बेचारे बड़े परेशान हैं”, उसने मेरी ओर इशारा किया।

“अच्छा, यहाँ तो सभी परेशान होकर ही आते हैं... तू भी पकड़ लाता है सब को यहाँ”, वो वापस जाने को मुड़ने लगे।

“मैं खर्चा-पानी देने को तैयार हूँ” — मैं किसी भी स्थिति में उसे वापस जाने देना नहीं चाहता था।

“तू क्या देगा मुझे खर्चा पानी” — वो मेरे पास आ गये थे — “तेरे बराबर तो मेरा अपना बेटा है।”

“चचा खर्चा-पानी ना सही दारू-पानी तो चलेगा” — बहादुर ने चचा को आँख मारी।

“अबे, तूने मुझे कोई भिखमंगा समझ रखा है क्या। मैं अपनी मर्जी से कोई केस पकड़ता हूँ, जहाँ मन मिला वहीं हामी भरता हूँ, वरना जै राम जी की” — उसके मुँह से बदबू आ रही थी, दाँत इतने गन्दे की लगता था कई महीनों से मुँह ही ना धोया होगा।

मेरा काम ना अटका होता तो मैं उस जैसे इन्सान से शायद ही कोई बात करता।

“देखिए चचा मेरे पिताजी की पेंशन का मामला है वरना तो मैं आपको यूँ तंग ना करता” — मैंने उसे थोड़ा इमोशनल ब्लैकमेल करने की कोशिश की।

“अच्छा... तुम्हें बड़ी चिन्ता है।” पता नहीं उसने ऐसा क्यों कहा। मुझे समझ में नहीं आया फिर भी मैंने पिघलती बर्फ को तोड़ने की कोशिश की। टूटी हुई बर्फ और जल्दी पिघल जाती है। “चचा क्या करें बुढ़ापे में पेंशन ही तो एक सहारा है। उनके कुछ सपने अधूरे ना रह जाएँ, कुछ पैसे पास हो तो अच्छा रहता है।”

“अच्छा, बहुत अच्छा... ठीक ही कहा तुमने” — तो मुस्कराया, तिरछी नज़र से पहले मुझे फिर बहादुर को देखा, “चलो तय रहा तुम आज मुझे शराब पिलाओगे, बस।”

“ठीक है” — मुझे लग रहा था मैंने बर्फ पिघला ली है।

“लाओ डिटेल दे दो” — उसने मुझसे पेपर ले लिए।

चलते-चलते यों फिर से मुड़ा वापस मेरे पास आया। अब तक बहादुर जा चुका था। धीरे से उसने मेरे कन्धे पर हाथ रखा और थोड़ा शरमाते हुए कहा था, “मुझे एक सेकेंड हैंड कोट चाहिए। दिला दोगो क्या। ये साला फट गया है... हाँ, इसे घूस मत समझना। और एक बात ...अपने बाप से कहना अब सपने देखना छोड़ दे, मुझे देखो मैं कोई सपने नहीं देखता... दिन भर काम, शाम को दारू। ये मेरी ठाठ देखो। बस इतना ही, ना इससे थोड़ा कम, ना इससे थोड़ा भी ज्यादा। स्साली ज़िन्दगी की, सपनों की ऐसी तैसी करता हूँ रोज... फुल मस्ती।”

शाम को वो ठीक समय पर बताई हुई जगह पर आ गया था, शराब पी थी। मैंने उसे खाना खिलाया और वो अभी-अभी बस में जा चुका था।

मैंने अगले दिन पिताजी को बिना बताए रिप्लूजी मार्केट से एक सेकेंड हैंड कोट खरीद लिया साथ में पता नहीं क्यों एक सस्ता-सा मफलर एक जोड़ी गर्म जुराबें भी खरीद लाया था। मैंने सारा सामान छुपाकर रख दिया। मैं नहीं चाहता था पिताजी को कुछ भी पता चले।

मैंने उन्हें बोल दिया था, मैं किसी बड़े अधिकारी से मिला था। उसको अपना नाम बताया, वो आपको जानता था, कह रहा था आप जैसे ईमानदार लोगों का काम नहीं रुकना चाहिए। आपकी फाइल मिल जाएगी, काम हो जाएगा, आप निश्चिन्त रहें।

उस दिन बाबूजी बहुत खुश थे, सबसे कहते नहीं थक रहे थे — “देखो अब भी ज़िन्दा है इन्सानियत। उस दिन मेरी पत्नी रूमा ने खुशी-खुशी चाय-पकौड़े बनाए। उस दिन बाबूजी को खाना उनकी पलंग पर बिना बुलाए ही मिला और शायद एक-दो रोटियाँ बिना महँगाई का रोना रोए हुए मिल गयी।”

हाँ, उसी दिन बाबूजी गुनगुनाए भी थे, बहुत दिनों के बाद। मैं अगले दिन आफिस पहुँच गया था पर चचा कहीं नहीं मिले थे। मैंने बहुत ढूँढ़ा, पूरा दफ्तर, केबिन, कैटीन, यहाँ तक कि बार भी जहाँ हमने शराब पी थी।

मैं थोड़ा घबराया हुआ भी था, क्या हुआ आखिर बूढ़े को, मैं बाबूजी को बोल चुका हूँ बाबू जी अपने हिस्से की खुशी का इन्तजार कर रहे हैं, रूमा अपने आने वाले दिनों के बारे में सोचकर खुश है। मैं ये सेकेंड हैंड कोट,

मफलर और मोजे खरीद चुका हूँ। क्या करूँ, मेरे पास कोई अता-पता, फोन नम्बर भी तो नहीं था।

“बहादुर!... मुझे याद आया ज़रूर बहादुर जानता होगा। मैंने बहादुर से पूछा, पहले तो ठीक से नहीं बोला “होगा यही कहीं आ जाएगा।”

“पर यार तूने मेरा काम आधे-अधूरे में ही लटका दिया।” मैं उस पर झल्लाया, “वैसे तूने मुझे बताया नहीं ये चचा हैं क्या बला। कोई दलाल हैं या इन आफिस वालों के एजेंट। जो काम मेरे इतने भागने-दौड़ने पर इन नामकूल दफ्तर वालों ने नहीं किया, उसी काम को कैसे ये गन्दा, मैला-कुचैला व्यक्ति कराने की गारंटी ले रहा है।”

“साहब ये भी इसी दफ्तर में काम करता था, यहाँ ही चपरासी पूरे पैंतीस साल वो यहीं इसी दफ्तर में काम करता रहा। ऐसा लोग बताते हैं चपरासी का काम किया और उसी पर रिटायर हो गया। कमाल की समझ है साबजी इस दफ्तर के हर कोने, हर रैक, हर अलमारी, हर गट्टर की। कौन-सी फाइल कहाँ है किसी भी सन्, किसी तरह की पेंशन की फाइल ये सूँघकर निकाल लेता है” — बहादुर ने आँखें मटक़ायीं। उसकी मिचमिची आँखों में कौतूहल अपना आकार बदल रहा था।

“पर तुमने तो कहा था वो रिटायर हो गया... फिर वो यहाँ... कैसे काम करता है” — बहादुर की आँख का कौतूहल मेरी पुतलियों में भी उतर आया।

“यहाँ उसके इसी हुनर से सबको बड़ा आराम है साँब — इस समय के चपरासी को ज्यादा काम नहीं करना पड़ता, बाबू भी खुश, साहब भी। उसके बदले में जो इन सभी को ऊपर की कमायी होती है, बस उसमें से इसकी रोज की दारू और खाने का पैसा इसे मिल जाता है। समझो, इस दफ्तर में प्राइवेट असिस्टेंट है साँब वो और बूढ़े के भी खूब ठाठ हैं... हैं ना साँब सूट, बूट।”

“क्यूँ इसका कोई है नहीं क्या, जो ये अब भी काम करता है। ये तो बड़ी अजीब-सी बात है बिल्कुल गैर क्रानूनी।”

“क्या साँब क्या क्रानून-वानून। देख तो लिया आपने इन सरकारी बाबू लोगों को।”

“मुझे उसका पता चाहिए। कम-से-कम इस मुसीबत को तो उस तक पहुँचा दूँ।” मैंने अपने हाथ में थामे पैकेट को सम्भाले-सम्भाले ही कहा।

बहादुर ने अन्दर जाकर पता लगाया और मुझे एक कागज़ का टुकड़ा थमा गया— उसका पता था।

बस स्टैंड पहुँचते-पहुँचते मुझे उस दिन की बस का रूट और नम्बर याद आ गया। लगभग पैंतालिस मिनट में मैं उस मुहल्ले में था। शाम हो रही थी। अँधेरा लगभग अलसाया—सा पसरने लगा था। हमारे थकने से पहले ही दिन थक जाता है। रोशनी सिमट जाती है। मैं उनका घर ढूँढ़ने लगा।

“कौन चचा”, मैंने एक से पूछा। ये उनका अधूरा नाम था तभी दूसरे ने उसे पूरा कर दिया था, “अच्छा वो संकटाप्रसाद, बिजली बाबू के पिताजी।”

“हाँ, हाँ शायद वही, वो जो पेंशन आफिस में काम करते हैं... मेरा मतलब है, करते थे... मगर अब भी करते हैं।” थोड़ा हकलाया।

“ठीक है, ठीक है, समझे, वो उधर उस ओर छठा मकान... तीसरे खम्भे से चौथा” उसने समझाया, “पर आपको उनसे क्या काम पड़ गया।”

“कुछ नहीं, बस मिलना था। थोड़ा काम था उनसे। अच्छा... धन्यवाद! मैं कुछ ही क्षणों में उस घर के गेट पर था। कोई बिजली बाबू का सजा-धजा मकान। मुझे लगा, वाह बूढ़े की तो यहाँ भी शान है... चलो ठीक ही है।”

मेरे कॉलबेल बजाते ही दरवाज़ा धड़क से खुला— आ गये, बड़ी जल्दी आए। वो एक कर्कशा औरत थी। शायद बूढ़े की बहू, मुझे देखते ही थोड़ा झेंपी।

“हाँ बोलिए... आप कौन, किससे मिलना है।”

“जी मुझे संकटाप्रसाद जी से मिलना था, क्या वो घर में हैं। बस दो मिनट के लिए बुला देती तो अच्छा था।” मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए कहा।

उसने मेरे हाथ में थमे लिफ़ाफ़े की ओर देखा और जैसा कि आमतौर पर घर आए मेहमान के हाथ में थमा मिठाई का डिब्बा या पैकेट उसकी आवभगत का स्तर सेट कर देता है। बड़ा—सा पैकेट देखकर उसने मुझे ड्राइंगरूम में बिठा दिया। एक गिलास पानी और कुछ बिस्कुट रख गयी।

“आपका कोई काम होगा मेरे ससुर से।”

“जी हाँ”

“करा दिया उन्होंने।”

“पता नहीं।”

“पता नहीं मतलब?”

“जी, अब उनसे मिलूँ तो पूछूँ।”

“अच्छा... ठीक है बैठिए... अभी आते होंगे।”

“मुझे लगा निश्चित रूप से खुश होंगे संकटाप्रसाद उर्फ चचा” —मैं उनका इन्तज़ार करने लगा।

थोड़ी देर में पीछे का दरवाज़ा खुलने की आवाज़ आयी। कोई अन्दर आया था। वो जो भी था फुसफुसाकर बात कर रहा था। अभी-अभी भीतर गयी कर्कशा औरत भी फुसफुसाने की कोशिश कर रही थी। मगर फिर भी आवाज़ दब नहीं रही थी। यहाँ तक आ रही थी।

“मिल गयी पेंशन... इतने कम पैसे बाक्री कहाँ उड़ाएँ।”

“मेरी दवा खत्म...।”

“अच्छा दवा बिना मेरे तो नहीं जा रहे थे।”

“मेरी शुगर बढ़ गयी है... डॉक्टर की क्लिनिक पर गया था, कुछ जाँच भी करानी पड़ी।”

“तो क्या सरकारी डॉक्टर मर गए थे।”

“धीमे बोलो बहू, आस-पड़ोस का तो...।”

इस बार कर्कशा चुप रही। फिर फुसफुसाई— “जाओ कोई आया है... मुफ्त में काम मत करना, खींच कर लेना, वरना एक टाइम का खाना बन्द कर दूँगी समझे।”

वो थोड़ी देर में ड्राइंगरूम में मेरे सामने खड़े थे। एक गन्दा—सा पट्टे का पायजामा लगभग उतना ही गन्दा फटा—सा सफेद कुर्ता और घिसी हुई हवाई चप्पल। हरदम सूट-बूट में रहने वाला, अपने ठाठ की बात करने वाला व्यक्ति अपने इस रूम में खड़ा था।

मुझे देखते ही उनका मुँह खुला—का—खुला रहा गया। वो ऐसे ही फुसफुसाए जैसे कोई चोरी पकड़ी गयी थी या फिर जोर से बोलना उनके लिए मना था— “तुम यहाँ क्यों आए, थोड़ा—सा भी सबर नहीं... मेरा जुलूस देखने आए हो... ठहरो।”

उनकी टाँगें लगभग काँप रही थीं, चेहरे का रंग उड़ चुका था। वो अन्दर गए और तुरन्त ही वापस लौट आए।

“चलो बाहर चलते हैं।”

मैं उनके साथ बाहर गली में आ गया।

“ये लो अपने बाप की पेंशन के कागज़”, उनके काँपते हाथों में कागज़ का टुकड़ा भी काँप रहा था।

“मुझे कल से बुखार आ रहा था इसीलिए नहीं आया।”

मैंने खोलकर देखा पेंशन के कागज़ पूरे थे। मैंने उन्हें उनका सामान थमाया, साथ में पाँच सौ का एक नोट भी दिया। मैं नहीं चाहता था, उनको कोई और परेशानी हो।

अब कहने—सुनने को कुछ नहीं बचा था। मैं वापस मुड़ने लगा। उनके हाथ मेरे हाथ से सरक रहे थे। उन्होंने अचानक सरकते हाथों को रोक लिया। उनकी मुट्ठियाँ फिर कस गयीं, “सुनो, कोशिश करना तुम्हारे पिताजी के सपने ज़िन्दा रहें वो भी तुम्हारे सहारे।”

उनका हाथ छूट गया। वो गली के अँधेरे में गुम हो गए थे।

लौटती बस में बैठे-बैठे मैं अपनी शर्ट की ऊपरी जेब में रखे पेंशन के कागज़ को टटोल रहा था। सोच रहा था आज पिता जी खुश होंगे कि आज भी ज़िन्दा है इन्सानियत, कि उनकी ईमानदारी की इज्जत आज भी करते हैं लोग, कि अब वो चैन से अपना बुढ़ापा काट सकेंगे, उनके बचे हुए सपने भी पूरे हो सकेंगे।

मैं यह भी सोच रहा था, आज रूमा बहुत खुश होगी। अब बाबूजी को खाने से पहले महँगाई के रोने की सूप नहीं पीनी पड़ेगी। रूमा खुश होगी कि अब बाबूजी के पेंशन के पैसे से गिन्नी-बिन्नी की म्यूजिक क्लासेस का खर्च निकल सकेगा।

मुझे नहीं पता, मुझे इस समय क्या-क्या सोचना चाहिए। हाँ, मुझे जाने क्यों ऐसा लग रहा है ये कागज़ रास्ते में ही कहीं गुम हो जाएँ, ये बस घर का रास्ता ही भटक जाए, या फिर मैं पिताजी को बिना उनकी पेंशन के सहारे आराम से रख सकूँ या फिर ऐसा क्यों ना हो कि संकटाप्रसाद भी चैन से घर में बैठे बच्चों को कहानियाँ सुनाएँ, शुगर का इलाज ठीक से कराएँ, अखबार पढ़ें और दाल रोटी खाएँ।

मैंने कहा ना मैं अक्सर कैसे-कैसे सपने देखने लगता हूँ।

सहायक प्राचार्य

अस्थिशल्य अस्थिरोग विभाग

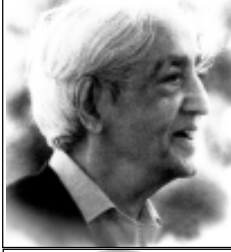
पी.जी.आई. एम.ई.आर., सेक्टर-12

चंडीगढ़-160 012

मो.: 09876365674,

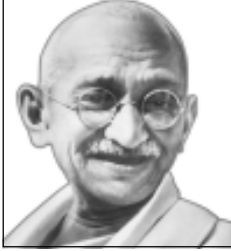
09878934040

विश्व-प्रसिद्ध, क्लासिक साहित्य



tsN' jwffZ

शिक्षा क्या है?	175/-
ईश्वर क्या है?	125/-
आपको अपने जीवन में क्या करना है?	175/-
ध्यान	125/-
आमूल क्रांति की आवश्यकता	100/-
हिंसा से परे	80/-
संस्कृति का प्रश्न	100/-
प्रथम और अंतिम मुक्ति	175/-
सोच क्या है?	125/-



egjPclak/h

सत्य के प्रयोग	150/-
मेरे सपनों का भारत	175/-
संस्कृत का प्रश्न	250/-



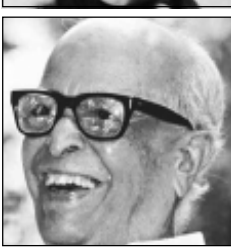
jhukKskj

गीतांजलि	85/-
साधना	75/-
पथ का गीत	75/-



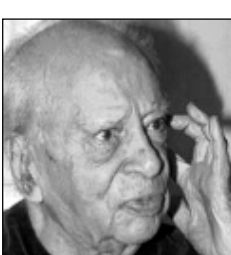
[kyhyftczku

आवारा	75/-
मसीहा	75/-
रेत और झाग	65/-
संस्कृत का प्रश्न	75/-
संस्कृत का प्रश्न	75/-
संस्कृत का प्रश्न	65/-



vkj-osQ-ukjk; .k

गाइड	135/-
मालगुडी की कहानियाँ	175/-
स्वामी और उसके दोस्त	125/-
इंग्लिश टीचर	135/-



eqYdjkt vkuH

कुली	225/-
अछूत	150/-
सात साल	200/-



नए संदर्भ ग्रंथ

भारतीय चरित कोश

संपादक : लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

पुरातन काल से लेकर आज तक के दो हजार भारतीयों के जीवन और उपलब्धियों का सचित्र परिचय अकारादि क्रम में प्रस्तुत, साथ में एक से अधिक बार प्रयुक्त नामों के लिए Cross reference भी दिया गया है। मूल्य 850.00 रुपये

कहावत कोश

संपादक : समरसिंह

हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू तथा संस्कृत में एकसाथ समानार्थक कहावतें, साथ ही हिन्दी एवं संस्कृत में सात सौ चुने हुए सुभाषित। यह अनूठा ग्रन्थ एक प्रकार से त्रिवेणी के संगम के समान है। मूल्य 250.00 रुपये 1 पृष्ठ संख्या 384

भारतीय संस्कृति कोश

संपादक : लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

वेदों से लेकर आधुनिक सन्दर्भों में भारतीय संस्कृति के सैकड़ों पात्रों, प्रतीकों, मान्यताओं का समग्र परिचय। दो हजार से अधिक प्रविष्टियाँ अकारादि क्रम में प्रस्तुत हैं, जिससे कोई भी प्रविष्टि खोजना बेहद सरल हो गया है। यह भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण प्रामाणिक कोश है।



मूल्य 500.00 रुपये 1 पृष्ठ संख्या 1032

राजपाल

संस्कृत साहित्य के अमूल्य क्लासिक ग्रंथों की हिन्दी में सरल, सरस प्रस्तुति

	मूल्य
वाल्मीकि रामायण	महर्षि वाल्मीकि 50.00
अभिज्ञान शाकुन्तल	महाकवि कालिदास 75.00
रघुवंश	महाकवि कालिदास 50.00
हितोपदेश	श्री नारायण पंडित 40.00
पंचतंत्र	आचार्य विष्णु शर्मा 50.00
कुमारसंभव	महाकवि कालिदास 75.00
दशकुमारचरित	दण्डी 85.00
मुद्राराक्षस	विशाखदत्त 75.00



राजपाल

प्रगतिशील आन्दोलन और आधुनिकता

शम्भुनाथ

प्रगतिशील साहित्य का सैकड़ों साल का इतिहास है, पर प्रगतिशील आन्दोलन 1936 में शुरू होता है प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से। रामविलास शर्मा की आलोचना का सम्बन्ध भारतीय जनता की प्रगतिशील चेतना के विकास से है, निश्चय ही प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिशील आन्दोलन से उसका खास सम्बन्ध है। वह 1949 से 1953 तक प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव थे। उनकी प्रगतिशील साहित्य के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य के निर्माण में अग्रणी भूमिका है, बल्कि इस साहित्य के उनके मूल्यांकन को लेकर उस समय चले वाद-विवाद में भी साहित्य की समझ के कई बहुमूल्य सूत्र हैं। रामविलास शर्मा के उस दौर के लेख 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में संकलित हैं। उस ज़माने के वाद-विवाद के मुद्दों में कई ऐसे हैं, जो 21वीं सदी की स्थितियों में पुराने और गुज़रे ज़माने के वितंडा लगते हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं, जिन पर रामविलास शर्मा के विचार आज ही नहीं जनतान्त्रिक आन्दोलन के किसी भी नये दौर में मार्गदर्शन कर सकते हैं।

कौन-सा साहित्य प्रगतिशील है और कौन-सा प्रतिगामी—इस पर तीखी बहस जब चल रही थी, पूँजीवाद के अन्तिम वर्ष गिने जा रहे थे। आशा की जा रही थी, 'वह सभ्यता जो अपना नाश निश्चित समझती है, पूँजीवादी सभ्यता ही है'। पूँजीवाद को लेकर एक गरम माहौल था, कहीं-कहीं सशस्त्र समाजवादी क्रान्ति की बात भी चल रही थी। इसके बाद घटनाओं का एक लम्बा इतिहास है। 1991 में सोवियत रूस के विघटन और वैश्वीकरण की प्रक्रिया में पूँजीवाद के नये यौवन से दुनिया की एक महान उम्मीद आहत हुई। 'वर्ग' ही नहीं, 'मनुष्य' की अवधारणा भी धूमिल हो उठी। खासकर आज आदमी के पास मनोरंजन और आराम के इतने सामान पहुँच गए हैं कि साहित्य का सामाजिक असर सन्दिग्ध नज़र आता है। इन सबके बावजूद, भरोसा यह है कि आज बौद्धिक तबाहियों के बीच केन्द्रीय चिन्ता में 'मनुष्य' फिर आ रहा है, अर्थात् मानवता को कभी विध्वंस नहीं किया जा सकेगा। साहित्य का अस्तित्व मानवता के अस्तित्व से सम्बद्ध है, अतः साहित्य भी कभी ख़त्म नहीं होगा।

प्रगतिशील साहित्य का परिप्रेक्ष्य एक दिन में तैयार नहीं हुआ है। यह एक विकासशील परिप्रेक्ष्य है, जिसके निर्माण में रामविलास शर्मा की भूमिका अहम मानी जानी चाहिए। यह काम सज़्जाद ज़हीर, मुल्कराज आनन्द आदि ने 1935 में लन्दन से शुरू किया था, पर प्रेमचन्द इसमें पहले हाथ डाल चुके थे। रामविलास शर्मा इसे भारतीय ज़मीन की घटना के रूप में अधिक देखते हैं, "सन् '30 के बाद हिन्दी साहित्य में एक व्यापक और बुनियादी परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन अपने आप हुआ था, किसी संगठन द्वारा निर्देश देने पर या उससे संचालित होकर यह परिवर्तन नहीं हुआ। उन सभी लोगों के लिए

जो हिन्दी साहित्य का विकास चाहते हैं, यह परिवर्तन ध्यान देने योग्य है। यह परिवर्तन यथार्थवाद की ओर है। प्रेमचन्द ने पहले विश्व युद्ध के समय 'सेवासदन' लिखकर इस यथार्थवाद के लिए ज़मीन तैयार की थी। पहले विश्व युद्ध के बाद 'प्रेमाश्रम' लिखकर उन्होंने उस ज़मीन को मजबूत किया था। सन् '20 के असहयोग आन्दोलन के बाद उन्होंने काल्पनिक समाधानों का रास्ता छोड़कर अपने यथार्थवाद को पुष्ट किया था। सन् '30 के बाद प्रेमचन्द ने इस यथार्थवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया।" (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य)। निश्चय ही इस ज़मीन को तैयार करने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर द्विवेदी, प्रसाद, निराला आदि की भूमिका भी स्वीकार करनी चाहिए।

प्रगतिशील लेखक संघ का पहला सम्मेलन 9-10 अप्रैल 1936 को लखनऊ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में हुआ था। उन्होंने इस योजना का बिना हीले-हवाले के स्वागत ऐसे किया, मानो वह इसके लिए पहले से तैयार बैठे हों, "हम इस संस्था का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि वह चिरंजीवी हो। हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की ज़रूरत है और हमने यही आदर्श सामने रखा है। 'हंस' भी इन्हीं उद्देश्यों से जारी किया गया है।" प्रेमचन्द के इस कथन से रामविलास शर्मा की उपर्युक्त स्थापना पुष्ट होती है कि प्रगतिशील आन्दोलन प्रगतिशील साहित्य की नयी परम्परा का ही संगठित विकास था। यह बाहर से अचानक आई चीज न थी। यह एक व्यापक जनतान्त्रिक उभार का अंग था, जिसकी एक कड़ी थी उसी साल किसान सभा की स्थापना और एक अन्य कड़ी थी नेहरू का कांग्रेस अधिवेशन का सभापति चुना जाना। ये तीनों घटनाएँ लखनऊ में घटीं।

निश्चय ही हिन्दी क्षेत्र में प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन का विकास जटिल सामाजिक दशाओं और उत्साह में हो रहा था। रामविलास शर्मा छायावाद और प्रेमचन्द के रास्ते से होकर इस आन्दोलन के नेतृत्व में आए थे। वे जब शामिल हुए, यह समझना ज़रूरी है कि उनके सामने मुख्य चुनौती थी प्रगतिशील आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोधी स्वर को अधिक मुखर और विस्तृत बनाने की। खासकर 1935 में लन्दन से जारी प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा पत्र में यह स्वर पर्याप्त मुखर न था, उसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद को स्पष्ट चुनौती नहीं थी। इसके अलावा, वे प्रगतिशील आन्दोलन का काम मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार समाज और साहित्यिक कृतियों के बीच यान्त्रिक भौतिकवादी सम्बन्ध स्थापित किए बिना करना चाहते थे, किसी भी युग को समझने के लिए आर्थिक सम्बन्धों को जानना ज़रूरी है, लेकिन साहित्य और कला इन सम्बन्धों की छायामात्र नहीं हैं" (वही)। जाहिर है, साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य का सावधानीपूर्वक निर्माण होना था।

मार्क्सिय सिद्धान्त में 'आधार' और 'अधिरचना' के सम्बन्ध पर बहुत कुछ कहा गया है। अर्थतन्त्र आधार है, संस्कृति अधिरचना है। रामविलास शर्मा इस सम्बन्ध में अधिक वास्तविक होकर सोचते हैं, "अर्थतन्त्र बुनियाद है, संस्कृति उसका प्रतिबिम्ब है। समाज की आर्थिक बुनियाद बदल गई तो उसका प्रतिबिम्ब भी बदल गया। इस सूत्र में अर्थतन्त्र और संस्कृति के सम्बन्ध को यान्त्रिक माना गया है, संस्कृति की सापेक्ष स्वतन्त्रता को अस्वीकार किया गया है। अध्यात्मवादी लोग मनुष्य के विचारों को उसके सामाजिक जीवन से पूर्णतः स्वतन्त्र मानते हैं। यान्त्रिक भौतिकवादी उन्हें पूर्णतः परतन्त्र मानते हैं। संस्कृति और समाज व्यवस्था के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को दोनों में कोई नहीं समझता।" (वही) आज के अति-पूँजीवादी जमाने में सामन्ती संस्कृति का वर्चस्व देखकर ज्यादा समझ में आ सकता है कि संस्कृति इस तरह नहीं बदलती। अर्थतन्त्र का संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है, पर दोनों के बीच यान्त्रिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। जाहिर है, रामविलास शर्मा ने साहित्य, संस्कृति और कला के मामलों में मार्क्सवाद का रचनात्मक विनियोग किया, कठमुल्लेपन का परिचय नहीं दिया। इस दृष्टिकोण से उन्होंने मुख्यतः कुछ प्रगतिवादी चिन्तकों के उस विध्वंसक अभियान को रोकने की कोशिश की, जो निराला, छायावाद ही नहीं प्राचीन महाकाव्य, कालिदास और भक्ति साहित्य के विरुद्ध था। प्रगतिशील आन्दोलन का मतलब होता जा रहा था प्राचीन सांस्कृतिक विरासत का अन्ध-विरोध।

उदाहरण के तौर पर राहुल सांकृत्यायन की निगाह में प्राचीन विरासत में सिर्फ भौतिकवादी दर्शन और बौद्ध धर्म की सांस्कृतिक परम्परा ही महत्वपूर्ण है, प्रच्छन्न बौद्ध शंकराचार्य के बाद का सब कुछ, यहाँ तक कि भक्ति आन्दोलन भी बेकार है। कालिदास चाटुकार कवि थे। रांगेय राघव के लिए इतिहास के श्रेष्ठ तत्त्व द्रविड़ इतिहास में ही थे— उसमें आदि साम्यवाद के चिह्न थे। उनकी नज़र में छायावाद ने हिन्दी साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुँचाया हो। इन लेखकों ने अपने श्रेष्ठ साहित्य से मार्क्सवाद के प्रचार में प्रमुख भूमिका निभाई, पर प्राचीन भारतीय विरासत के बारे में इनकी दृष्टि अर्थतन्त्र और साहित्य के बीच यान्त्रिक सम्बन्ध स्थापित करने की वजह से संकीर्ण थी। प्रगतिशील आन्दोलन की इस पेचीदी स्थिति के कारण रामविलास शर्मा को कहना पड़ा कि उनकी आलोचना का सम्बन्ध मुख्यतः प्रगतिशील आन्दोलन के अन्तर्विरोधों से है।

उल्लेखनीय है कि प्रगतिशील लेखक संघ के 1949 के भिवंडी सम्मेलन में कहा गया था, "प्रगतिशील लेखक प्राचीन साहित्य और संस्कृति के सच्चे उत्तराधिकारी हैं और मानव सभ्यता की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं को आगे ले जाते हैं।" बल्कि 1936 के लखनऊ सम्मेलन के घोषणापत्र में ही 'भारतीय संस्कृति की परम्पराओं की रक्षा' का दायित्व स्पष्ट रूप से निर्धारित था। फिर भी कई ने इस पर ध्यान नहीं दिया या भारतीय संस्कृति के किसी खास काल खंड के प्रति ही लगाव रखा। चीजें निरन्तरता और विकास में नहीं देखी जा रही थीं। यह एक चिन्ताजनक मामला था, इससे अतिवाद बढ़ा। राहुल और रांगेय राघव ने जब 'रामायण' और तुलसी की आलोचना की, रामविलास शर्मा ने समझाने की कोशिश की, "राम को जनता ने अपना 'हीरो' बना दिया, उसके गुण जनता के गुण भी हो सकते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' में जिन वीर नायकों के चरित्र वर्णित हैं, उनकी लोकप्रियता उनके सामन्ती

ऐश्वर्य के कारण नहीं है। ये महाकाव्य आज भी हमारी जनता को प्रिय हैं, इसलिए उनमें हमारे पूर्वजों के अनेक ऐसे गुण हैं, जिन्हें हमारी जनता प्यार करती है" (वही)। उन्होंने प्राचीन सांस्कृतिक विरासत के बुद्धिवादीकरण पर जोर दिया। वह फ़तवे की जगह तर्क का उत्तर तर्क से चाहते थे।

रामविलास शर्मा ने पन्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जैनेन्द्र वगैरह की भी आलोचना की। पन्त का मामला लें। वह प्रगतिवाद के असर में आए, उन्होंने 'रूपाभ-1' के सम्पादकीय (1938) में छायावाद की हवाई कल्पना पर प्रहार करते हुए घोषणा की, 'इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती।' पन्त 'ग्राम्या' की भूमिका में कहते हैं, "मैंने ग्राम जनता को रक्त-मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है। एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव के रूप में देखा है।" इस पर रामविलास शर्मा टिप्पणी करते हैं, "पन्तजी को ग्रामीण जन मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव रूप में ही दिखायी देते हैं, रक्त-मांस के जीव नहीं, इस दृष्टिकोण की बौद्धिकता की दुहाई है" (वही)। पन्त से निराला इसी बिन्दु पर भिन्न हैं कि इन्हें ग्रामीण जन ठोस किसान लगते हैं। वह फ़र्क रूखी बौद्धिक सहानुभूति और विचार-सम्पन्न हार्दिक सहानुभूति का है। फिर भी रामविलास शर्मा ने अपना आलोचनात्मक आक्रमण ऐसे लेखकों पर केन्द्रित न करके प्रगतिशील लेखकों पर केन्द्रित किया, क्योंकि वे मानते थे कि यदि साम्राज्यवाद विजय की तरफ बढ़ा, इस दशा के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार वामपन्थी होंगे।

प्रगतिशील साहित्य को अपनी ही सांस्कृतिक विरासत का विकास कह कर रामविलास शर्मा उसे राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक लक्ष्यों से जोड़ना चाहते हैं। वे अपने समय के एक कुप्रचार का विरोध करते हुए कहते हैं, "प्रगतिशील साहित्य विदेशी साहित्य का अनुकरण है, अराष्ट्रीय है, यह प्रचार मिथ्या है। हम दूसरे देशों के प्रगतिशील साहित्य से सीखते हैं। हमारे महान लेखकों में ऐसा कौन है, जिसने यह नहीं किया?" (वही) एक तरफ अपनी राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत के प्रति आलोचनात्मक उदारता, दूसरी तरफ दुनिया के मेहनतकश वर्ग की सांस्कृतिक विरासत के प्रति समावेशी आलोचनात्मकता उनकी दृष्टि को व्यापक बनाती है। वे हिन्दी से आगे बढ़कर भारतीय साहित्य की परम्परा के मूल्यांकन में ही नहीं उतरते, बल्कि विश्व इतिहास की खिड़कियों से भी चीजों को देखते हैं।

प्राचीन भारतीय विरासत में सिर्फ सामन्तवाद देखना जितना आत्मघातक मामला था, नये आधुनिक साहित्य के एक बड़े हिस्से में सिर्फ साम्राज्यवादी असर ढूँढ़ना भी एक वैसा ही आत्मघातक मामला था। प्रगतिशील आन्दोलन और आधुनिकता के बीच अच्छा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। दरअसल यथार्थवाद और आधुनिकता में चरम विरोध की खोज वैसे ही गैरज़रूरी थी, जिस तरह यथार्थवाद और प्राचीन भारतीय विरासत के बीच चरम विरोध देखना सही न था। हालाँकि यह समझना भी ज़रूरी है कि रामविलास शर्मा आधुनिकता के प्रश्न पर उसके किन तत्त्वों पर चोट करते हैं।

प्रगतिशील लेखक सामन्तवाद-साम्राज्यवादी-विरोधी चेतना के साथ जनता से जुड़ें, रामविलास शर्मा की दृष्टि में यह ज़रूरी था। वह यह स्पष्ट करने में भी पीछे नहीं हैं, "प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है, जब वह साहित्य भी है, सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता" (वही)। वह कहते हैं कि प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता, उसमें यथार्थवाद के अलावा कलात्मक

सौष्ठव भी होना चाहिए। इसके अलावा, “‘उसमें व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति के सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिए’” (वही)। ऊपर की उक्ति से पता चलता है कि उनकी आलोचना दृष्टि में सर्वत्र समाज समाज ही नहीं है, व्यक्ति भी है। उन्हें दिक्कत तब होती है, जब ‘प्रयोगवादी सज्जन कला की दुहाई देकर घोर कलाहीन रचनाएँ करते हैं।’ इन कलावादी रचनाओं को शिक्षित लोग भी समझ नहीं पाते। दूसरे, व्यक्ति ऐसे व्यक्तिवाद की ओर बढ़ जाता है, जिसमें साम्राज्यवाद को सेंध मारने में आसानी होती है। यह व्यक्तिवाद सैकड़ों सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप धारण करता है। व्यक्तिवाद का विरोध ‘व्यक्ति’ का विरोध नहीं है।

प्रगतिशील साहित्य की व्यापक ज़मीन की ओर इशारा करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं, “‘कहा जाता है कि जो लेखक जनता के आर्थिक कष्टों के बारे में लिखते हैं या मजदूरों से हड़ताल करने को कहते हैं, वही प्रगतिशील हैं। ऐसा नहीं है। जनता के जीवन में जो कुछ महत्वपूर्ण है, उसका प्रेम, सुख-दुख उन सब को प्रगतिशील साहित्य प्रतिबिम्बित करता है’” (वही)।

रामविलास शर्मा ने पूँजीवाद के उस ख़ास दमनकारी दौर में यह तल्खी से महसूस किया कि बुद्धिजीवी आगे बढ़कर श्रमजीवी वर्ग को उसके मुक्ति-संघर्ष में मदद करे, “‘उसके चिन्तन, लेखन और कला का लक्ष्य होना चाहिए कि पीड़ित वर्ग मुक्ति पाए।... मार्क्सवादी दर्शन क्रान्तिकारी दर्शन है। वह समाज की गति को समझने और उसे बदलने का दर्शन है। इसलिए उसे अपनाते वाला बुद्धिजीवी— उसे अपनाकर ही बुद्धिजीवी सही रास्ता पा सकता है— वर्ग संघर्ष से दूर नहीं जा सकता।’” (वही) रामविलास शर्मा एक सतत जागरूक मार्क्सवादी आलोचक थे, जिन्होंने बिना कहीं झुके और अवसर का लाभ उठाए अपना पूरा जीवन साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने इसके लिए एक बड़ी वैचारिक ज़मीन तैयार की।

प्रगतिशील आन्दोलन में मार्क्सवाद प्रमुख प्रेरणा के रूप में काम कर रहा था। लेकिन इस आन्दोलन में ऐसे काफ़ी लेखक थे, जो मार्क्सवादी नहीं थे। इसलिए रामविलास शर्मा के अनुसार, “‘इस आन्दोलन की सबसे बड़ी समस्या मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों तथा अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता की समस्या रही है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य एक ओर, और मार्क्सवाद से अप्रभावित, उससे भिन्न विचारधारा से प्रभावित राष्ट्रीय-जनवादी साहित्य दूसरी ओर— दोनों ही तरह के साहित्य और साहित्यकारों की एकता हमारी संस्कृति और समाज के लिए आवश्यक थी।’” मुश्किल यह है कि यह एकता ही उपेक्षित हुई। इतिहास से ज्ञात है कि यह एकता बार-बार बनी और टूटी।

लेखक-संगठन की उपर्युक्त विडम्बना की एक बुनियादी वजह भारत की वामपन्थी राजनीति के बिखराव और भूलों में है। दूसरी बड़ी वजह, लेखक-संगठन में भारतीय प्रकृति के विरुद्ध कठोर केन्द्रवाद को प्रधानता मिलना है। साहित्य कभी राजनीति की जेरक्स कॉपी नहीं हो सकता, यह एक उदार क्षेत्र है। तीसरी वजह, व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द और उपकार-प्रतिउपकार को बढ़ावा है। नतीजन रचनात्मक और विचारात्मक सरोकारों से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। ‘अपना आदमी-उनका आदमी’ या व्यक्तिगत की कसौटी। इन सबका असर इस पंक्त में फँसे लेखकों की साहित्यिक

गुणवत्ता पर पड़ता है। आम जनता की एकता पर भी पड़ता है। दरअसल लेखकों को राजनीति से जोड़ने के साथ उन्हें प्रेम, सहयोग, संवाद और सद्व्यवहार से बाँधना भी ज़रूरी है। इसका हिन्दी क्षेत्र में अकाल रहा है। हिन्दी लेखकों के बीच व्यक्तिगत असहिष्णुता बहुत अधिक रही है, जो एक घातक बीमारी है।

रामविलास शर्मा में यह बेचैनी स्वाभाविक थी कि हिन्दी साहित्य को जनता की जैसी सेवा करनी चाहिए, घोर संकट की दशाओं में भी वह नहीं कर पा रहा है। साहित्य जनता से अलग होकर अन्ततः साहित्यकार के पास भी बच नहीं सकता था। वास्तविकता यही है, साहित्यकार अन्ततः महज लेखक होकर रह गए।

रामविलास शर्मा की नज़र में प्रगतिशील साहित्य की प्रमुख समस्याएँ ये थीं—

(1) साहित्य में जनता के दुख-दर्द आएँ, वह केवल शहरी मध्यवर्ग के आसपास मंडरा कर न रह जाए।

(2) मध्यवर्ग का चित्रण इस वर्ग को देश की विशाल जनता से जोड़कर हो, ऐसा करते हुए लेखक सेक्स की समस्याओं में ही उलझ कर न रह जाए।

(3) लेखक जनता के नाम पर लफ्फाजी न करे और न ही जीवन की महज नकारात्मक-निराशाजनक तस्वीर उपस्थित करे।

(4) लेखक हिन्दी साहित्य की परम्पराओं और जातीय विशेषताओं के प्रति अवमाननापरक रुख न बनाए।

(5) लेखक ‘वैज्ञानिक’ आलोचना के नाम पर भारत के प्राचीन साहित्य और सांस्कृतिक विरासत की भेंड़ी नुक्ताचीनी न करे। वह धार्मिक रूपों के अन्दर छिपी हुई ऐतिहासिक वस्तु, जनवादी भाव-विचारों की अवहेलना करके अपनी विरासत को प्रतिक्रियावादियों के हाथ में न सौंप दे।

(6) कला और भाषा के प्रति लापरवाही साहित्य को प्रभावहीन बना देगी, प्रगतिशील लेखक यह दोष दूर करें।

(7) कला के नाम पर जो प्रयोग हो रहे हैं, उनमें वस्तुतः कलाहीनता ही नहीं विकृतियाँ भी हैं। प्रयोग ऐसे हों जो जनप्रियता प्राप्त करें।

(8) साहित्य में प्राचीन विरासत के नाम पर साम्प्रदायिकता का प्रचार किया जा रहा है। अध्यात्मवाद और कलावाद लाया जा रहा है। अश्लीलता और व्यभिचार के चित्र देकर लोगों को गुमराह किया जा रहा है। इन सबका विरोध करके ही हमारा साहित्य आगे बढ़ सकता है।

(9) साहित्य में इतिहास को तोड़-मरोड़ कर इसका दुरुपयोग किया जा रहा है। इसे धर्मो-नस्लों के संघर्ष के इतिहास के रूप में देखा जा रहा है। ऐतिहासिक परिवेश बनाकर रंगीन-कामोत्तेजक चित्र भर खींचे जा रहे हैं। फलतः तथाकथित इतिहास पर आधारित ऐसे साहित्य में स्वाधीन जीवन के लिए जनता के संघर्ष का इतिहास सिरे से गायब होता है। जबकि इतिहास से स्वाधीनता और जनवादी जीवन के लिए संघर्षों की सामग्री लेकर साहित्य लिखा जाना चाहिए।

(10) हिन्दी साहित्य भारतीय जनता के अन्तःकरण की वाणी है, पर यह देश की सबसे बड़ी जाति हिन्दी भाषी जाति का साहित्य भी है। इसकी परम्परा शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृति के लिए संघर्ष की परम्परा है। इसकी रक्षा सचेत रूप से संगठित होकर करनी चाहिए और यह

भ्रम दूर कर लेना चाहिए कि हर तरह का साहित्य जनता की सेवा करता है।

ऊपर के कथन 'टेन कमांडमेंट्स' नहीं हैं, लेकिन आज के बाज़ारवादी और पुनरुत्थानवादी ज़माने में भी उपर्युक्त बातें कितनी सही हैं, समझना कठिन नहीं है।

रामविलास शर्मा ने प्रगतिशील आन्दोलन के लक्ष्यों और उसके समक्ष उपस्थित चुनौतियों को जैसा महसूस किया, सबके सामने खोलकर रख दिया। वह पूँजीवादी जनतन्त्र में फासिज़्म का खतरा देखते थे। फासिज़्म के आने के सैकड़ों रास्ते हैं, उसकी अनगिनत कलाएँ हैं। उसके दृश्य आज़ादी के बाद दिखायी पड़े हैं। वह 'जाति', 'नस्ल', 'रक्त' और 'वंश' का भुलावा देकर आता है। वह धर्म और ईश्वर के नाम पर आता है। विदेशी आक्रमण का हौवा खड़ा करके या युद्ध-सम्बन्धी प्रचार के साथ आता है। अन्ध-राष्ट्रीयता के नाम पर आता है। वह व्यक्तित्व के अन्ध विकास, जिसमें तर्क, बुद्धि और सहृदयता के लिए जगह नहीं होती, के नाम पर आता है। संस्कृति की रक्षा के नाम पर आता है। फासिज़्म कम्युनिज़्म विरोध या देश में किसी व्यापक जनतान्त्रिक आन्दोलन की आशंका से आता है। यह बाज़ार के रास्ते से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ओर से चमक-दमक के साथ आता है। जहाँ अपने में डूबी चुप कौमें होती हैं, वहाँ फासिज़्म आता है।

फासिज़्म के लिए खासकर एशियाई देशों में दुनिया के दूसरे महादेशों की तुलना में ज़्यादा उर्वर स्थितियाँ हैं। उसकी सूक्ष्म संरचनाएँ राजनीति, बाज़ार, धर्म, संस्कृति, परिवार हर जगह हैं। रामविलास शर्मा उसके खतरे को व्यापक रूप से पहचानते हैं। उन्हें अपने समय के साहित्य को लेकर प्रमुख चिन्ता यह थी कि यह समाज को आगे, स्वाधीनता और जनतन्त्र की विकसित चेतना की ओर ले जा रहा है या पीछे, सामन्ती-पूँजीवादी अन्धकार, नैराश्य और निष्क्रियता और मध्यवर्गीय दुलमुलपन की ओर ले जा रहा है। वे इस पर गम्भीर रूप से चिन्तित थे कि कुछ प्रगतिशील लेखक जनतन्त्र के लिए संघर्ष करना भूलकर अति उत्साह में सीधे समाजवाद और साम्यवाद की तरफ बढ़ने का स्वप्न देखते हैं। वे जन-आन्दोलन के सामन्तविरोधी पहलू को भूल जाने के साथ कृषकों को अपनी साहित्यिक चिन्ता के हाशिए पर फेंक देते हैं। इस तरह का प्रगतिशील लेखक या समाजवादी यथार्थवादी विचारक अपने सांस्कृतिक विरासत से सम्बन्ध नहीं रखता, "उसका क्रान्तिकारीपन उसकी असहनशीलता में है" (वही)। रामविलास जी इस मार्मिक तथ्य का भी उद्घाटन करते हैं, "जो कवि किसानों-मजदूरों से जितना दूर होता है, उतना वह उन्हें जगाने के लिए हुंकार और धुआँधार की ध्वनि ज़्यादा करता है" (वही)। यह भी कैसी विडम्बना है, आज 21वीं सदी में 'क्रान्ति' शब्द का उच्चारण तक नहीं है। रामविलास शर्मा की मुख्य चिन्ता है कि लेखक जनता से जुड़ने की बात कह कर भी उससे अलग-थलग होता है, 'संकीर्णतावाद का मतलब है—जनता से अलगाव।' कुछ खास प्रगतिशील लेखकों पर आलोचनात्मक प्रहार करने की वजह से रामविलास शर्मा पर एक आरोप 'संकीर्णतावाद' का लगा था। इसका जवाब वे संकीर्णतावाद का सही रूप स्पष्ट करते हुए उपर्युक्त तरह से देते हैं।

निःसन्देह रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के साथ भारतीय सामाजिक विकास के मूल्यांकन में भी आगे थे। उन्होंने अपने समय के कुछ रचनाकारों का प्रगतिशील साहित्य की उपर्युक्त 10 समस्याओं के सन्दर्भ में

जिस पद्धति से मूल्यांकन किया, इसकी वजह से उन पर एक दूसरा आरोप 'कुत्सित समाजशास्त्र' का लगा। इसका जवाब देते हुए उन्होंने पहले यह स्पष्ट किया, "समाज और साहित्य के सम्बन्ध को सही तौर पर पेश न कराना (यानी यान्त्रिक ढंग से पेश करना), साहित्य के लिए ग़लत उद्देश्य पेश करना, ग़लत सामाजिक पृष्ठभूमि में साहित्यकारों का मूल्यांकन करना यह सब कुत्सित समाजशास्त्र की विशेषता है" (वही)। वस्तुतः यह आरोप शिवदान सिंह चौहान ने लगाया था। उनका यह आरोप आचार्य शुक्ल से होते हुए रामविलास शर्मा तक पहुँचा था। सही बात यह है कि साहित्य में अंकित यथार्थ को परखने के लिए समाज की जानकारी ज़रूरी है, इतिहास की जानकारी भी ज़रूरी है। इसलिए साहित्य का समाज विज्ञानों से सम्बन्ध स्वाभाविक है। ऐतिहासिक भौतिकवाद भी समाज विज्ञान है, निश्चय ही यह हर तरह का समाज विज्ञान नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐतिहासिक भौतिकवादी है तो समाजशास्त्र त्याग दे। यह भी सम्भव है कि कठमुल्ले ढंग का ऐतिहासिक भौतिकवादी न होकर कोई साहित्य और समाज विज्ञानों के बीच रचनात्मक रिश्ता बनाए। रामविलास शर्मा स्पष्ट करते हैं, "प्रगतिशील आलोचना अपनी परम्परा से नाता तोड़कर कोई विदेश से आयी हुई चीज़ नहीं है। वह आचार्य शुक्ल जैसे आलोचकों के साहित्य सिद्धान्तों का मूल्यांकन करके उन्हें विकसित करते हुए आगे बढ़ रही है" (वही)। हिन्दी आलोचना की परम्परा को नकारना उचित है न विकास को।

कुछ लेखक प्रगतिशील साहित्य पर कुत्सित समाजशास्त्र का आरोप लगाकर सामयिक विषयों पर लिखे गए साहित्य को हिकारत से देखते थे। वे कभी-कभी शाश्वत सौन्दर्य पर आधारित कालातीत साहित्य की बात करने लगते थे। रामविलास शर्मा ने इसका जवाब देते हुए लिखा, "सामयिक संघर्ष में आधुनिक साहित्य जितना तपेगा, उसका रंग-रूप उतना ही निखरेगा। इस संघर्ष से दूर रहकर यदि लेखक सोने की कलम से भी काल्पनिक सपनों के गीत लिखेगा तो उसकी कलम और साहित्य का महत्त्व दो कौड़ी का होगा" (वही)। हम जानते हैं कि नागार्जुन से लेकर रघुवीर सहाय—धूमिल से होते हुए गुजरात नरसंहार और आतंकवाद पर लिखने वाले कवियों तक, सबने आधुनिक साहित्य में सामयिक विषयों को कितना ज़्यादा महत्त्व दिया। निश्चय ही बड़े रचनाकारों के सामने यह समस्या भी ज़रूर रही है कि 'सामयिक' में 'सार्वकालिक' की गूँज कैसे पैदा हो।

रामविलास शर्मा साहित्य में सौन्दर्यबोध के विरोधी नहीं हैं। वे एक तरफ़ आधुनिक साहित्य में सामयिक संघर्ष का महत्त्व स्पष्ट करते हैं, दूसरी तरफ़ यह भी कह देते हैं, "सौन्दर्यबोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है, किन्तु यह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है" (आस्था और सौन्दर्य)। वह यह भी स्वीकार करते हैं, "साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है, उसका भावों और इन्द्रियबोध से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है" (वही)। वे सामयिक संघर्ष के साथ साहित्य में इन्द्रियबोध, भावबोध और सौन्दर्यबोध भी चाहते हैं। वे मनुष्य की सर्जनात्मकता के पक्षधर हैं, बस वे मानवीय सर्जनात्मकता में सामाजिक चिन्ताओं के लिए वाजिब जगह की माँग करते हैं। उनका सौन्दर्यबोध इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के संघर्ष से भी है।

प्रगतिशील आन्दोलन में शरीक कुछ साहित्यकारों के काम पर रामविलास शर्मा ने जो आपत्तियाँ उठायीं, वे मुद्दा आधारित थीं। उन्होंने प्रगतिशील आन्दोलन के राष्ट्रीय विकास के दृष्टिकोण से जो धारणाएँ ग़लत लगें, उनका

दृढ़ता और कठोरतापूर्वक खंडन किया। वे मानते थे, “प्रगतिशील कविता की कमजोरी थी—विचार पक्ष की अस्पष्टता और कलात्मक शिथिलता।” यह एक जटिल समाज में घटित प्रगतिशील आन्दोलन था, जिसके साथ शक्तियाँ और दुर्बलताएँ दोनों थीं। अपनी दृढ़ता का परिचय देते हुए रामविलास शर्मा ने कहा, “मैं अपने इन तमाम लेखों की स्थापनाओं को सही मानता हूँ और अपने मित्रों से आग्रह करता हूँ कि आप शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, राहुलजी आदि की रचनाओं की खुद आलोचना कीजिए, जो बातें मुझसे छूट गयी हों, उन्हें प्रकाश में लाइए और जो बातें मैंने गलत कही हों, उसका युक्तिपूर्ण खंडन कीजिए। यह रास्ता प्रगतिशील आलोचना के विकास का रास्ता है और रिमार्क करने वाला रास्ता पतन का रास्ता है।” यह आलोचना में जनतन्त्र का आह्वान ही नहीं है, मतभेद में घटिया जुमलेबाजी से जो बौद्धिक पतन होता है, उस संकट की ओर भी संकेत है।

‘तारसप्तक’ (1943) के वक्तव्य में रामविलास शर्मा ने कहा था, “मेरे बहुत-से लेख साहित्य के अशाश्वत सत्य, वाद-विवादों से पूर्ण हैं।” वे अपनी राह पहचानते थे। उनका मन वस्तुतः एक किसानी मन था। उपर्युक्त वक्तव्य के इस हिस्से से उनके मन की जानकारी मिलती है, “मैं साधारणतः छह घंटे काम करूँ तो खेतों के बीच में रह कर दस घंटे कर सकता हूँ। इन खेतों से प्यार करना किसी ने नहीं सिखाया। ये मेरे गाँव के खेत भी नहीं हैं, गाँव यहाँ से सैकड़ों मील दूर है। फिर भी, हिन्दुस्तान के जिस गाँव पर भी साँझ की सुनहली धूप पड़ती है, वह अपने गाँव जैसा लगता है।” इन काव्यात्मक-सी पंक्तियों में उन्होंने अपना वह स्वाभाविक मन उद्घाटित किया है, जो सामाजिक जीवन के सौन्दर्य में ही व्यक्तित्व का विकास देख सकता था और आस्था के ज्योति-कण पर सकता था। यह विडम्बना है कि हिन्दी में भारतेन्दु-सितारेहिन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी बालमुकुन्द गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, निराला, रामविलास शर्मा और कई प्रगतिशील लेखकों के बीच वाद-विवाद का जो रूप रहा है, उसमें मित्रतापूर्ण मतभेद की जगह शत्रुतापूर्ण मतभेद की प्रधानता अधिक थी। यह भी अद्भुत मामला है कि रामविलास शर्मा ने रामचन्द्र शुक्ल का पक्ष लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी पर वैचारिक हमला किया, नामवर सिंह ने हजारी प्रसाद द्विवेदी का पक्ष लेकर आचार्य शुक्ल पर हमला किया, जबकि अपनी-अपनी ऐतिहासिक जगह से इन सभी ने हिन्दी आलोचना को ऊँचाइयों के साथ विकसित किया था।

आलोचना में व्यंग्य तक कुछ भी हानिकर नहीं है, क्योंकि व्यंग्य सहने की क्षमता साहित्यिक चित्त के लेखक में होनी चाहिए। मामला आगे बढ़कर कठोर असाहित्यिक टिप्पणियों तक बढ़ जाता है, उनमें सद्भावना अंश मात्र नहीं होती। आज की हालत पहले से ज्यादा खराब है। कौन साहित्यिक बटमार अचानक किस पर टूट पड़ेगा और उसके पास जो कुछ सुन्दर होगा, उसके कितने चीथड़े कर डालेगा कहना कठिन है। इसी सिक्के का दूसरा पहलू है—गैर-आलोचनात्मक सराहना, कभी-कभी चाटुकारिता की हद तक। आजकल ज्यादा माँग इन्हीं दो चीज़ों की है। आज सराहना के साथ तनिक-सी भी आलोचना बर्दाश्त-बाहर है, आलोचना के साथ तनिक-सी भी सराहना दुर्लभ है। दरअसल हिन्दी में तार्किक और गरिमापूर्ण ढंग से बहस धीरे-धीरे गायब होती गयी, पीत पालिमिक्स ने आलोचना को छेँक लिया।

प्राचीन सांस्कृतिक विरासत और समकालीन आन्दोलनात्मक परिदृश्य के

सन्दर्भ में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय आदि की कई टिप्पणियाँ उत्तेजक नकारवाद से भरी थीं। रामविलास शर्मा के वैचारिक जवाबों में मित्रता का स्वाद न था, हालाँकि वे जिन प्रगतिशील लेखकों की आलोचना करते हैं, उन्हें सहयोगी के रूप में देखते हैं, विरोधी के रूप में नहीं। वह इन सभी को ‘विसर्जनवादी’ कहते हैं। इससे लड़ई का रूप बना ‘अवसरवाद (विसर्जनवाद) बनाम संकीर्णतावाद’। राजनीति में किसानों के बीच काम करके क्रान्ति के लिए आवश्यक तैयारी न कर पाने, श्रमजीवियों के संघर्ष को राष्ट्रीय एकता के सवाल से जोड़कर दमन का मुकाबला करते हुए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल तक पहुँचाने में असफल रहने के कारण ‘विसर्जनवादियों की बन आयी’ थी (दुनिया के सोए जाग उठे)। रामविलास जी को प्रगतिशील लेखक संघ के नेतृत्व की भूमि से अपने ही शिविर के महत्त्वपूर्ण लेखकों की कठोर आलोचना करने की वजह से संकीर्णतावादी कहा गया। इससे माहौल में कटुता फैली, पर साहित्य का भला यह हुआ कि परम्परा के मूल्यांकन के सम्बन्ध में नज़रिया बदलने लगा। निश्चय ही उन दिनों के प्रगतिशीलता-विवाद में कुछ ऐसा था, जिसे दुखद कहा जा सकता है। इससे लेखकों की एकता ऐसे समय टूट रही थी, जब जन जीवन का संकट गहराता जा रहा था।

हालाँकि एक ज़माने में संजीदगी कम नहीं थी, प्रेम भी मरता न था। भारतेन्दु ने उत्पीड़ित होने के बावजूद सितारे हिन्द को आदर दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मतभेद के बावजूद कहा था, अच्छी हिन्दी तो केवल एक व्यक्ति लिखता है बालमुकुन्द गुप्त। निराला ने रामचन्द्र शुक्ल की मृत्यु पर अत्यन्त मार्मिक कविता लिखी थी। रामविलास शर्मा ने भी प्रायः उन सभी की कहीं-न-कहीं प्रशंसा की, जिनसे वे अपने सुचिन्तित प्रगतिशील मुद्दों पर टकराए। उन्होंने कुछेक जगहों पर राहुल सांकृत्यायन की सराहना की। यशपाल के ‘झूठा-सच’ की प्रशंसा करते हुए कहा कि यह ‘दादा कामरेड’, ‘मनुष्य के रूप’ की परिपाटी से काफ़ी परे हटकर है। इस उपन्यास में यशपाल ने समाज में जो कुछ पतनशील है, उसका अनावरण किया है। रामविलास शर्मा यशपाल की हर जगह आलोचना नहीं करते, ‘झूठा सच’ “का सामाजिक महत्त्व यह है कि वह वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता, उसकी घुटन और अपमान, व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह उसके क्रय-विक्रय की जघन्यता को स्पष्ट करता है।” इस उपन्यास का पात्र जयदेव पुरी रामविलास शर्मा को सबसे अधिक आकर्षित करता है।

रामविलास शर्मा ने, जितना उनके लिए सम्भव था, उदार रुख का परिचय दिया, “दिनकर, यशपाल और अमृतलाल नागर की पीढ़ी के लोग अपने-अपने क्षेत्र के उत्कर्ष के लिए जैसा प्रयत्न कर रहे हैं, वह साहित्य के इतिहास की स्मरणीय घटना है। इलाचन्द्र जोशी ने दमित कामेच्छाओं के दायरे से आगे बढ़कर ‘जहाज़ का पंछी’ लिखा।...जैसे 20 से 40 तक के दो दशक हिन्दी साहित्य के अभूतपूर्व उत्थान के दशक थे, वैसे ही 52 से 62 तक का यह दशक भी साहित्य के नए प्रयत्नों, नए उत्कर्षों का दशक है। कुंठावादी अजायबघर के मित्र देखें, किस तरह हिन्दी साहित्य समर्थ ङग रखता हुआ आगे बढ़ रहा है।” उनकी टिप्पणी के दायरे से उस युग का नया आधुनिक साहित्य बाहर है। यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि उन्होंने निराला से लेकर अमृतलाल नागर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि तक जिन रचनाकारों की खूब सराहना की, उनकी कमियाँ भी कम नहीं दिखायीं। निश्चय ही

प्रगतिशील आन्दोलन अभी विकासशील स्तर पर था। इसके अन्तर्विरोधों को सकारात्मक नज़रिये से देखने की ज़रूरत है।

प्रगतिशील आन्दोलन और आधुनिकता के सम्पर्क को नए सिरे से जाँचने की ज़रूरत है। रामविलास शर्मा 1943 से 1953 तक लगभग 10 साल प्रगतिशील लेखक संघ से निर्णायक रूप में जुड़े हुए थे। यह अवधि 'तारसप्तक' के प्रकाशन से लेकर नयी कविता— नयी कहानी के अभ्युदय की है और प्रगतिशील साहित्य की सशक्त अन्तर्धाराओं के निर्माण की भी। 'तारसप्तक' बना ही था प्रगति और प्रयोग की सन्धिरेखा पर। इसकी खूबी यह है कि इसने जाने-अनजाने ऐसे नौजवान कवियों की कतार को सामने लाने का काम किया, जो विभिन्न धाराओं से आकर प्रगतिशील चेतना की ओर बढ़ रहे थे। मुक्तिबोध अपने आधुनिकतावादी सम्पर्कों के बावजूद प्रगतिशील आन्दोलन के अंग थे। निर्मल वर्मा जब 'परिन्दे' लिख रहे थे, वे मार्क्सवाद से अलग नहीं हुए थे। इसका अर्थ है आधुनिक साहित्य पर प्रगतिशील आन्दोलन का दबाव बना हुआ था; ज़रूरत थी दोनों के रिश्तों को आलोचना की नयी ज़मीन पर परिभाषित करने की।

बेशक रचनाकारों को नए प्रयोगों से कभी भी रोका नहीं जा सकता, पुराने-से-पुराने युगों में प्रयोग हुए। समस्या थी प्रयोग के परम्परा और प्रगति से अन्तर्सम्बन्ध को लेकर। यह रखा जाए या तोड़ा जाए, इसे लेकर दुविधा थी। प्रगतिशील आन्दोलन के अन्दर तेज़ी से बिगड़ते लेखकीय रिश्तों के कारण कहीं वह दुविधा बनी रह गयी, कहीं परम्परा और प्रगति के क्षितिज से प्रयोग का महाप्रस्थान हुआ। प्रगतिशील आन्दोलन के भीतर जिस तरह सांस्कृतिक विरासत पर निशाने साधे जा रहे थे, उसी तरह नए आधुनिक साहित्य पर भी साधे गए थे। ज़्यादा वक्रत इन्हीं कामों में बीता। इससे कटुता फैली, प्रगति-विरोधियों की संख्या बढ़ी, पाठकों में भगदड़ मची और साहित्य की सामाजिक प्रतिष्ठा भी धीरे-धीरे गिरती गयी। लेखकों के आपसी सम्बन्ध विचारधारा-आधारित कम और निजी स्वार्थ-आधारित ज़्यादा होने लगे। दोनों तरफ़ के वाद-विवाद से प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कितना व्यापक और धारदार हुआ, समग्रतः नतीजे कितने सार्थक थे और वाद-विवाद कितना वास्तविक था, इस पर फिर से विचार करने का समय आ गया है। क्या आज यथार्थवाद और आधुनिकता के बीच बर्लिन की दीवार ज़रूरी रह गयी है, जब आदमी में वर्ग चेतना बहुत दूर की बात है, बाज़ारवादी-समुदायवादी उभारों की वजह से 'मनुष्य', 'व्यक्ति' और 'वैयक्तिकता' का बचा रहना ही मुश्किल हो चुका है?

फिलहाल तीन साहित्यकारों मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह और निर्मल वर्मा के तीन भिन्न-भिन्न नतीजों पर सरसरी तौर पर नज़र डाल लेनी चाहिए। मुक्तिबोध प्रयोगवाद और प्रगतिवाद दोनों के कटु आलोचक थे, उनका मार्क्सवाद से सम्पर्क बना हुआ था। उन्होंने पाठकों के बीच एक प्रगतिशील आधुनिक कवि के रूप में पहचान बनायी। कहा जा सकता है कि उनकी साहित्यिक स्थिति लूकाच के सन्दर्भ में बर्तोल्त ब्रेख्त जैसी थी। शमशेर बहादुर सिंह का मार्क्सवाद से सम्पर्क बना हुआ था, पर वे साहित्य के आधुनिकतावादी रूपों की तरफ़ ज़्यादा आकर्षित थे। निर्मल वर्मा ने चेकोस्लोवाकिया पर रूस के आक्रमण के बाद मार्क्सवाद से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, इसके उग्र विरोधी हो गए। वह अस्तित्ववाद के भी

विरोध में थे। वह पूँजीवादी समाज में मनुष्य के अकेलेपन के कथाकार थे। प्रश्न है, इन रचनाकारों तथा इनके साहित्य में व्यक्त हुए आधुनिक यथार्थों से प्रगतिशील आन्दोलन का सलूक क्या होना चाहिए? निश्चय ही तीनों को एक ही श्रेणी में रखा नहीं जा सकता, पर क्या किसी को भी आसानी से साम्राज्यवादी बौद्धिकता से आक्रान्त कहा जा सकता है?

रामविलास शर्मा को मार्क्सवाद से सम्पर्कित आधुनिकतावादी कवि शमशेर बहादुर सिंह का गद्य पसन्द आया, 'शमशेर बोलचाल की लय पहचानते हैं।' वे जब नए कवियों के रुग्ण आधुनिक मन के विषाद और निराशा की आलोचना कर रहे थे, 'शमशेर स्वयं अपने मन की निराशा और विषाद से लड़ रहे थे।' पन्त का जो विषाद था, उल्लास और आनन्द चाहने वाले मन का विषाद था, नयी कविता के दौर का विषाद 'डेकेडेंट' कवियों का विषाद था। रामविलास जी के अनुसार शमशेर इस विषाद से लड़ रहे थे। वह शमशेर के मूल्यांकन में एक बिन्दु पर अपनी आधुनिक रुचि खोलते हैं, साथ ही पर्याप्त विचारधारात्मक सावधानी भी बरतते हैं। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि लगभग 25 सालों के व्यापक आधुनिकतावादी दबदबे के बीच भी रामविलास शर्मा कभी समझौता नहीं करते। उन्हें न किसी दुविधा ने घेरा, न किसी सुविधा ने। उन्होंने शमशेर के निबन्ध संग्रह 'दोआब' की समीक्षा करते हुए लिखा, "यह एक अत्यन्त संवेदनशील कवि के निबन्ध हैं, जो रचनाओं पर मुग्ध होता है, गद्य में अपनी अनुभूति व्यक्त करता है, जो विवेकशील तार्किक मात्र नहीं है" (कथा विवेचना और गद्य शिल्प)। यहाँ रामविलास शर्मा की आलोचना में निजी अनुभूति की खिड़की थोड़ी-सी खुलती है, उन्हें निजी अनुभूति महत्वपूर्ण लगती है।

शमशेर जब जनता की अजेय शक्ति में दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए उसकी आवाज़ के साथ मिलकर गाने का आह्वान करते हैं, रामविलास शर्मा सावधानी बरतते हुए एक अद्भुत बात कहते हैं, "कविता केवल जयगान नहीं, उनमें जनसंघर्षों की गूँज के अलावा और बहुत कुछ है। उसमें व्यक्तित्व की उलझनों के लिए जगह है, लेकिन सामाजिक दायित्व और जन-आन्दोलनों से कटकर कविता केवल व्यक्तिगत कुंठाओं के दायरे में घुमड़ती रहे, यह भी एक अस्वाभाविक क्रिया है" (वही)। रामविलास शर्मा का लौह यथार्थवादी व्यक्तित्व आधुनिकता की दस्तक सुनता है। आधुनिकता का इस खास दौर में महत्वपूर्ण लक्षण है— यथार्थ की जटिलता, दुविधा, उलझन, अनिश्चयता, अनेकार्थता या जीवन अर्थ का धुँधलापन। रामविलास शर्मा इसके प्रति वस्तुतः आकर्षित नहीं थे। उनकी आधुनिकता सामन्ती अवशेषों से संघर्ष में थी— बुद्धिवाद, राष्ट्रीय जागरण और जनतन्त्र में थी, पूँजीवादी आधुनिकीकरण ने जो संकट पैदा किया उसके जटिल अनुभवों में नहीं। फिर भी साठोत्तरी आधुनिकतावादी समय पर उनकी टिप्पणी है "आधुनिक कवि की चेतना चक्करदार रास्तों से होकर विकसित हो रही है। मानसिक उलझनें मुक्तिबोध या 'तारसप्तक' के कवियों में ही नहीं हैं, वे 'दूसरा सप्तक' के कवियों में भी हैं, इन सप्तकों के अलावा और बहुत से कवियों और लेखकों में हैं। हम इनसे आँखें नहीं चुराते, इन्हें खुली, तर्कभूमि पर खींच लेते हैं, उन पर बहस करते हैं, जिससे सही रास्ता पहचानने में मदद मिले। हम इतिहास से जानते हैं कि यह बहस कटु टकराहटों में बदल गयी थी, प्रगतिशील आन्दोलन और आधुनिकता के बीच संवाद की ठोस भूमि नहीं बन सकी।"

उस दौर में ऐसा लग रहा था कि साहित्य की ऐसी वैचारिक टकराहटों

से मानो समाज की तस्वीर बदल जाएगी या समाज में वर्ग संघर्ष तेज़ हो चुका है। रामविलास शर्मा ने एक साक्षात्कार में स्पष्ट किया है, “विचारों की टकराहट से कभी गलत परिणाम नहीं निकलते। गुटबन्दी के बुरे नतीजे अवश्य होते हैं” (आज के सवाल और मार्क्सवाद)। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य जगत गुटबन्दी से बुरी तरह पीड़ित है।

प्रगतिशील आन्दोलन में बिखराव। नए आधुनिक साहित्य के विरोध, सिद्धान्त और सामाजिक व्यवहार में फ़र्क, राजनीतिक सरलीकरण कठोर केन्द्रीयतावादी रुख और व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द को बढ़ावा के कारण घटित हुआ। इससे साहित्य में आधुनिकतावाद जड़विहीन हुआ, फैला और उग्र ढंग से पश्चिम-उन्मुख हुआ। कई रचनात्मक प्रतिभाओं को प्रगतिवाद में घुटन का अहसास हुआ। वे प्रतिक्रिया में आधुनिकतावाद की अँधेरी गुफाओं की तरफ़ दौड़े। यथार्थवाद और आधुनिकता के बीच दीवार खड़ी हुई। एक तरफ़ राजनीतिक संकीर्णतावाद पनपा, दूसरी तरफ़ साहित्यिक विशुद्धतावाद। ये जुड़वाँ हैं—व्यक्तिवाद के एक ही सिक्के के दो पहलू।

शमशेर के गद्य पर लिखते हुए रामविलास शर्मा को 1986 में अनुभव होता है, “इस समय राष्ट्रीय पैमाने पर जनशक्ति में बिखराव है, जन-आन्दोलन असंगठित हैं। इसलिए कवियों की रचनाओं में भी इस बिखराव की झलक मिलती है। लेकिन मनुष्य का मन परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब दिखाने वाला निष्क्रिय दर्पण नहीं है। वह गतिशील, विकासमान, रचना-सामर्थ्य से सम्पन्न है। वह परिस्थितियों से ऊपर उठकर बिखराव को दूर करने में सहायक हो सकता है। फिर परिस्थितियों में बिखराव-ही-बिखराव नहीं है, एकता और संगठन की शक्तियाँ भी हैं” (वही)। नए आधुनिक साहित्य, अर्थात् नयी कविता, नयी कहानी, नए थिएटर, नए उपन्यास या आंचलिक उपन्यास में सब कुछ विषाद और निराशा भरा नहीं था। इनमें सामन्तवाद-विरोधी स्वर मानवीय संवेदना के नए धरातल पर जिन्दा था। इनमें मनुष्यता की आवाज़ बची हुई थी। प्रकृति और मानवीय रिश्तों के बीच से जीवन के सुन्दर क्षणों की तलाश जारी थी, निश्चय ही दृष्टिकोण में विविधता आ चुकी थी। इस विविधता को स्वीकृति देकर ही प्रगतिशील आन्दोलन अपनी आवाज़ के साथ, आधुनिकतावाद को यथार्थवाद के क़रीब रख सकता था। वह उस समय की ध्रुवीकृत बहस में कटुता कम करके साहित्यिक वातावरण को आम शिक्षित जनता के लिए अधिक आकर्षक और स्वीकार्य बना सकता था।

कई साल बाद शमशेर के आधुनिक काव्य रूपों के सन्दर्भ में रामविलास शर्मा एक साक्षात्कार में कहते हैं, “कविता का रूप किसी को आकर्षित करे, यह कोई बुरी बात नहीं है। हम उसे रूपवाद नहीं कहते हैं (मुस्कराहट)। रूपवाद वहाँ पैदा होता है, जहाँ आदमी रूप को प्रधान मानता है और विषयवस्तु को गौण कर देता है। शमशेर ने विषयवस्तु को गौण करने का जानबूझ कर प्रयास नहीं किया, कहीं वह हो गयी हो तो बात दूसरी है। वे कविता के रूप में आकृष्ट होते हैं। कुछ जो आधुनिक कवि हैं—एजरा पाउंड, टी.एस.इलियट वगैरह, या स्पेन के कवि गार्सिया, लोर्का वगैरह इनके काव्य से वे बहुत प्रभावित थे” (आज के सवाल और मार्क्सवाद)। रामविलास जी साहित्य में विषयवस्तु को गौण करने के खिलाफ़ थे, उनका रुख शमशेर के प्रति भले नरम हो।

रामविलास शर्मा ने राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और यशपाल की

तरह ही जैनेन्द्र के अलावा अज्ञेय, मुक्तिबोध और नयी कविता के कुछ अन्य कवियों की कठोर आलोचना की। इस बार भी वह चुन-चुन कर कमियों की ओर सटीक इशारा करते हैं। उन्हें इन पर नव रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और प्रतीकवाद का प्रभाव दिखायी देता है। उन्होंने यशपाल की आलोचना करते हुए जैनेन्द्र पर ‘भाभीवाद और साड़ी-जम्पर उतार परिस्थिति’ का आरोप लगाया था। कहा जा सकता है कि रामविलास शर्मा का आधुनिकता के प्रति रुख एकदम नकारात्मक नहीं है। बस उनका मन वहाँ नहीं रमा। वे अज्ञेय के हुनर की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं, “अज्ञेय का प्रकृति से वह रागात्मक सम्बन्ध है, जो उनके काव्य की श्रेष्ठ उपलब्धि है (नई कविता और अस्तित्ववाद)। हालाँकि यह भी कह देते हैं, “अज्ञेय की प्रकृति को मनुष्य का अस्तित्व गन्दा नहीं करता। उनके लिए पर्वतों में मनुष्यों की बस्तियाँ नहीं हैं, बस प्रकृति है और हैं अज्ञेय।” इन पर एक आरोप नव-रहस्यवाद का लगाया। फिर भी उन्हें लगता था, आधुनिकतावाद का जादू चल गया है, इसलिए ‘अज्ञेय की कविता जड़ाऊ है; टिकाऊ भी (वही)।’ रामविलास शर्मा ‘शेखर : एक जीवनी’ की कटु आलोचना करते हुए शेखर को त्रात्स्कीवाद में सीमित करते देखते हैं। उन्हें न शेखर के सामाजिक रुझान ने आकर्षित किया और न उन्हें परम्परागत नैतिकता से शेखर और शशि की अनुभूति के टकराव में कुछ अर्थपूर्ण दिखा। अज्ञेय की व्यक्तिवादी कविताओं और ‘शेखर : एक जीवनी’ में फ़र्क़ किया जा सकता था।

नई कविता में कवियों की वैयक्तिक अनुभूति हर जगह विकृत, व्यक्तिवादी और चमत्कार-प्रधान नहीं है। रामविलास शर्मा ने शमशेर के बारे में कहा, ‘शमशेर का आत्मसंघर्ष उनके मार्क्सवादी विवेक और उत्तर-छायावादी—इलियट, एजरा पाउंड वाले काव्यबोध का संघर्ष है।’ (वही) वे अपना आक्रमण जारी रखते हैं, ‘मुक्तिबोध मनो-विश्लेषणशास्त्र से प्रभावित होकर अन्तर्मन की गुफा में ज्ञान के मणि और रत्न ढूँढ़ते थे और फिर इस आत्मप्रवंचना पर झुंझलाते थे। शमशेर सजीले जिस्म के गुणगुनाने पर ऐसा रीझते हैं कि अँधेरे कुएँ या बावड़ी में उतरने की उन्हें फुर्सत नहीं मिलती। किन्तु शमशेर उतने आत्ममुग्ध नहीं जितने मुक्तिबोध थे। मुक्तिबोध अस्तित्ववाद की ओर खिंचे और अपने-पराये अनेक पापों का मैल मन से धोते रहे’ (वही)। यह मुक्तिबोध पर रहस्यवाद के अलावा अस्तित्ववाद का आरोप था। रामविलास जी शमशेर के प्रति थोड़े उदार थे। वह अज्ञेय तथा मुक्तिबोध दोनों के प्रति समान रूप से कठोर थे, वे अज्ञेय और मुक्तिबोध में फ़र्क़ नहीं कर पाते।

नए आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के मामले में सबसे अधिक चिन्ताजनक तथ्य यह है कि जिस दौर में रामविलास शर्मा ‘ऋग्वेद’ से लेकर तुलसी और निराला तक के मूल्यांकन में काफ़ी उदार थे, उसी दौर में नए आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में वह कठोरता का परिचय देते हैं। नए आधुनिक युग में जीवन, राजनीति, साहित्य कुछ भी सरल रेखा की तरह न था और न भारतीय समाज समाजवादी क्रान्ति के कगार पर खड़ा था। पूँजीवादी आधुनिकीकरण ने समाज में नया संकट पैदा कर दिया था, जिसका सामना कवि-कथाकार-नाटककार व्यक्ति स्तर से कर रहे थे। आधुनिकीकरण के जीवन पर पड़नेवाले नकारात्मक असर यथार्थ थे, आधुनिकता यथार्थ थी। इसके साहित्यिक अनुभवों और रूपों पर बहस होनी चाहिए थी, पर उसे एकदम खारिज कर देना साहित्यिक न्याय नहीं था। यहाँ समझ लेना चाहिए कि हर आलोचक की दृष्टि एक सीमा के बाद अपनी एक आधिकारिक सत्ता

बना लेती है और वह जिस दृष्टि से अनगिनत सार्थक मूल्यांकन करता है, वही दृष्टि कुछ मामलों में उसके लिए बाधक बन जाती है।

रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद पर दुबारा लिखकर कुछ मामलों में इसकी प्रशंसा की थी, पर इसे व्यापकता से स्वीकार नहीं किया था। रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध पर लिखे गए पूर्व लेख को अपर्याप्त कहकर दुबारा काफी विस्तार से विचार किया। उन्होंने कवियों में निराला के बाद सबसे ज्यादा विचार मुक्तिबोध पर किया। वह कुछ वैचारिक मुद्दों पर खासकर नयी कविता में मुक्तिबोध के शीतयुद्ध-विरोधी संघर्ष और छायावाद के प्रति उनके सकारात्मक रुख को प्रशंसा की नज़रों से देखते हैं, पर उनकी कविता को प्रमुखता से स्वीकार नहीं कर पाते। मुक्तिबोध को अपनी हर विकास-स्थिति से असन्तोष था। 'मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है।' रामविलास शर्मा कहते हैं, "मुक्तिबोध के मानसिक संघर्ष का एक कारण मार्क्सवाद के प्रति उनका गहरा आकर्षण तथा उसे पूरी तरह स्वीकार न कर पाने की विवशता थी" (वही)। आखिरकार मार्क्सवाद को जिन्होंने पूरी तरह स्वीकार कर लिया था, उन्होंने बिना दुविधा या विचलन के या बिना स्वतन्त्रता लिए कौन-सा महान काव्य या कथा साहित्य लिखा? दरअसल राजनीति नियन्त्रण और साहित्यिक गुणवत्ता दोनों एकसाथ सम्भव नहीं हैं। देश की रचनात्मक प्रतिभाओं से वैचारिक अनुचर होने की माँग नहीं की जा सकती, उनसे राजनीतिक चेतना की अपेक्षा जरूर की जानी चाहिए।"

पश्चिमी नयी समीक्षा के अनुसरण में विजयदेव नारायण साही आदि ने कविता के लिए नए प्रतिमान की प्रस्तावना की थी। यह कृति-केन्द्रिकता पर आधारित थी, इसमें ऐतिहासिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य का निषेध था। इसमें छायावाद का भी प्रच्छन्न विरोध था। रामविलास शर्मा ठीक ही इसके खिलाफ थे, "उस विचारधारा का खंडन आवश्यक है, जो प्रतिक्रियावाद का मुख्य अस्त्र बन रही थी। हिन्दी में इस विचारधारा के प्रमुख सूत्रधार विजयदेव नारायण साही हैं। 1966-67 में 'नयी कविता' पत्रिका में उन्होंने की प्रेरणा से कविता के नए प्रतिमान पर परिचर्चा शुरू हुई थी। यह हिन्दी आलोचना में 'नयी समीक्षा' का बीजारोपण था। हम मुक्तिबोध की आलोचना देखें, जो पहले की थी। उसमें प्रगतिवादी और प्रयोगवादी अतिरेकों से ही नहीं, नयी समीक्षा की प्रवृत्तियों से भी टक्कर थी। उनकी 'कामायनी' की आलोचना कृति पर आधारित होते हुए भी ऐतिहासिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में थी, कृति-केन्द्रिक नहीं थी। उन्होंने 'सामाजिक अलगाव और जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि का विरोध किया था। उन्होंने छायावाद और प्रसाद की प्रशंसा की थी, जो 'नयी समीक्षा के पुरोधाओं द्वारा सम्भव नहीं थी।

मुक्तिबोध में 'साहित्य और राजनीति की परम्परा का बोध, मार्क्सवाद के प्रति आकर्षण, श्रमिक आन्दोलन का समर्थन और मध्यवर्गीय लेखक के व्यक्तित्व का रूपांतरण की समस्या ये सब चीजें परस्पर सम्बद्ध हैं' (वही)। 'अन्धेरे में' के मूल्यांकन में रामविलास शर्मा की चिन्ता है कि इन चीजों के बावजूद 'वह अकेले क्यों रह जाते हैं?' दरअसल हर रचना में स्थान और समय-निरपेक्ष भाव से वर्गसंघर्ष ढूँढ़ना साहित्यिक अन्याय है। वर्ग संघर्ष के किसी भी दिखावटी प्रदर्शन से उनके सच्चे आत्मसंघर्ष में जीवन की शक्ति ज्यादा है। मुक्तिबोध जिस हिन्दी पट्टी में लिख रहे थे, वहाँ वामपन्थी आन्दोलन का स्तर क्या था? मुक्तिबोध का अकेलापन अज्ञेय के अकेलेपन की तरह वरण किया हुआ अकेलापन नहीं है। यह एक खास युग का,

खासकर हिन्दी क्षेत्र की कठोर राजनीतिक स्थितियों में उस निस्सहाय आम आदमी का अकेलापन है, जो संवेदना और ज्ञान-सम्पन्न है। यह एक अलग ढंग का यातनादायक अकेलापन है, जिसका जनता से बौद्धिक लगाव टूटता नहीं है। मुख्य सवाल है, ऐसे बहुत से लोगों को अकेला बना देने के लिए, उनके व्यक्तित्व की अपूर्णता के लिए कौन चीजें जिम्मेदार हैं?

मुक्तिबोध में मनुष्य की 'सम्भावनाओं', 'पूर्ण अवस्था' और 'परम अभिव्यक्ति' की खोज की बेचैनी है। वह न व्यक्तिवादी हैं, न आत्मकेन्द्रिक और न दुख-कष्ट के बावजूद आशाहीन। उनमें मध्यवर्गीय मन का एक गहरा और 'जेनुइन' आत्मसंघर्ष है, जो हम आज के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों में ढूँढ़ते रह जाएँगे। यह मुक्तिबोध का निजी नहीं उस युग के बहुत सारे लोगों का आत्मसंघर्ष है, जो एक महान काव्यात्मक दस्तावेज़ है। निश्चय ही नयी कविता में आधुनिक तेवर की रहस्यशीलता है, अमूर्तन है। उसे परम्परागत रहस्यवाद न समझ लेना चाहिए।

फिर भी रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की सराहना में निष्कर्षतः लिखा, 'मुक्तिबोध को इस बात का श्रेय है कि हिन्दी बुद्धिजीवियों के जिस नए अवसरवाद का विकास हुआ, उसे उन्होंने पहचाना। उन्होंने साम्राज्यवाद से उनके सम्बन्ध का उल्लेख एक से अधिक बार किया और उनकी प्रगतिवाद विरोधी स्थापनाओं का खंडन किया। ...मुक्तिबोध ने स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति सकारात्मक रुख अपनाया। ...मुक्तिबोध ने छायावादी कविता के प्रति सकारात्मक रुख अपनाया। ...भारी मानसिक उलझनों के बीच मुक्तिबोध हथियार डालकर बैठ नहीं जाते। विभिन्न स्तरों पर वह निरन्तर संघर्ष करते हैं और आत्मकेन्द्रित होते हुए भी समाज को आँखों से ओझल नहीं होने देते। ...मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद से यह सीखा कि पूँजीवादी समाज व्यवस्था को बदले बिना, क्या निम्न मध्यवर्ग और क्या श्रमिक वर्ग, इनकी मूल समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। समाज को बदलने के लिए संघर्ष आवश्यक है, यह उनकी कविताओं से स्पष्ट है। ...पूँजीवादी व्यवस्था की, जिस स्तर पर भी उन्होंने आलोचना की है, वह मूल्यवान है' (वही)। रामविलास शर्मा ने निराला की कमियाँ भी दिखायी थीं। उन्होंने मुक्तिबोध की खूबियाँ भी दिखायीं।

रामविलास शर्मा कहते हैं, "भारतीय जनता में नए जागरण के चिह्न दिखायी दे रहे हैं और प्रगतिशील साहित्य के विकास की नयी सम्भावनाएँ उत्पन्न हो रही हैं" (वही)। आधुनिक विश्व में बढ़ते पतन और संकट के क्षणों में वह ऐसा ही कह गए थे। हिन्दी के प्रगतिशील-जनवादी आन्दोलनों में यदि रामविलास जी के हिन्दी जातीयता, भारतीय संस्कृति और दूसरे सामन्तवाद-विरोधी मुद्दों को ज्यादा जगह मिलती तो शायद ये आन्दोलन अपना सामाजिक आधार विस्तृत कर पाते एवं अधिक प्रभावशाली होते। निःसन्देह उन्होंने अपने युग के वैचारिक संघर्ष में जान पैदा की, प्रगतिशील आन्दोलन के संकट के वर्षों में इसे समर्थतम नेतृत्व प्रदान किया और 'परम्परा' के अपने विस्तृत मूल्यांकनों द्वारा प्रगतिशील साहित्य की सही समझ विकसित की। उनकी आलोचना में 'समकालीनता' की आधुनिक खिड़कियाँ अधखुली रह गयी हों, पर समग्रतः यथार्थवाद का महान भारतीय परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आ जाता है।

301 जी.टी.रोड, हावड़ा-711 106

मो.: 09007757887



पंकज राग

1857 के डेढ़ सौवें वर्ष में

कॉलेज में मेरे एक प्रोफेसर कहा करते थे
कि अगर संघ लोक सेवा आयोग वाले मल्टिपल च्वाइस प्रश्नों में
पूछें कि 1857 क्या था
क्या वह एक सिपाही विद्रोह था, क्या वह धर्म को लेकर लड़ा गया?
क्या वह जनसाधारण की लड़ाई थी या क्या वह राजसत्ता की वापसी का
युद्ध था?
और आपको इनमें से सिर्फ एक चुनना हो तो आप क्या करेंगे?
क्या आप इतिहास के अच्छे विद्यार्थी की तरह एक विकल्प की अनिवार्यता पर
उँगली उठाते हुए चारों को चुनेंगे
या फिर प्रतियोगिता में सफलता के लिए
इतिहास को तिलांजलि देकर किसी एक पर निशान लगाएँगे?

मुझे याद है उस दिन हममें से कोई कुछ नहीं बोला
जब आप सब जानते हो कि आप ऐसी स्थिति में क्या करेंगे
पर ऐसा करने में थोड़ी शर्म भी महसूस हो
तो, फिर आप बोल नहीं पाते
हाँ, क्लास के बाहर मेरे कुछ दोस्तों ने ठहाका भी लगाया
और कहा कि कोई गधा ही होगा जो चारों को टिक करेगा
जानबूझकर एक पूरे सवाल के अंक कौन खोना चाहेगा
वह भी सही इतिहास के नाम पर।
कुछ दोस्त असमंजस में भी रहे
कुछ ने थोड़ी कोफ्त से कहा कि आखिर ऐसे बेतुके सवाल सेट भी
तो इसी तरह के प्रोफेसर करते हैं
इस तरह 1857 उस दोपहर हमारी चर्चा में रहा
हम 1857 पर ही बातें करते-करते पुरानी दिल्ली के रिज की तरफ निकल गए
शायद उन स्थानों के बहुत करीब जहाँ यह लड़ाई लड़ी गयी थी

हमारे पास से गुजरने वाले लोगों की बातों में इतिहास दूर-दूर तक नहीं था
हमारी बातों में भी अगर था
तो शायद सिर्फ इसलिए क्योंकि उससे हमारा अपना भविष्य जुड़ गया था
हमारे सामने एक परीक्षा थी
जिसमें हमें बैठना था और सफल होना था
और इसके लिए एक व्यापक बहुआयामी इतिहास को छोटा कर
एक सीमित विकल्प चुनने के अपने निर्णय पर
बहस करके भी हम अडिग थे
हम शायद जायज़ भी थे क्योंकि प्रश्नपत्रों की सत्ता को हम चुनौती
नहीं दे सकते थे
पर यहीं 1857 के तमाम प्रतिभागियों से हम छोटे भी रहे जिन्होंने
चाहे कैसे भी या किसी भी कारण से
उस समय की औपनिवेशिक सत्ता को ललकारा था।

वैसे कुछ भी न चुनना भी एक विकल्प हो सकता है
और चुनने और न चुनने के बीच भी
एक ऊबड़-खाबड़ ज़मीन हो सकती है
जिसके मध्य भी समतल हिस्से बन जाया करते हैं
कौन जानता है सिपाहियों द्वारा जोखन बाग में गोरों के कत्लेआम के बाद भी
झाँसी की रानी फरवरी 1858 तक अँग्रेजों को चिट्ठियाँ लिखकर
ऐसे कौन से हिस्से तलाश रही थी
और इस ज़मीन पर फिर ऐसी क्या हलचल हुई
कि उसी रानी में लोगों ने अपनी आवाज़ ही नहीं
और भी न जाने क्या-क्या ढूँढ़ लिया
वह खुद गुड़धानी खाकर भी सिपाहियों को पेड़ा जलेबी खिलाने वाली हो गयी
और बुन्देलखंडी विवाह गीतों में
उसकी लड़ाई सत्य और झूठ के बीच की लड़ाई का गाली गीत बनकर
गूँजती रही।

हरबोलों की मिरजई और मंजीरों की वे बातें
1857 के इस डेढ़ सौवें वर्ष में फिर याद तो आयीं
पर याद आना कोई विकल्प नहीं था
याद को सन्दर्भों से न जोड़ने का विकल्प इस समय तक
बहुत सुविधाजनक हो गया है हम सबके लिए
और 1857 के इस डेढ़ सौवें वर्ष तक तो
शायद कॉलेज के हम सभी दोस्त

अपनी-अपनी ज़मीनों में दूर तक धँस चुके हैं।
 ख़तरा अगर साफ़ नहीं हो तो वक्त बीतते देर नहीं लगती
 बहुत धीमे बीते थे अठारह सौ सत्तावन और अट्ठावन के वे दो वर्ष
 क्योंकि ख़तरा सिर्फ़ गदियों और ओहदों
 या ज़मीन और जायदाद का नहीं था
 लगान का बोझ हो, अफ़ीम या नील की थोपी हुई मारक खेती हो
 या रिवाज़ों और क़ायदों की जगह ऊँचे खम्भे वाली अदालतें हों
 सभी कुछ-कुछ अजीबोगरीब और ऐसा था
 जैसा पहले कभी देखा न था
 न हुनर की कद्र, न पुश्तैनी रवायतों की परवाह, न खानदानों की इज़्ज़त की फ़िक्र
 मानो एक औपनिवेशिक झोंका हो जो बढ़ता जा रहा हो
 और पूरी संस्कृति ही हिल गयी हो।

1857 के बारे में कितना कुछ लिखा गया जो हमने पढ़ा भी था
 पर शायद यह नहीं समझ पाए
 कि यदि संस्कृति की आम परिभाषा जीवन शैली होती है
 तो इसी संस्कृति की खास परिभाषा संघर्ष भी हो सकती है
 समझ जाते तो शायद दुनिया तो न बदल पाते
 पर इतने धँसे भी न होते कि निकलना ग़ैर ज़रूरी मान लें
 हमसे अधिक 1857 को तो साथ लेकर चले हैं वही उपनिवेशी ताक़त
 जो अब सभी आडम्बर छोड़ पूरे निवेशी हैं
 भौतिक जगत से लेकर अंतर्चेतना तक चलता है निवेश का खेल
 तभी तो अब ख़तरा साफ़ नहीं नज़र आते
 वक्त इतनी तेज़ी से बीतता है खिलौनों के बीच
 कि विचार बन नहीं पाते, नज़रें टिक नहीं पातीं
 जीवन शैली का अर्थ मानो एक क्षण हो गया हो
 और क्षण से क्षण की कुलौचों में पूरी पृथ्वी को नाप लेना ही माददा हो
 क्योंकि पृथ्वी अब एक-सी होने का आभास देती है।

पर पृथ्वी एक है कहाँ
 न कभी थी न है
 जब-जब यह अहसास जागता है तो 1857 जैसी कोई चीज़ होती है
 जब-जब यह अहसास मरता है तो 2007 बीतता चला जाता है
 और 1857 के एक सौ पचास वर्ष बाद
 इलाहाबाद की सड़कों पर चलते हुए हम भूल जाते हैं कि तीखा संघर्ष ऐसा
 होता है
 कि इसी शहर में किसी साधारण विद्रोही द्वारा
 न सिर्फ़ कोयले के गोदाम को ब्रिटिश सत्ता का प्रतीक मानकर जलाया गया
 बल्कि कोयले को भी लूटा नहीं वहाँ स्वाहा कर डाला गया
 हमें याद नहीं आता भोजपुर के धोबियों का वह भावुक-सा बिरहा
 कि बाबू कुँआर सिंह के राज बिना अब कपड़ों को केसरिया से न रंगाएंगे
 हमें मिट्टी में रची बसी वह रागात्मक धुनें भी नहीं याद रहतीं जिसमें छोटे-
 छोटे जाने-पहचाने प्यार कैमूर की पहाड़ियों, पिता जैसे जंगल और कुँआर
 सिंह के भर-भर कटोरा दूध पीने वाले बछड़ों से लिपटते हैं
 हमें होली की उस ऊपर को नीचे और नीचे को ऊपर कर देने वाली अर्थव्यंजकता
 भी याद नहीं

जब देवर-भाभी की ठिठोली लोक गीत में मूर नामक एक अँग्रेज़ अधिकारी
 के सिर को
 काट कर भाभी के पास लाने का रूप धर
 हास्य से बढ़ कर एक बड़ी ताक़त का बड़ा उपहास बनकर सामने आई थी
 छोटी-छोटी ऐसी कितनी ही बातें हमें याद नहीं
 छोटी बातों से बनी बड़ी-बड़ी बातें भी शायद इसीलिए
 बिना पत्तों के पेड़ सरीखे लगने लगी हैं
 और शहरों में पेड़ यूँ भी कम हो चले हैं
 रहते तो भी उन पर खुले आम फाँसी तो अब दी नहीं जा सकती
 ज़माना बदल गया है
 अब भी मौत कलेवरों में छुप छुपकर आती तो जा रही है
 पर उसकी आहटें नहीं आतीं
 और लगता है जैसे समय बहुत जल्दी बीत रहा है।

इतनी ही जल्दी ढहते जा रहे हैं 1857 के कई-कई अवशेष
 जिन्हें आज तक स्मारक घोषित नहीं किया गया
 अभिलेखागारों की सम्भ्रांत नस्तियों में जो न मिले
 उसकी विश्वसनीयता हमारे इतिहास में सन्दिग्ध हो जाती है
 पुराने पीले कागज़ों की महक को प्रामाणिक मानने का एक अर्थ यह भी रहा है
 कि ऐसी कई आवाज़ें जिन्होंने कहा कि सब कुछ लाल हो जाएगा
 उनकी तलाश मुलतवी रखी गई
 और जब अंततः शुरू की गई
 तो उनकी अनुगूँज बड़ी धूमिल हो चुकी थी
 मंडला के उन जंगलों के बहुत सारे पेड़
 दुखनू और मंगनू गोंड की यादों को लिए हुए ही जा चुके थे
 चिड़ियों को प्रशिक्षित करके संदेश भेजने की कला,
 गोखरू से अँग्रेज़ सिपाहियों को फँसाने का फन
 खैरी में भेड़ों के गले में लालटेन बाँध कर अँग्रेज़ों को छकाने का मज़ा
 इन भावनाओं को इतिहास में शामिल कराने की
 ताक़त नहीं है उन आदिवासियों के पास
 इनकी संस्कृति में ऐसे गीतों की गुनगुनाहट तो है
 पर वह गुनगुनी धूप बन कर निखरती नहीं
 वह चाँदनी रात में ही भीमा भीमा का खेल खेलती है
 बिना खिलौनों के
 सिर्फ़ हम आशा के साथ कि भीमा फिर आएगा, उसे फिर आना है
 भीमा को आवनो से, दुख सारा कोटी जोसे
 आज भी गाते हैं निमाड़ के भील
 1857 को डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके हैं
 कुछ दुख अभी तक नहीं बीते।

गौर करें तो 1857 के दुखों की कहानी बहुत बड़ी है
 गरीबी के दुख, अमीरी के दुख
 सचमुच के दुख, कुछ पाले हुए दुख
 सच्ची भूख से व्याकुल दुख
 झूठी शान से परेशान दुख
 वह कई दुखों को जोड़कर लड़ी गई एक लड़ाई थी

कमजोर जोड़ों को बाँधता एक दुश्मन था
कुछ दुख इसलिए नहीं बीते कि दुश्मन शक्तिशाली था
और कुछ दुख जैसे कभी बीतते नहीं
फिर भी लड़े क्योंकि उम्मीद ज़िन्दा थी
उम्मीद भी तो नहीं बीतती
खतरों से विचलित उम्मीद तो बिल्कुल नहीं
खतरे साफ हों तो उम्मीद ज़िन्दा रहती है
आग सुलगती है बुझती नहीं
पर खतरों को देखना ज़रूरी है
1857 के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी नज़र आने चाहिए खतरे
स्पष्ट दिखाई न दें तो उन्हें खोजना चाहिए, आशंकाओं की पदचाप के सहारे
उस अँग्रेज़ सिपाही की तरह जो अवध की रातों में
तुम कहाँ छुपे ओ बेनीमाधो के गीत गाते हुए
सुबह का इंतज़ार करता था।

वैसे सोचिए तो गाँव से गाँव रोटियों को क्रम से बाँटते जाना
आशंका को यथार्थ की जुबान देने की एक अजीब परम्परा थी
जैसे कुछ बोलिए न बोलिए पर कुछ होने वाला हो
जैसे महामारी के समय होता था
एक ऐसे समाज में
जहाँ रोटियाँ मुहाल थीं और आशंकाएँ भरपूर
जहाँ रोटी आशा थी
और यह यक़ीन था कि यथार्थ से ही आशा की लहर बहती है।

पर यह लहर आगे नहीं पीछे जाती थी
कारतूस की चर्बी, आटे में हड्डियों का चूरा, मिलावट की ढेर सारी अफवाहों
के पीछे
अपनी परछाइयों से चिपकने का मोह इतना था
कि सिर्फ बाप दादों के ज़माने ही सुनहरे लगते थे
उसकी बातें ही नैतिक लगती थीं
मलाल शायराना हो या सैनिकाना
पर अँग्रेज़ी की खिलाफ़त के हर पहलू के पीछे
पवित्रता और प्रदूषण की नानियों और दादियों की वही पुरानी कहानियाँ थीं
जिन्हें सुन कर गाँव-गाँव के सवर्ण
बचपन से ही बड़े-बूढ़ों जैसी बातें करने लगते थे।

ऐसी कहानियों ने कुछ तबकों को हमेशा अलग ही रखा है
कुछ पारम्परिक सामन्ती आचारों से विभेद का दंश कम तो हो सकता था
पर मिट नहीं सकता था
लड़े वे तबके भी कहीं-कहीं
कई बार अनुचरों के रूप में
कभी-कभी सत्ता के स्वायत्त प्रतिरोध की तरह भी
पर पवित्रता को बचाने के उस युद्ध में
उनकी अस्पृश्यता की निजात नहीं थी
जिस दुनिया को वापस लाए जाने की लड़ाई थी
वहाँ वे अछूत ही रहते

शायद अँग्रेज़ों से भी अधिक
जिन व्यवहारों, आचारों और नैतिकताओं को धर्म मान कर लड़ा गया
उनकी खड्ग पूजा में
युद्ध के पहले भी शामिल होने की मनाही थी उन्हें
और अगर जीतते तो भी जूठन ही मिलती, प्रसाद नहीं।

शायद इसलिए भी सब कुछ लाल नहीं हुआ 1857 में
पौरुष और मर्दानगी की तमाम लोकोक्तियों के बीच
जाति और गोत्र के समस्त गठबंधनों के बीच
गढ़ियाँ और किले बिखरते चले गए
अवध, बुंदेलखंड और भोजपुर के गाँवों में घूमते हुए
उनके पत्थर भी मिल जाएँगे
और आपसे कहेंगे कि बड़ी लड़ाइयाँ ऐसे मुहावरों से नहीं जानी जा सकतीं
आज तो और भी नहीं
जब द्रुत चलायमान छवियों के बीच से ही दुश्मन पर नज़र ठहरानी हो
और समर्थन लेने के लिए
गति के भ्रम में चल रहे समुदायों को एक खास दिशा दिखाना हो।

आज 1857 के इस डेढ़ सौवें वर्ष में
जब उस विद्रोह की तहें हम ढूँढ़ते हैं
तो बहुत उलझा-उलझा लगता है सब
हमारी आँखों में बीते डेढ़ सौ वर्षों की छायाएँ भी लहरा जाती हैं
इन छायाओं के अपने ताने-बाने हैं
और आज़ादी अपनी भिन्न आकृतियों में कभी चमकती तो कभी बेहद धूमिल
दिखती है
लेकिन छायाओं के इस खेल में भी
1857 एक लड़ाई के रूप में गम्भीर बना रहता है
भले ही शरीर कमज़ोर हो
मन भले ही अपनी सीमाओं के अंदर जकड़ा हो
पर चेहरे की गम्भीरता को नकारा नहीं जा सकता
लड़ना भी बड़ी बात होती है
यह एक उठा हुआ कदम होता है
और हार भी इसे वापस ज़मीन में उस तरह धँसा नहीं पाती
जैसे आज आभासों के मायाजाल में विचरते हुए भी हम आप धँसे हैं
राणा बेनीमाधव की अपनी सीमाएँ थीं, सच है
उस ज़माने की भी अपनी सीमाएँ थीं
कर्म को भी धर्म के मुहावरे दिये जाते थे
पर यह भी सच है कि 1857 ने ईश्वर और भाग्य को भी संघर्ष से ही जोड़ा,
निष्क्रियता से नहीं
वरना इस खुले-खुले देश में तो आज हम अपने रहनुमाओं से इतना भी नहीं
कह पाते कि
'तुम तो जाए मिल्यो गोरन से हमका है भगवाना'।

विधि विद्यालय मार्ग, पुणे 411004 (महाराष्ट्र)

स्वप्निल श्रीवास्तव

बेरोजगारी के अद्भुत दिन

अद्भुत होते हैं बेरोजगारी के दिन
जेब में पैसे कम हौसले ज्यादा होते हैं
बेरोजगारी में बहुत सारे पूरा न होने वाले
सपने देखे जाते हैं
बेरोजगारी में अक्सर लड़कियों का जिक्र आता है
वे जीवन में आने के पहले ही उड़ जाती हैं
उनके जाने के बाद उदास-उदास
कविताएँ लिखता है आदमी
कुछ लोग अपना चेहरा इस तरह
बना लेते हैं जैसे किसी मृत्यु उत्सव से लौटे हों
बेरोजगारी में सबसे नाराज होते हैं पिता
उन्हें हमारी क्राबिलियत पर शक होने लगता है
नौकरी हमसे कई हाथ दूर रहती है
हम नौकरी के पीछे भागते हैं
और ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं
माँ कहती है सम्भल कर चला करो
बहुत खराब है यह दुनिया
जो गिर जाता है उसे उठाती नहीं
बेरोजगारी के दिनों में हम हा...हा... हँसते हैं
रोजगार कालमों में खोजते हैं नौकरी
रंगते हुए हम नौकरी के पास पहुँचते हैं
नौकरी हमें गुलाम बना लेती है
हम बैल की तरह नौकरी में नध जाते हैं
हमारे आँख पर बँधी रहती है यही
हम जीवन भर गोल-गोल घूमते हैं
पीठ पर पड़ते रहते हैं समय के चाबुक
हम सपने देखना बन्द कर देते हैं
हमारे सपनों की अकाल मौत हो जाती है,
इस तरह हवा हो जाते हैं बेरोजगारी के अद्भुत दिन

गाओ तो

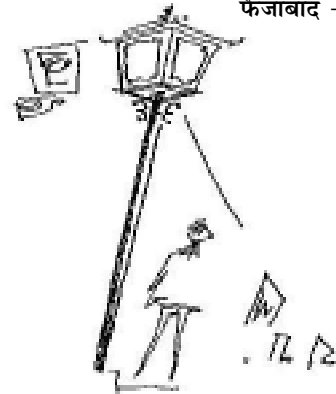
गाओ तो परिन्दे की तरह
गाओ
खिलो तो फूल की तरह
खिलो
आसमान की तरह विराट
समुद्र की तरह गहन हो जाओ
यह कला अगर सीखनी हो तो

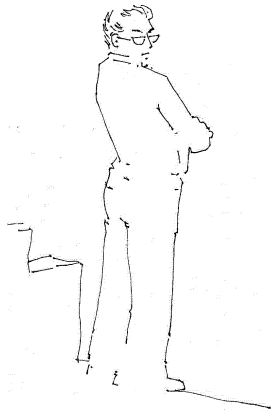
किसी स्त्री के पास जाओ
वह जीवन को करती है छन्दमय और लयबद्ध
पृथ्वी की बहुत सारी कल्पनाओं का
उदगमस्थल है स्त्रियाँ
जैसे सुडौलता की कल्पना
निश्चित रूप से स्त्रियों से आयी होगी
सृजनशीलता पर उनका जन्मसिद्ध अधिकार है
वे नदियों की तरह आवेगमयी और स्नेहिली हैं
वे हमारे जीवन को सिंचित करती हैं
उनकी नाभि में कस्तूरी का वास है
उनके ममतालु वक्षों से फूटते हैं दूध के झरने
और भूखे बच्चों के मुँह में गिरते हैं
जब मैं किसी स्त्री की कल्पना करता हूँ तो बरबस
याद आती है माँ

आदमी के दुख

आदमी की ज़िन्दगी में बहुत सारे दुख होते हैं
कुछ दुख ऐसे होते हैं जिन्हें सार्वजनिक करना होता है
मुश्किल
वे ज़िन्दगी के साथ ही जाते हैं
कुछ दुख आदमी के चेहरे पर दिखायी देते हैं
जरा झू लो तो आँखों में
सैलाब आ जाता है
कुछ दुख असुविधाओं से उपजते हैं
उन्हें दोस्तों के बीच बाँटा जा सकता है
वे सिगरेट के धुआँ के साथ उड़ जाते हैं
दुख से मुक्त होने का
सबसे अच्छा तरीका है उसे
आदमी नहीं समूह का दुख मान लिया जाए
दरअसल दुख व्यक्तिगत नहीं होते,
बना दिये जाते हैं
एक आदमी का दुख समाज का दुख है।

510 अवधपुरी कालोनी
फैजाबाद - 224 001





प्रतापराव कदम

अब्दुल्ला सर का इहलोक परलोक

अब्दुल्ला सर के नाम से ही जाने जाते थे वे
नज़दीक के लोगों के अलावा
शायद ही किसी और को मालूम हो
कि उनका पूरा नाम क्या था
छात्रों में तो वे अब्दुल्ला सर ही थे
बात-बेबात इहलोक छोड़ परलोक की बातें
और छात्र क्लास रूम में करते इन्तज़ार
विषय का भी कुछ कहेंगे अब्दुल्ला सर
साल भर खींच जाता इन्तज़ार यह
परलोक इहलोक की समस्या सुलझती नहीं
फिर भी अपने ढंग से लोकप्रिय थे अब्दुल्ला सर
इसलिए भी कि वेशभूषा से समझ में आते थे
गेटअप था उनका समय पर हावी
समय के साथ वे नहीं
समय ही सोचता, चाहूँ तो भी
मैं कैसे इनके साथ चलूँ

केमेस्ट्री के थे अब्दुल्ला सर
जिनकी केमेस्ट्री परलोक को तबज्जो देती ज़्यादा
इहलोक में थे उनके छह बच्चे
जो परलोक के कारण नहीं
इहलोक में रमने के कारण थे
जिनकी पढ़ाई में गड़बड़ थी केमेस्ट्री उनकी
इन सब बातों के अलावा भी
अब्दुल्ला सर एक बार शहर में चर्चा का केन्द्र बने
हुआ यह कि इकहत्तर में जब सीमा सुलग रही थी
सेना का असला ट्रेनों से आ-जा रहा था
अब्दुल्ला सर ने खंडवा रेलवे स्टेशन पर
मालगाड़ी में सवार सेना के टैंक देख पूछा
क्या है यह कहाँ जा रहा है और क्यों

पास खड़े जवान ने नाम पूछा उनका
फिर कहा चलिए पुलिस स्टेशन
नाम में क्या रखा है भले ही कहते हों कुछ
पर सन्देह का कोड़ा नाम सुनते ही कुलबुलाया
पूरा कॉलेज जब पहुँचा पुलिस स्टेशन
इहलोक में छूटे तब कहीं अब्दुल्ला सर
समझे तब परलोक नहीं ज़मीनी सच्चाई ज़्यादा ज़रूरी
और ज़मीनी सच्चाई यह कि छह बच्चे अब्दुल्ला सर के
जो लाइन से सीखते अली-बे-हऊआ
एक दो बच्चे लाइन तोड़
बी.ए. तक पढ़े उनमें से एक
कोर्ट के सामने बैठ मुंशीगिरी करता और
दूसरा मेहन्दीबाई फौजदार स्कूल में टीचर है।
मेहन्दीबाई फौजदार नाम उस तवायफ़ का
प्रेम में डूबने के बाद पड़ा
पहले फकत वह मेहन्दीबाई ही थी और
बाबूलाल फौजदार सेना में सिपाही था
मेहन्दीबाई मुजरा करती
इसी मेहन्दीबाई पर मरमिटा फौजदार
फौज छोड़ आ गया खंडवा
दोनों प्रेम में ऐसे डूबे कि तिर गए
इहलोक और परलोक दोनों में
मरने के बाद इनके तमाम पैसे जायदाद से
इच्छा के मुताबिक उनके बनायी
मेहन्दीबाई फौजदार स्कूल
जहाँ टीचर है अब्दुल्ला सर का लड़का
जिसका निकाह अब्दुल्ला सर देख नहीं सके
जिस परलोक की बातें वे करते अक्सर
वहीं पहुँच गए थे शायद वे
इधर इहलोक में उनकी सन्तान परेशान
जिस लड़की से निकाह हुआ टीचर का
वह हाड़मांस की थी जीती-जागती
अकेले नहीं अब्दुल्ला सर के लड़के के साथ
इहलोक में रमना नहीं धँसना चाहती थी
अब्दुल्ला सर के लड़के पर भी परलोक सवार
पुशतों की बघारता करता परलोक की बात
इहलोक में लड़की गयी मायके तो आयी नहीं
परलोक के गड़बड़ झाले में
इहलोक में गृहस्थी गड़बड़ा गयी
जो प्रेम में डूबी मेहन्दीबाई फौजदार की
इहलोक में स्कूल न होती तो
मुश्किल हो जाती अब्दुल्ला सर के लड़के की
इहलोक को तो साध गयी मेहन्दीबाई
परलोक की फिर क्या बिसात।

11, शकुन नगर, प्रोफेसर्स कॉलोनी
खंडवा (म.प्र.) 450 001

एक युगधर्मी आलोचक की खोज श्रीभगवान सिंह

लगभग डेढ़ सौ वर्षों की अवस्था पूरी कर चुकी हिन्दी आलोचना के विकास में जिन आलोचकों के महत्वपूर्ण अवदान हैं, उनमें नन्ददुलारे वाजपेयी एक उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं। किन्तु प्रगतिवादी एवं परिमलवादी, दोनों ही खेमे के लेखकों-आलोचकों ने नन्ददुलारे वाजपेयी को अनदेखा किया। विगत तीन-चार दशकों के दौरान हुए आलोचनात्मक लेखन की मुख्यधारा ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं उनके बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह को ही हिन्दी आलोचना के शिखर पुरुष के रूप में मान्य कर दिया और हिन्दी आलोचना के परिदृश्य से नन्ददुलारे वाजपेयी गायब से हो गए या कर दिए गए। इस दृष्टि से विजय बहादुर सिंह द्वारा नन्ददुलारे वाजपेयी पर लिखी गयी पुस्तक 'आलोचक का स्वदेश' एक उल्लेखनीय प्रयास है। यह पुस्तक एक तरफ वाजपेयी जी की जीवनी है, तो दूसरी तरफ उनकी जीवन में पिरोयी गयी हिन्दी आलोचना की गाथा-माला भी है। पूरी पुस्तक पढ़ने के बाद निश्चिन्त रूप से यह तथ्य स्वीकार करना पड़ता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी के दूसरे आधार स्तम्भ आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी हैं और शुक्ल जी के निधन के बाद हिन्दी आलोचना में कोई शून्य-काल नहीं पैदा हुआ था, क्योंकि वाजपेयी जी शुक्ल जी के जीवन काल में ही छायावादी कवियों तथा प्रेमचन्द पर महत्वपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध लिख कर बतौर आलोचक अपनी पहचान बना चुके थे।

ध्यान रहे यह पुस्तक एक आलोचक की जीवनी है, न कि 'कलम का सिपाही', 'निराला की साहित्य-साधना' या 'आवारा मसीहा' की तरह किसी रचनाकार की; किन्तु विजय बहादुर सिंह ने बहुत खूबसूरती से आलोचक वाजपेयी के साथ-साथ उनकी समकालीन साहित्यिक सृजनशीलता के परिदृश्य को अपने विवेचन में यथेष्ट स्थान दिया है जिससे उस समय के साहित्य-जगत में चल रहे नाना वैचारिक टकरावों का भी पता चलता है। यही नहीं, आचार्य शुक्ल का पूरा-पूरा सम्मान करते हुए भी जीवनीकार लेखकीय ईमानदारी के तहत आचार्य शुक्ल द्वारा अपने 'साहित्य का इतिहास' में नन्ददुलारे वाजपेयी का आलोचक रूप में उल्लिखित न किए जाने के कारण उनकी निष्पक्षता पर प्रश्न-चिह्न खड़ा कर देता है।

रचना से जहाँ युगीन चेतना से सम्बद्ध होने की अपेक्षा की जाती है, वहीं उसकी तार्किक संगति के रूप में आलोचना से रचना में धड़कती युगीन संवेदना की परख करने की अपेक्षा की जाती है। नन्ददुलारे

वाजपेयी के पूर्ववर्ती महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक निस्सन्देह गहरे काव्य-मर्मज्ञ थे, किन्तु साहित्य के समकालीन परिदृश्य में नयी काव्य धारा के रूप में उभरे छायावाद के प्रति उनमें न सिर्फ उदासीनता के, बल्कि तीखे विरोध के भाव थे। ऐसे में इलाहाबाद से प्रकाशित पत्र 'भारत' के सम्पादक के रूप में (1930-32) नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद के पक्ष में लेखमाला लिखकर समकालीन रचनाशीलता को रौंदने वाले पूर्ववर्ती आलोचकों के अश्वों की लगाम थाम ली। उनके इस युगधर्मी आलोचकीय कार्य के महत्त्व को चिह्नित करते हुए लेखक लिखता है—
“भारत का काल तो 1930 से 1932 तक का है और वाजपेयी की उम्र है चौबीस-छब्बीस साल। अभी वे जवान हो रहे हैं किन्तु छायावादियों की क्रांतिकारी काव्य-दृष्टि और युगान्तरकारी काव्य-प्रतिभा को सर्वप्रथम पहचानने और समूचे आत्मविश्वास और साहस से उन्हें आधुनिक हिन्दी कविता की 'वृहत्त्रयी' कह स्थापित करने वाले आलोचक तो यही वाजपेयी हैं। उनसे असहमत और उनके विरुद्ध षड्यन्त्र में लगे और कुप्रचार करने वाले आलोचक भी यह हिम्मत अब तक नहीं जुटा सकते हैं कि 'वृहत्त्रयी' की इस स्थापना को चुनौती दें और खंडित करें। रामविलास शर्मा तो प्रकरान्तर से वाजपेयी जी की मूल स्थापनाओं को जैसे अंगीकार करके ही चले रहे हों।” (पृ. 119)

स्मरणीय है कि मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' लिखकर हिन्दी साहित्य में 'सूर, तुलसी और देव' के रूप त्रिदेव को सामने रखा था तो आचार्य शुक्ल ने 'तुलसी, सूर और जायसी' को मिलाकर त्रिवेणी का निर्माण कर दिया था, ठीक इसी तर्ज पर वाजपेयी जी प्रसाद, पन्त एवं निराला को लेकर वृहत्त्रयी की स्थापना करते हुए दिखायी देते हैं। यह वाजपेयी द्वारा पूर्ववर्ती परम्परा के आत्मसातीकरण का प्रमाण तो है, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ मिश्रबन्धु एवं शुक्ल जी द्वारा स्थापित साहित्यिक त्रिमूर्तियाँ अतीत पर आधारित थीं, वहाँ वाजपेयीजी ने 'वृहत्त्रयी' को बिलकुल समकालीन रचनाशीलता की ज़मीन पर स्थापित किया और छायावाद की युगीन चेतना उसके राष्ट्रीय और सांस्कृतिक बोध को प्रकट करने का काम किया। निस्सन्देह इस दृष्टि से उन्होंने आलोचना को युगधर्मी बनाने का स्तुत्य कार्य किया। विजय बहादुर सिंह के इस विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा या नामवर सिंह जैसे समीक्षकों ने वाजपेयी जी के सूत्रों का ही विकास करते हुए छायावाद की सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद

विरोधी चेतना को रेखांकित किया। अतएव शिवदान सिंह चौहान भक्तों द्वारा यह कहना कि रामविलास शर्मा या नामवर सिंह की छायावादी समझ में शिवदान सिंह की मान्यताओं के तत्त्व पाए जाते हैं, सत्य से कोसों दूर है। इस तरह की बात अशोक वाजपेयी द्वारा पुरुषोत्तम अग्रवाल की साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'शिवदान सिंह चौहान' पर 'जनसत्ता' (15 अप्रैल, 2007) में टिप्पणी करते हुए कही गयी थी।

जीवनी लेखक छायावाद तक ही वाजपेयी की युगधर्मी आलोचना को रेखांकित कर विराम नहीं ले लेता; बल्कि प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्र कुमार, रामधारी सिंह दिनकर, रामेश्वर शुक्ल अंचल, के साथ-साथ प्रगतिवादियों, प्रयोगवादियों, नयी कवितावादियों को लेकर वाजपेयी द्वारा की गयी आलोचनात्मक मुठभेड़ों का भी विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। साथ ही पुस्तक में 'नामवर प्रसंग' जैसा प्रकरण रचकर नन्ददुलारे वाजपेयी के व्यक्तित्व को धूमिल करने हेतु नामवरपंथियों द्वारा गाढ़े गये अनेक मिथ्या आरोपों को अनावृत्त करने का लेखक नैतिक साहस दिखाता है। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक को पढ़ते हुए जब यह पता चलता है कि फरवरी 1943 में 'काशी प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई तो उसके संस्थापक अध्यक्ष नन्ददुलारे वाजपेयी थे और महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रामविलास शर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नरोत्तम नागर, अमृत राय, श्रीपतराय, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', दिनकर, नागार्जुन जैसे प्रगतिशील साहित्यकारों से उनके बहुत गाढ़े आत्मीय रिश्ते थे, तो उन्हें कतिपय प्रगतिवादी लेखकों द्वारा बरसों से प्रगतिवाद विरोधी सिद्ध करने की चलायी मुहिम को देख कर अत्यन्त ग्लानि होती कि हमारा लेखक समाज भी सत्य और ईमानदारी से कितना दूर होता जा रहा है।

वस्तुतः वाजपेयीजी एक ऐसे आलोचक के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं जो किसी वाद या मत विशेष से अच्छा ग्रहण करने में परहेज नहीं करते, लेकिन किसी क्रीमत पर उसका अन्धानुगामी होना मंजूर नहीं करते, वे नवीनता की खूब कद्र करते हैं तो परम्परा की उपेक्षा भी नहीं करते। इस सम्बन्ध में जीवनीकार ठीक ही लिखता है, "यही वह समन्वय और सन्तुलन है, वाजपेयी जी जिसकी ओर निरन्तर बढ़ते दिखायी देते हैं। इसी दृष्टि में उनमें किन्हीं पक्षों का साम्प्रदायिक नकार या एकान्तिक स्वीकार नहीं है। उनकी दृष्टि बेहद खुली हुई और उदार है। उसमें एक विशेष प्रकार की सर्वग्राह्यता, समावेशीपन, उदारता और उन्मुक्ति है, किन्तु साम्प्रदायिक आग्रह कहीं नहीं। ...हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वे उसी परम्परा में आते हैं जिसे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शोध और प्रवर्तित किया था, जिसे भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि महान सर्जकों ने नए सिरे से रचा था। यह वह परम्परा थी जिसे वे खुद 'राष्ट्रीय' और राष्ट्रीय होने के कारण ही प्रगतिशील कहा करते थे।" (पृ. 40)

इस पुस्तक से जो एक अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है वह यह कि हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों-प्रभावों की चर्चा चलाने वाले प्रथम आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी ही थे। वैसे साहित्य में प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पन्त, जैनेन्द्र कुमार गाँधीवादी सिद्धान्तों, प्रभावों को लेकर रचनाएँ लिखते आ रहे थे, किन्तु आलोचना के क्षेत्र में गाँधीजी के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही दीवार बने हुए थे। यह सत्य है कि शुक्लजी को गाँधीजी कभी बहुत पसन्द नहीं आए। वे गाँधी के बजाय



लोकमान्य तिलक की उग्रराष्ट्रवादी विचारधारा के प्रशंसक रहे। गाँधी द्वारा 1920 में चलाए गए राष्ट्रव्यापी असहयोग आन्दोलन का शुक्लजी ने अपने एक चर्चित लेख में (जो कदाचित अँग्रेजी में लिखा गया था) विरोध ही किया था। दूसरी तरफ 1936 से प्रगतिशील लेखन आन्दोलन के तहत सक्रिय हुए आलोचकों ने मार्क्सवाद, समाजवाद जैसी वैज्ञानिक विचारधारा के प्रभावान्तर्गत वर्ग-संघर्ष, वर्ग-चेतना के तोता रटत पाठ को ही साहित्य में अहमियत दी। गाँधी उनके लिए भी अस्पृश्य बने रहे। इस परिदृश्य में नन्ददुलारे वाजपेयी पहले आलोचक के रूप में सामने आते हैं जो आलोचनात्मक लेखन में गाँधीवादी सिद्धान्तों, मूल्यों की चर्चा करते हैं या दूसरे शब्दों में कहें तो उसे लेकर चलते हैं। वे 'भारत' के 22 अक्टूबर, के 1932 अंक में छपे अपने लेख में गाँधी की अहिंसा-शक्ति को इस युग की कल्याणमयी विभूति कहते हैं। उनके अनुसार गाँधी जी ने लोकहित को व्यक्तिगत साधना से कहीं ज़्यादा महत्त्व दिया है। वे इतिहास में ऐसे योगी होने की हैसियत से उतने स्मरण नहीं किए जाएँ जितना एक लोक-नेता होने की हैसियत से किए जाएँ। वे समूह को अपने साथ-साथ ले चलना चाहते हैं, कम-से-कम वे समूह को छोड़ कर चलना नहीं चाहते।' (पृ. 144) गाँधी के सिद्धान्तों के प्रति युवा वाजपेयी की ऐसी निष्ठा को देखते हुए लेखक की यह शिक्कायत वाजिब लगती है, "पश्चिम की इन सभ्यताओं से संघर्ष करने के बजाय उनका उपनिवेश बन जाने वाले बुद्धिजीवी और लेखक ही यह प्रचारित करते हैं कि वाजपेयी जैसे लोग— जिन्होंने गाँधी के साथ मिलकर इस संघर्ष की शुरुआत की थी— या तो अथयार्यवादी हैं या सामंती या फिर प्रतिगामी।" (पृ. 177)

सचमुच हमारे बहुतेरे हिन्दी लेखक मार्क्सवाद को एकमात्र प्रगतिशील दर्शन मानकर उसे ही तमाम प्रकार के उपनिवेशवादी संकटों का समाधान मानते रहे। लिहाजा अपने लेखन में वे 'देशी मुर्गी विलायती बोल' वाली मसल को चरितार्थ करते हुए उसी के विचारों का नमन करते रहे। इसके विपरीत भारत की समन्वयात्मक संस्कृति की पीठिका पर खड़े होकर उपनिवेशवादी वर्चस्व का विरोध करने वाले गाँधी हों या लोहिया या नन्ददुलारे वाजपेयी, इन सब को वे प्रतिगामी मानते रहे। यही कारण है कि उनके द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्तों में पगे लेखकों के आलोचनात्मक संघर्ष की खूब चर्चाएँ होती रही हैं; किन्तु आधुनिक उपनिवेशवादी सभ्यता जनित संकटों के खिलाफ देशी औजारों से संघर्ष करने वाले गाँधी, लोहिया, वाजपेयी जैसे लेखक-चिन्तक वामपन्थी शिविर के लेखकों द्वारा चर्चा के योग्य नहीं समझे जाते इन सब बातों का खुलासा यह पुस्तक बहुत ही तर्कसंगत ढंग से पुष्ट प्रमाणों के आधार पर करती है।

आलोचक के अतिरिक्त सम्पादक, पाठालोचक, संस्कृतिकर्मी एवं संगठनकर्ता आदि के रूप में नन्ददुलारे वाजपेयी के बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचय देते हुए लेखक इस पुस्तक के जरिये पाठकों को यह विश्वास दिलाने में सफल हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना को समृद्ध, सुव्यवस्थित, व्यापक एवं युगधर्मी बनाने का काम जिस आलोचक ने किया वह नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। किन्तु पुस्तक का महत्त्व इससे भी आगे इस बात में प्रकट है कि लेखक वाजपेयी जी के जीवनवृत्तों, साहित्यिक मान्यताओं एवं प्रखर आलोचनात्मक अन्वीक्षण

बुद्धि के साथ-साथ उनसे जुड़े स्थानों एवं व्यक्तियों के भूगोल, इतिहास तथा मिजाज़ का जिस अन्दाज़ में वर्णन करता है वह ज्ञानप्रद होने के साथ-साथ मनोहारी भी है। बैसवाड़े का ताप 'काशी की ओर', 'सागर-जबलपुर के लोग', 'नामवर प्रसंग' जैसे प्रकरण इसके उदाहरण हैं। मसलन, बनारस का यह शब्दचित्र— "नन्ददुलारे वाजपेयी जिस काशी में आए थे, वह इतना ही नहीं था। यह 'काशी का जुलाहा' कबीर का भी था और रामकथा को अवधी में नया अवतार देने वाले लोकनायक तुलसी का भी। बनारस की हवा में धर्म और जातियों की मिश्रित सुगन्धें व्याप्त थीं। श्रम और सौन्दर्य, पांडित्य और भक्ति, लोक और शास्त्र, कला और दर्शन की सूक्ष्म परतें और जीवन्त परम्पराएँ लिए यह शहर बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों से अँग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र भी था।" (पृ. 78)

पुस्तक की एक बहुत बड़ी खूबसूरती उसकी भाषा का सरस, सरल प्रवाह है। जिस तरह प्रपात से निकली जलधारा कल-कल, छल-छल के निनाद से मुग्ध करती है, प्यासे को तृप्त करती है, अपने वेग से अवांछित को दूर करती है, ठीक उसी तरह पुस्तक में जगह-जगह पर लेखक की भाषा से ऐसी रसधारा फूटी पड़ती है जो पाठक को बाँधे रख कर पूरी पुस्तक पढ़वा लेती है। जहाँ वाजपेयी जी के साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन-प्रसंग आता है, वहाँ भाषा विषय की गम्भीरता के कारण अवश्य शास्त्रीय हो जाती है, लेकिन जब डॉ. सिंह अपना विवेचन प्रस्तुत करने में प्रवृत्त होते हैं तो भाषा अश्वमेध अश्व की तरह वेगशील, तरंगायित होती दौड़ लगाती प्रतीत होती है। मसलन, द्रष्टव्य है यह कथन— "नन्ददुलारे वाजपेयी के विद्यार्थी

काल का काशी कोई कम न था। वह पश्चिम का कैंब्रिज और ऑक्सफोर्ड तो था ही, भारत का अपना बनारस और काशी भी था। वहाँ शिव थे तो सरस्वती भी। धर्मशास्त्र था, तो काव्यशास्त्र भी। विद्या वहाँ की हवाओं में थी तो प्रतिभा के सौरभ से गमकते टोले और मुहल्ले भी कुछ कम नहीं थे। लोक से चतुर्दिक घिरा हुआ यह शास्त्र अपनी गरिमा में जितना वैभवपूर्ण था अपने प्रकृत स्वभाव में उतना ही मनमौजी और मस्त भी।" (पृ. 72) निर्झर के स्वच्छ जल जैसी पारदर्शिता एवं प्रवाहशीलता वाली भाषा का शिल्पकार 'कलम का सिपाही', 'निराला की साहित्य साधना' के लेखकों से अगर आगे नहीं, तो पीछे भी नहीं माना जा सकता—इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि उसका विवेच्य विषय एक आलोचक है, न कि रचनाकार।

वैसे यह पुस्तक है तो मुख्य रूप से एक आलोचक की जीवनी, लेकिन कई तरह के विवेचन का समावेश हो जाने से इसका स्वरूप बहुआयामी हो गया है। ध्यातव्य है कि विजय बहादुर सिंह एक प्रखर आलोचक के साथ-साथ विलक्षण कवि भी हैं जिसका समवेत प्रभाव पुस्तक की आन्तरिक बुनावट में लक्षित होता है। मानना पड़ता है कि लेखक के मनोयोग, वस्तुपरकता के प्रति गहरी निष्ठा तथा साहित्यिक समझ के साथ-साथ अन्य विषयों पर पकड़ ने इस पुस्तक को साहित्यिक शिल्प की दृष्टि से, औपन्यासिक विवेचन की दृष्टि से, समाजशास्त्रीय-सांस्कृतिक तथा आस्वाद एवं प्रभाव की दृष्टि से काव्यात्मक कृति बना कर हिन्दी जगत को एक महत्त्वपूर्ण उपहार दिया है। इससे निश्चय ही हिन्दी जगत में फैली नाना भ्रान्तियों का जाल छिन्न-भिन्न होगा।

164, तिलकामाँझी, भागलपुर -812001, मो.: 09801055395

साधारण जीवन की असाधारणता बसन्त त्रिपाठी

सुन्दर और असुन्दर, साधारण चीज़ों से परिभाषित होता है। असाधारण और कुछ नहीं साधारण चीज़ों को अतिरिक्त सहजता और सतर्कता के साथ देखना ही है। दर्शन और विचार इसी सुन्दर और असुन्दर की तार्किक परिणति हैं। हिन्दी कथा-साहित्य (खासकर उसके युवा ब्रिगेड) ने आजकल साधारण चीज़ों (पात्रों, दृश्यों, घटनाओं) पर गौर करना बन्द कर दिया है। 'ग्लोबल विलेज' की बारीकियों को पकड़ने की चाह ने लेखक को उसके आस-पास के फैले जीवन के प्रति उदासीन बना दिया है। वह हर वक्रत कुछ नायाब पकड़ना चाहता है, कुछ नायाब लिखना चाहता है। नायाब को पकड़ने की बेचैनी अन्ततः उसे एक ऐसी कौंध की शरण में ले जाती है। जिसका कुल जमा जीवन एक क्षण का होता है— बिजली की एक क्षणिक चमक और सब कुछ शान्त!

गोविन्द मिश्र का नया उपन्यास 'धूल पौधों पर' 'बिजली की एक चमक और सब कुछ शान्त' नहीं है। पहले तो मैंने यही स्पष्ट कर दिया कि वह क्या नहीं है, ताकि कोई भ्रम न रहे। क्या है, यह आगे स्पष्ट हो जाएगा। और सनद रहे, घटनाएँ हालाँकि साधारण हैं, लेकिन उन पर चिन्तन साधारण नहीं है और यहीं पर वे साधारण चीज़ों को असाधारण

का दर्जा देते-दिलाते दिखाई पड़ते हैं।

यह उपन्यास एक लड़की के इर्द-गिर्द घूमता है, जिसे लेखक ने कोई नाम नहीं दिया है। एक तरफ उसका दुष्कर दाम्पत्य जीवन है और दूसरी तरफ उसका प्रेम; जैसा कि अक्सर होता है, लड़की का दाम्पत्य जीवन तकलीफों से भरा है और प्रेम उसकी उद्दाम आकांक्षाओं को एक आकार देता है। दाम्पत्य जीवन के शीर्ष पर, युवा गुरु, उसका पति है और प्रेम के शीर्ष पर अनाम लड़की और समाजशास्त्र का एक अंधेड़ प्रोफेसर प्रेम प्रकाश, दोनों हैं। लड़की का प्रेम अत्यन्त भावुक क्रिस्म के आदर्शवाद से संचालित है जबकि प्रेम प्रकाश जब-तब दैहिक सुख (स्पर्श और चुम्बन) के करीब जाना चाहता है। यह थोड़ा अजीब जरूर लग सकता है कि हिन्दी में जब स्त्री-विमर्श, देह-विमर्श और सेक्सुअलिटी पर गहमा-गहमी शुरू हो चुकी है, तब अनाम लड़की प्रेम के भावुक क्रिस्म के आदर्शवाद से आगे क्यों नहीं बढ़ पाई! इसे केवल लड़की की व्यक्तिगत राय मानकर छोड़ना ठीक नहीं होगा। लड़की ने तकलीफों से भरा एक दुष्कर जीवन जिया है और जी भी रही है, ऐसा जीवन यदि उसे भावुक आदर्श की ओर ले जाए तो क्या आश्चर्य! इसलिए प्रेम का भाव,

जो उस लड़की और प्रेम प्रकाश के भीतर अलग-अलग रूप में आकार लेता है, उससे उनका संवाद भी अलग-अलग होता है। यह भाव सार्वभौम है जो हर दौर के साहित्य में उपस्थित रहा है लेकिन जो चीज़ उसे असाधारण बना देती है वह है संवाद का प्रारूप। प्रेम और देह और संज्ञान के बीच एक ऐसा तनाव है जिसे प्रेम प्रकाश और लड़की हर वक्त महसूस करते हैं।

लड़की का प्रेम उसे मुक्त करता है और दाम्पत्य जीवन उसे समेट लेना चाहता है। इस कोण से यह उपन्यास एक युवा दम्पती की कहानी भी लगता है— युवा गुरु और उसकी पत्नी यानी अनाम लड़की की कहानी। यदि घटनाओं की अलहदगी को छोड़ दें तो यह अधिकतर भारतीय परिवारों की गाथा है— चेतना का दमन और देह का समर्पण, और प्रेम इसके प्रतिपक्ष को संरक्षण देता है, उसे विकसित और पल्लवित करता है। हमने दुनिया की बड़ी-बड़ी क्रूरताएँ देखी हैं, उस पर पर्याप्त विचार भी किया है लेकिन उन तमाम पारिवारिक क्रूरताओं को संवाद का विषय नहीं बनाया, जिसके वाहक हम खुद ही रहे हैं। क्या यह चुकी हुई बौद्धिकता नहीं है? सुरक्षा में जीने की आदत और चाहत नहीं है? गोविन्द मिश्र ने इस उपन्यास में पारिवारिक क्रूरताओं के कई पक्षों को रखकर उनसे संवाद करने का साहस किया है। इसमें युवा गुरु अपनी पत्नी को मारता-पीटता नहीं है, सास यद्यपि चिड़चिड़ी है, लेकिन भयानक स्त्री नहीं है और ससुर तो मानो गऊ है, लेकिन वे सभी उस स्त्री की प्रताड़ना का कोई अवसर नहीं छोड़ते, जो या तो बहू है या पत्नी। क्यों? क्योंकि प्रताड़ना का यह रूप कोई मुद्दा ही नहीं है। उपन्यास में एक जगह लड़की प्रेम प्रकाश से कहती है— “आपको यह समझने में थोड़ा मेहनत करनी होगी कि हमारे देश में अभी भी ऐसी कितनी जगहें, घर और परिवार हैं जहाँ लड़की को कूड़ा-करकट से ज़्यादा कुछ नहीं समझा जाता। हमारे जीने-मरने की चिन्ता नहीं की जाती।” परिवार के भीतर न दिखाई पड़ने वाली इन क्रूरताओं के घाव बहुत गहरे होते हैं। इतने लम्बे समय तक स्त्री की चेतना को विकसित नहीं होने दिया। उपन्यास में अपनी पत्नी की भावनाओं को ज़रा भी न समझने वाला युवागुरु देहप्राप्ति को अपना अधिकार समझता है और पहले एकान्त में और बाद में सार्वजनिक तौर पर इसकी घोषणा करता है। यह कितना शर्मनाक है, लेकिन है और न मालूम कब तक रहेगा?

इस उपन्यास का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है धर्म के पाखंड को रखने, बल्कि उसे चीरने की कोशिश। धर्म को हम एक ख़ास तरह से और ख़ास तैयारी के साथ बहस में उतार कर उसे स्वीकृत या अस्वीकृत तो करते हैं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में उसकी उपस्थिति को समझने की कोशिश नहीं करते कि कैसे वह लगभग आतंक की तरह हमारे व्यक्तित्व को निगल जाता है। पिछले दिनों धर्म पर, साम्प्रदायिकता पर बड़ी बहसें हुईं। प्राचीन भारत को, मध्यकाल को, धर्म की नैतिकता और अनैतिकता को सेक्यूलरिज़्म की अदालत में गवाही के लिए बुलाया गया। काश मनुष्यों को भी बुलाया गया होता और उसकी श्रद्धा के भीतर अवस्थित आतंक की पहचान की गई होती! उपन्यास में युवागुरु नौकरी छोड़कर ‘धर्म-कर्म’ के रास्ते पर चलने लगता है और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आती। वह धर्म के कर्मकांड का आधार लेकर

ही अपनी पत्नी को प्रताड़ित करता है और यही कर्मकांड निशा से उसके अवैध सम्बन्ध का कारक बनता है। धर्म की नैतिकता की गौरवगाथा प्रस्तुत करते हुए अक्सर पाखंड को उसका दुःखद प्रसंग करार दिया जाता है। जबकि वह उसका अविभाज्य हिस्सा है। लेखक ने यहाँ कोई श्रम नहीं रचा है। इस तरह उन्होंने दैनिक जीवन में उपस्थित धर्म की क्रूरता के कई पक्षों को उपन्यास में रखा है।

इधर हिन्दी में सेक्सुअलिटी पर पढ़ने की रुचि में इज़ाफ़ा हुआ है हालाँकि यह अभी अधिकतर अनुवादों पर ही निर्भर है। यदि इसकी पद्धति में हिन्दी के आधुनिक आख्यानों को भी शामिल किया जाए, तो बात और भी पुख्ता तरीके से की जा सकेगी। सेक्सुअलिटी पर काम करने वाले सुधीजनों के लिए एक कोण तो इसका उपन्यास में भी है। जो युवागुरु अपनी पत्नी को इतना घृणित लगता है कि उसके पास आने से ही पत्नी को मितली आने लगती है वही उपन्यास में, एक अन्य लड़की निशा की तमाम दैहिक आकांक्षाओं के केन्द्र में रहता है। निशा का उसके प्रति घृणा का भाव बिल्कुल नहीं है जबकि युवागुरु दोनों के समक्ष अपनी कामेच्छा का प्रदर्शन समान रूप से करता है। कहा जा सकता है कि पत्नी का नकारात्मक भाव युवागुरु को घृणित रूप में देखता है और निशा के भीतर चूँकि नकारात्मक भाव नहीं है इसलिए वह अपने सम्बन्ध को लेकर किंचित गर्व से भरी है। क्या इसका यह अर्थ है कि सौन्दर्य मन की इच्छाओं और कामनाओं का पूँजीभूत रूप है? सापेक्ष और निरपेक्ष सौन्दर्य की असमाप्त बहस इसके ज़रिये एक बार फिर शुरू हो सकती है। सापेक्ष और निरपेक्ष सौन्दर्य को केन्द्र में रखकर सेक्सुअलिटी पर विचार करें तो कई दिलचस्प परिणाम सामने आ सकते हैं।

इस उपन्यास की कथा में ज़्यादा फैलाव नहीं है, लेकिन घटनाओं को कई-कई कोणों से देखने का प्रयास ज़रूर है जो इसके शिल्प को नयापन देने के साथ-साथ कथा को गहराई भी देती है। एक दिलचस्प बात यह भी है कि उपन्यास के जो पात्र, अपनी सोच या हरकतों में, विशिष्ट हैं, उनके नाम हैं— प्रेम प्रकाश, युवागुरु, हरभजन, लेकिन जो बिल्कुल साधारण हैं उनका कोई नाम नहीं है, वे— वह, सास या ससुर हैं (निशा इस मामले में अपवाद है)। उनका नामहीन रह जाना कहीं-न-कहीं अधिसंख्यक जनों के व्यक्तित्वहीन रह जाने के गहरे अर्थ को भी सूचित करता है। व्यक्तित्वहीन रह जाने का सीधा अर्थ यहाँ बिना किसी राष्ट्रीय और सामाजिक पहचान के अपना जीवन गुज़ार देना है। उपन्यास अचानक एक निर्णय पर पहुँच कर ख़त्म हो जाता है। यदि यह पात्रों को उनकी इच्छित परिणति पर पहुँचाकर ख़त्म होता तो शायद बहुत नाटकीय लगता। अनाम लड़की एक निर्णय लेती है और उसके निर्णय के साथ ही उपन्यास समाप्त होता है। निर्णय लेना ही साधारणजनों की असाधारणता है। यह असाधारणता उपन्यास के शिल्प में भी है जहाँ पात्र घटनाओं का ब्योरेवार विश्लेषण करते हैं। समान घटनाओं को लेखक ने अपने पात्रों के ज़रिये कई-कई तरीके से देखने का जोखिम उठाया है। यह इस उपन्यास और उपन्यासकार दोनों की सबसे बड़ी ख़ासियत है।

62, वैभव नगर, दिधोरी, उमरेड रोड, नागपुर - 440 034

अप्रदुग्धा सर्वदुग्धा भगवान सिंह

ऋग्वेद की एक ऋचा में पेन्हाई हुई दुधारू गायों का वर्णन है, जो अशिष्वी हैं या जिनके बछड़े नहीं हैं, उनके स्तनों से दूध झरता आया है, फिर भी जिनका पूरा दूध निचुर नहीं पाया है और जो भरे हुए स्तनों के साथ शान्त खड़ी हैं। कामना की जा रही है कि वे चिर युवती बनी अपनी अमृत धारा को नीचे प्रवाहित करती रहें। अर्धर्च इस प्रकार है : आ धेनवो धुनयन्तां अशिष्वीः सर्वदुग्धाः शशया अप्रदुग्धा नव्यानव्या युवतयो भवन्तीः। यह घनघोर घिरी घटाओं का रूपकीय वर्णन है जो पीछे बरसती हुई आई हैं और छा गई हैं। इतना जल बरसाने के बाद भी जिनमें जल भरा हुआ है और उनसे अपने अमृतोपम जल बरसाने का अनुरोध किया जा रहा है। मुझे यह रूपक ऋग्वेद की ऋचाओं पर भी उतना ही घटित प्रतीत होता है। सर्वदुग्धा का वाचिक अर्थ है दुधारू गाय। अप्रदुग्धा का अर्थ है जिनको पूरी तरह दुहा नहीं गया है। आज तक इन ऋचाओं का पूरा दोहन नहीं हो सका। इनका ही दोहन करके व्याकरण, ज्योतिष, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र, जाने क्या क्या निकाला गया है। नैयायिकों, ऐतिहासिकों, नैरुक्तों, अध्यात्मवादियों, कर्मकाण्डियों के अनवरत प्रयत्न के बाद भी इनका बहुत कुछ बचा रह गया है। हाल के दिनों में तो ऐसे इतिहासकार भी हुए जिन्होंने इन्हें सचमुच गौरु समझ कर लट्ट मारना आरम्भ कर दिया और वे अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर भागती फिरीं। उनके प्रताप का आभास हमारे 'त्रिकालदर्शी' मुनियों को अवश्य रहा होगा, अन्यथा उन्होंने यह न लिखा होता कि वेद कमअवलों से डरता है कि यह मुझ पर प्रहार अवश्य करेगा—*बिभ्येत अल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।*

इसकी ऐसी शब्दावली की, जिसका अर्थ स्पष्ट न था की व्याख्या यूरोपीय प्रतिरूपों या कल्पित मूल रूपों से करते हुए इसको समझने का प्रयत्न किया गया और इससे इसकी कुछ गुत्थियाँ भी सुलझीं, परन्तु इसके बाद भी इसकी रहस्यमयता बनी ही रह गयी।

और फिर यह पता चलने पर कि ऋग्वेद में द्रविड़ और मुंडा परिवार में गिनी जाने वाली बोलियों के तत्व बहुत प्राचीन अवस्था से ही पाए जाते हैं और ये इसकी रचना आरम्भ होने से पहले से थे, फिर कुछ नयी और विचारोत्तेजक उद्भावनाएँ की जाती रहीं। परन्तु इतना सब होते हुए भी भाषा की विकासप्रक्रिया की दिशा में कोई काम नहीं किया गया।

हम पीछे काशीनाथ विश्वनाथ राजवाड़े के गहन वैदिक विमर्श (संस्कृत भाषेचा उलगाडा, या संस्कृत भाषा का खुलासा) का उल्लेख कर आए हैं जिसमें वह प्राचीनतम भाषा को लिंग, प्रत्यय, उपसर्ग से ही मुक्त नहीं सिद्ध करते हैं अपितु वचन से भी मुक्त एक अत्यन्त सुवाही भाषा बताते हैं। वह केवल यह तय नहीं कर पाते कि ये विकास किन प्रभावों अथवा किन दबावों के कारण हुए, इसलिए इसे नस्ली रूप देते हैं।

यदि हम अपनी बोलियों पर ध्यान दें तो उनमें एक ही क्रिया के सूक्ष्म भेद के लिए अलग-अलग शब्द मिलते हैं। उदाहरण के लिए, भोजपुरी में रोने के

भेदों के लिए बिलखल, बिलबिलाइल, अहकल, भोंकरल, चिघरल, सुबुकल, सिहिकल, कलपल, फेंकरल, चिंचिआइल, बिसूरल, बिलपल आदि, जिनकी अपनी अलग व्यंजनाएँ हैं। इनमें बिलपल संस्कृत के प्रभाव का परिणाम है। इनके अतिरिक्त यदि कोई छोटा बच्चा किसी बात पर ज़िद ठान कर रोता ही चला जाए तो उसके लिए 'रोहिआइल', किसी के रोने पर सहानुभूति ने होने पर 'टेसू चुआवल', कातर अवस्था में आँसू टपकने के लिए 'लोर टपकल' और असह्य दुख से तड़प के साथ रोने के लिए 'बुक्का फाड़ि' के रोवल जैसे अन्य प्रयोग चलते हैं। पहली अवस्था वह है जिसमें रोने की क्रिया के लिए कोई सामान्य शब्द नहीं है, परन्तु रोने के कारणों और पीड़ा तथा तरीकों को व्यक्त करने वाले विशेष शब्द हैं। ऐसी भाषा आवेगबोझिल तो होती है, विचार प्रवण नहीं। जहाँ से रोने के लिए सामान्य शब्द आ जाता है, उसमें विशेषण लगा कर बहुत अधिक शब्द बनाए जा सकते हैं। इस युक्ति से भाषा का बोझ नहीं बढ़ता क्योंकि वे विशेषण दूसरे शब्दों के साथ भी लग कर उनमें अर्थभेद पैदा करते हैं। परन्तु धातु-प्रत्यय-उपसर्ग की युक्ति अपनाकर यथेच्छ शब्दावली तैयार करने वाली भाषा में वैसी संवेद्यता नहीं होती जो अविकसित बोलियों में होती है, अतः बोलियों के माधुर्य की कविगण भी बार-बार प्रशंसा करते रहे हैं।

मनुष्य को अपने विकास के साथ नयी क्रिया, वस्तु या बोध के सूक्ष्म भेदों को प्रकट करने के लिए जिन युक्तियों का सहारा लेना पड़ा उनमें से पहला था दो शब्दों को जोड़ना, अर्थात् सामासिक पद बनाना। जैसे लग= पास का, सटा हुआ; और भग = भाग। विभाज्य वस्तु, फल, अनाज आदि की भागधारियों की संख्या के अनुरूप अलग अलग ढेरियाँ लगाना, बँटवारे का पुराना तरीका रहा है, अतः लग और भग दोनों के योग से लगभग अर्थात् आसपास निकला। लंग=किसी मुख्य से लगा या जुड़ा हुआ। लग्न, लांग, लांगूल, लिंग, लंगोट आदि इसी से बने हैं और लग, लंग-पाँव, लंगड़ा—जिसका एक पाँव सही न हो, अं. लेग, लीग, लेजी, लेजर, लेज़रली आदि भी इसी से निकलते हैं परन्तु कोशग्रन्थों में यह शृंखला न मिलेगी। अर या अल = चीरने वाला, छेदने वाला औजार या खन्ती। अल को लम्बे डंडे (हरीस) से जोड़ कर, उसमें जुआठ लगा कर पशुओं से खींचा जाने वाला यन्त्र या हल बनाया गया, तो जैसे वस्तुएँ जुड़ती हैं उसी तरह उनके बोधक पद भी जुड़ जाते हैं और लांगल यन्त्र के साथ उसका बोधक शब्द 'लांगल' भी उसी के साथ पैदा होता है। कहीं नयी परिस्थिति में जब पुराने शब्दभंडार से काम नहीं चल पाता तो, पुराने शब्द को जोड़ कर उसी तरह नयी संज्ञा तैयार की जाती है जैसे पुरानी चीज़ों को जोड़ कर नया आविष्कार किया जाता है।

जुड़ने की क्रिया के साथ काटने और तराशने की भी आवश्यकता होती है। यह काट-तराश शब्दों के साथ भी की जाती है। उनके सुसाध्य और सुयोज्य घटकों में बदला जाता है, अथवा ऐसे एकाक्षरी शब्द चुने जाते हैं जिनमें काट-तराश न हो या अल्पमत हो। इसी तर्क से विशेषता प्रकट करने वाले बहुत

से शब्दों या शब्दांशों को उपसर्ग के रूप में प्रयोग लाया गया। प्र = उड़ते हुए पते या पंख से उत्पन्न ध्वनि जो पर्ण- (1) पत्ता (2) पंख (3) उड़ान (4) उठान और (5) पतन या नीचे आने के भावों को व्यक्त करने के लिए प्र/प्रा/पर/परं के रूप में ग्रहण किया गया और इस तरह एक ही मूल के चार उपसर्ग आगे की उपसर्जनाओं के लिए निकल आए।

सू/चू— जिसका मूल अर्थ जल था, उसे सु के रूप में ग्रहण करने सुन्दरता या अच्छी तरह से भाव में प्रयोग में लाया गया। सम्=जल, समता, सुथरेपन और समीचीनता आदि का। उपसर्गों का आविर्भाव इसी तरह हुआ लगता है जिससे प्रत्ययविहीन भाषा की व्यंजना-शक्ति बहुगुणित हो गयी थी। इसी तरह कुछ प्रत्ययों का विधान सचेत रूप में किया गया। ये युक्तियाँ भाषा के क्षेत्र में नये आविष्कारों की सूचक हैं। ये आविष्कार वस्तु जगत में तदनु रूप घटित होने वाले छोटे-छोटे आविष्कारों के कारण और उनके समानान्तर हुए। दूसरे शब्दों में कहें तो उपसर्गों और प्रत्ययों का विधान सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी विकास की एक अभूतपूर्व सक्रियता से जुड़ा हुआ है। भारतीय भाषाओं में यह विकास केवल देववाणी में हुआ, अन्य बोलियों में नहीं, यह भी इस बात का प्रमाण है कि सभ्यता के विकास में अग्रणी भूमिका देवसमाज और देवभाषा की थी। इस तथ्य को वे विद्वान या तो समझ नहीं पाते या समझते हुए ओझल कर जाते हैं, जो भाषायी अध्ययनों का कूटनीतिक उपयोग करते रहे हैं और इसलिए भारतीय सभ्यता के निर्माण को कभी द्रविड़ जनों से और कभी मुंडारी समुदाय से जोड़ते रहे हैं।

मुंडा और द्रविड़ समुदाय की बोलियों में सूक्ष्म अर्थभेदक पदों का प्रयोग हमारी बोलियों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। मुंडारी में तो अर्थभेदकता इतनी अधिक होती है कि इसे उसका विशिष्ट गुण माना गया है। ऐसे दावे करते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि यह प्रवृत्ति तथाकथित आर्यबोलियों में भी पायी जाती है, भले मानक साहित्यिक भाषाओं में इसका ह्रास दिखायी दे। इससे एक क्रम बनता है: प्रकृति पर निर्भर समुदायों की बोलियाँ— कृषिजीवी समाज की बोलियाँ—मानक भाषाएँ— क्लासिकी भाषाएँ। कहें सामाजिक-आर्थिक-भाषाई विकास साथ-साथ होता है और इस विकासक्रम में सूक्ष्म अर्थ व्यंजक पर्यायों का ह्रास और व्याकरणिक घटकों का क्रमिक विस्तार होता जाता है। इस भिन्नता पर इस रूप में अब तक ध्यान इसलिए नहीं दिया गया कि आधुनिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन कुछ निराधार और आग्रहपूर्ण अवधारणाओं को सही ठहराने के लिए किए जाते रहे, अतः उन्हीं विशेषताओं को आर्य बोलियों तक में तलाश नहीं किया गया जिनको आर्येतर बोलियों की अभिन्न विशेषता माना जाता रहा।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान का इतिहास निहित कारणों से सरलीकरणों का इतिहास बन गया जिसके विवेचन में भाषा और समाज में तो कोई सम्बन्ध दिखाया ही नहीं गया, आर्थिक विकास के समानान्तर भाषाई विकास को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। ऐतिहासिक क्रम में होने वाले विकास को भाषाई विघटन और ह्रास के रूप में प्रस्तुत किया गया। विचित्र विडम्बना है। समाज विकास कर रहा है, भाषा का ह्रास हो रहा है और वह भी केवल भारतीय सन्दर्भ में और विद्वान लोग इसे शिरोधार्य कर रहे हैं। भाषा और समाज के सम्बन्ध को स्वीकार करते ही वैदिक समाज सभ्यता के शिखर पर पहुँचा सिद्ध होता, उसकी बर्बरता की छवि धूल में मिल जाती, बर्बरता की अवस्था में जी रहे तत्कालीन यूरोप से लेकर मध्यएशिया तक के बीच कहीं भी, इस भाषा का उदय नहीं दिखाया जा पाता और उस क्षेत्र की तलाश करनी होती जहाँ यह उन्नत भाषा विकसित हुई हो सकती थी। अतः भाषाविज्ञान यूरोपी वर्चस्वबोध

के लिए औचित्य गढ़ने की तिकड़मों का दस्तावेज़ बनता चला गया और हज़ारों भाषाविज्ञानियों का अकूत श्रम कूड़े की ढेर में बदल गया।

भाषा में सूक्ष्म अर्थभेदक पदों की अधिकता अविकसित सामाजिक-आर्थिक स्थिति में ही सम्भव है, जब अमूर्त संकल्पनाओं से किसी भाषाई समुदाय को जूझना नहीं पड़ता। हो भाषा का व्याकरण लिखने वाले एक विद्वान डीनी इस विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहते हैं, “जो लोग हो भाषा समझने लगते हैं उन्हें पता चल जाता है कि अर्थ की सूक्ष्म छटाओं को व्यंजित करने के लिए यह एक आश्चर्यजनक औजार है... फिर भी यह मानना होगा कि आधुनिक उद्योगविद्या की और साथ ही दूसरी ऐसी श्रेणियों की पुस्तकों के अनुवाद में यह भाषा समर्थ नहीं है, जिससे इन पहाड़ी और देहाती हो जनों का कभी पाला नहीं पड़ा।”

पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय पारिभाषिक शब्दावली के जो पर्याय गढ़े हैं वे भी बहुत सटीक नहीं हैं। अनुवाद के अपने अनुभव से हम जानते हैं कि एक भाषा की अवधारणाओं को दूसरी में सही सही अनूदित करना प्रायः कठिन और जब तब असम्भव होता है। उदाहरण के लिए, धातु रूट या मूल नहीं है, न ही उपसर्ग प्रीफिक्स है। इस तरह का दावा भारतीय भाषाविज्ञानी नहीं करते।

उपसर्ग अव्ययों की श्रेणी में आते हैं। इनमें लिंग, वचन और कारक के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं होता। वैदिक में उपसर्ग तीन रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। पहला है, बद्ध रूप जिनमें उपसर्ग किसी प्रातिपदिक से जुड़ा रहता है। उपसर्ग के इसी रूप से हम परिचित हैं, क्योंकि संस्कृत और आधुनिक भाषाओं में भी यह अनिवार्य रूप से बद्ध ही होता है, जैसे प्रतिमान, पराभव आदि। परन्तु वैदिक में उपसर्ग मुक्त या अपने प्रातिपदिक से पृथक् भी दिखायी देते हैं। उपसर्ग जिस शब्द से पहले आता था, उससे उसका सम्बन्ध नहीं होता। वह दूर के किसी शब्द विशेषण या कुदन्त से भी जुड़ सकता है। उदाहरण के लिए, *आ त्वा विशन्तु आशवः* में ‘आ’ और ‘विशन्तु’ के बीच सर्वनाम आ गया है। उपसर्ग प्रातिपदिक के पहले ही नहीं बाद में भी आता था; जैसे *इन्द्र इत् हर्यः सचा सम्मिश्रल आ वचोयुजा* में ‘आ’ उपसर्ग ‘सचा’ अर्थात् ‘सच’ के बाद में आया है और दोनों के बीच में क्रिया पद आ गया है जबकि ‘सम्मिश्रल’ अर्थात् सम्-मिश्र में वह ‘मिश्रल’ के साथ जुड़ा हुआ है।

संस्कृत व्याकरण में जिन 22 उपसर्गों की गणना करायी जाती है। वे सभी ऋग्वेद की भाषा में पाए जाते हैं। प्र (प्रपुंजती, प्रगर्धिनी); परा (परापरा निवृत्तिर्दुर्हणा वधीत्); अप (बाधमाना अप द्विषः); सं (संगथ; संगमेमहि; सं श्रुतेन); अनु (अनुमदाम; अनु द्यून; अनुपूर्व); अव (अवाभरतः अवयानमेषां); निस् (निष्टतक्षतः, निष्टुरः, निष्कृत); निर् (निरन्यतश्चिदारत); दुस् (दुष्टुतिः; दुष्टरं; दुःशंसः); दुर् (मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि प्छात्); वि (विजावा; वि पश्य; विप्र) आङ् (आङ्गूषो मर्त्येष्वा); नि (नि च धीमहि; आ नि पीदत सविता); अधि (सुतासो अधि बर्हिषि); अपि (अपि यन्ति); अति (मा नो अति ख्य आ गहि); सु (अस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति); उप (उप प्रयोभिरा गतम्); अभि (अभिष्टि, अभिद्रुहः, अभिपश्यति); प्रति (वीळू उत प्रतिष्कभे); परि (परिपन्थिनं; परिज्मान); उप (उपमा, उपमित्, उपाक)।

इसका अर्थ है कि संस्कृत के सभी उपसर्ग सीधे ऋग्वेद से लिए गए हैं और बाद में इनमें कुछ भी नहीं जोड़ा गया। क्या इसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता है; कि तकनीकी और सामाजिक-आर्थिक गतिविधियाँ कभी उससे आगे नहीं जा सकीं, जिस तरह ऋग्वैदिक काल में पहुँचा जा चुका था? इस पर अधिकारी विद्वानों को विचार करना चाहिए।

यह विचित्र लगता है कि ऋग्वेद नाम की एक ही कृति में संस्कृत का पूरा

भंडार समाहित है। किसी भाषा की समस्त कृतियों में जो प्रयोग होते हैं, वे उस भाषा का एक अंश मात्र होते हैं। बहुत कुछ बचा रह जाता है जिसे साहित्यिक कृतियों में स्थान ही नहीं मिल पाता। ऐसी स्थिति में समग्र संस्कृत साहित्य की भाषा-क्षमता किसी एक ही कृति में विद्यमान दिखाई दे तो इसका क्या अर्थ निकाला जाए? हम जिस नतीजे पर पहुँचते हैं वह यह कि (1) ऋग्वेदकालीन भाषा, जिसकी एक कृति ही संस्कृत की समग्र सम्पदा के समकक्ष हो, निश्चय ही संस्कृत की अपेक्षा बहुत अधिक समृद्ध थी; (2) कि उसका अंशमात्र ही ऋग्वेद में आ पाया था; (3) कि ऋग्वेदिक कवियों की रचनाओं का भी सर्वाधिक भाग उस महान प्राकृतिक आपदा में, प्रतिलिपियाँ आदि तैयार न हो पाने के कारण नष्ट हो गया, जिसका हम कई बार उल्लेख कर आए हैं। इसका प्रमाण यह है कि बहुत से ऐसे रचनाकार हैं जिनकी एक दो ऋचाएँ ही मिलती हैं और कुछ के नाम तो अर्धचर्च ही आएगा, जब कि उन रचनाओं में जो प्रौढ़ता देखने में आती है, उससे स्वतः प्रकट है कि इस कवि ने विपुल साहित्य लिखा होगा; (4) कि जिन कुलों की रचनाएँ उनके मंडलों में मिलती हैं, उनका भी बहुत कुछ बचाया नहीं जा सका था; (5) कि बाद की साहित्यिक और भाषाई गिरावट के बाद आस भाषा के पुनरुद्धार का प्रयत्न केवल ऋग्वेद को प्रमाण मान कर किया गया; (6) जहाँ ऋग्वेद के अव्ययों और प्रत्ययों आदि में शाब्दिक समानता है किन्तु आशयगत भिन्नता है— जैसे वृथा ऋ, अनायास, सं. व्यर्थ— वहाँ बाद के प्रयोक्ताओं को भ्रम का शिकार माना जा सकता है। इसे मराठी सहित दक्षिण की भाषाओं में तुर्की और फ़ारसी के शब्दों की अर्थभिन्नता के सहारे समझा जा सकता है, जिनमें शिकार का अर्थ टहलना, राजीनामा का अर्थ त्यागपत्र, तुपाक का अर्थ बन्दूक हो जाता है; (7) जहाँ बाद के लोगों ने कोई नया अव्यय गढ़ा है वहाँ सब कुछ वैदिक सामग्री पर आधारित है यद्यपि कुछ मामलों (ऊरी, ईषत्, जातु, आदि) अर्थ बहुत बदला हुआ है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऋग्वेद से ही यास्क का निघंटु (दुनिया का पहला समान्तरकोश) निकला; उसकी भाषा को समझने के प्रयास में निरुक्ति या व्युत्पत्तिशास्त्र का आरम्भ हुआ। उसी की सहायता से आस भाषा के पुनरुद्धार के प्रयत्न के अनेकानेक वैयाकरणों ने अपने विवेचन आरम्भ किए जिनका शिखरबिन्दु पाणिनि के शब्दानुशासन या अष्टाध्यायी में मिलता है, जिसमें संस्कृत का समस्त साहित्य लिखा गया। बोलियों से लेकर भारत की दूसरी भाषाओं को समझने में ऋग्वेद की भूमिका और ऋग्वेद को समझने में भारतीय बोलियों और इतर भाषाओं की भूमिका का सही आकलन करने की ओर तो कभी किसी का ध्यान ही नहीं गया।

¹Those who gain facility in understanding Ho will find the language a surprisingly apt instrument for expressing delicate shades of meaning... Of course the language is not equipped for translating works on modern technology nor on other categories with which these mountain and village dwellers have not grappled. J. Deeney, S.J. *Ho Grammar and vocabulary*, Xavier Publications, Chaibasa, 2002, p.ix.

ए-6 सिटी अपार्टमेंट, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-110 096
फोन: 011-22625094



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

रवीन्द्र वर्मा का दूसरा कहानी संग्रह। इस संग्रह में चालीस कहानियाँ सम्मिलित हैं। रवीन्द्र वर्मा ने अपनी कहानियों के लिए एक अनूठे रूपाकार को अपनाया। यह कहना अधिक शुद्ध होगा कि कहानियों की अन्तर्वस्तु ने ही अभिव्यक्ति के लिए एक 'स्वायत्त अनुशासन' अर्जित किया है। रवीन्द्र वर्मा ऐसी अभिव्यंजक विशिष्ट छोटी कहानियाँ रचनेवाले एक विरल कहानीकार हैं।

प्रस्तुत संग्रह की समस्त कहानियाँ एक गहरे अर्थ में मनुष्य के लिए छोटे-बड़े चक्रव्यूह निर्मित करती व्यवस्था को रेखांकित करती हैं। इस व्यवस्था के अनेक चेहरे हैं, मुखौटे तो अगणित। रवीन्द्र वर्मा आधुनिकता प्रगति और सामाजिकता आदि शब्दों को अपनी संवेदना के प्रकाश में पहचानना चाहते हैं। आसपास मौजूद धारावाहिक जीवन से कोई एक सूत्र सहेज कर वे किसी ऐसे 'सामाजिक सत्य' की बुनावट उद्घाटित करते हैं जिसकी छाया हमारे ऊपर मँडराती रहती है। छाया का यथार्थ और यथार्थ की छाया का मर्म निरूपित करती रवीन्द्र वर्मा की कहानियाँ अपनी मौलिकता के लिए लगातार चर्चा में रही हैं।

सांकेतिकता, संश्लिष्टता और श्लेषात्मकता के श्रेष्ठ लक्षणों से रवीन्द्र वर्मा ने रचनात्मक लाभ उठाया है। उनकी रचनाशीलता में स्वतःस्फूर्त 'अन्तःसम्पादन' है, इसलिए इन कहानियों में व्यक्त पंक्तियाँ जितनी दिखती हैं उससे अधिक विस्तृत वे हैं। 'पचास बरस का बेकार आदमी' रवीन्द्र वर्मा का एक महत्वपूर्ण कहानी-संग्रह है, पाठक भी ऐसा ही अनुभव करेंगे।

पृष्ठ: 136, मूल्य : 130 रु.



पचास बरस का बेकार आदमी

रवीन्द्र वर्मा

सिनेमा, नया सिनेमा : टर्टल्स कैन फ्लाई



कछुए उड़ सकते हैं! कुणाल सिंह

कुछ ऐसी फ़िल्में हैं, जिन पर लिखने का मन एक अरसे से रहा है। सोचा, चूँकि मल्टीप्लेक्स मालिकों और फ़िल्म निर्माताओं की अनबन की वजह से इस बीच कोई नयी फ़िल्म नहीं आई, तो क्यों न अपनी पुरानी गठरी खोली जाए! बहमान गोबदी की फ़िल्म 'टर्टल्स कैन फ्लाई' (Turtles Can Fly) मेरी प्रिय फ़िल्मों में रही है, उनकी ही 'अँ टाइम फॉर ड्रंकन हॉर्सेज़ (A Time for Drunken Horses)' की तरह। आज तक जितनी भी युद्ध विरोधी फ़िल्में बनी हैं, मेरे तई 'सिंडलर्स लिस्ट' और 'नो मेन्स लैंड' के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण फ़िल्म 'टर्टल्स कैन फ्लाई' ही है। चालीस वर्ष के आसपास के ईरानी कुर्द बहमान की यह तीसरी फ़िल्म है जिसे उन्होंने ईरान और ईराक़ सरकार के संयुक्त सहयोग से बनायी है। सहनिर्माता होने के साथ-साथ वे इस फ़िल्म के लेखक भी हैं। कुर्दिश भाषा में बनी 98 मिनट की यह फ़िल्म 10 सितम्बर, 2004 को सर्वप्रथम न्यूयॉर्क में रिलीज हुई थी। विदित हो कि सद्दाम हुसैन के पतन के बाद ईराक़ में बनने वाली यह पहली फ़िल्म है। बहमान ने फ़िल्म के लोकल के रूप में ईराक़ और टर्की के सीमाप्रान्त (नो मैन्स लैंड?) में बसे एक उजाड़ और ख़ामोश गाँव 'कनीबो' को चुना है। समय है 2003 का, जब ईराक़ पर अमेरिकी हमले के बादल मँडरा रहे थे और वहाँ के लोग अपने भविष्य को लेकर त्रिशंकु की स्थिति में थे; और यह महज़ मुहावरा नहीं, वाक़ई फ़िल्म के शुरुआती दृश्य (सीन-2) में ही एक कुर्द बुजुर्ग इस्माइल के मुँह से कहलवाया गया है— देखो सद्दाम ने हमारा क्या बना डाला। यहाँ बिजली-पानी-भोजन-स्कूल कुछ भी नहीं। उन्होंने हमें (त्रिशंकु की तरह-ले.) आसमान से यहाँ ला पटका है।

फ़िल्म के शुरु होते ही बहमान दर्शकों को एकबारगी अपनी गिरफ़्त में ले लेते हैं जब गाँव के लगभग हर घर का एक सदस्य खुले मैदान में गाड़े गये खम्भों पर टँगा हुआ अपनी-अपनी टीवी के एंटेनों को एडजस्ट कर रहा है। हर घर से 'थोड़ा दाँ-थोड़ा बाएँ' की आवाज़ आ रही है। टीवी पर आतीं युद्ध से सम्बन्धित ख़बरों के लिए मारा काटी मची हुई है। किसी को ठीक-ठीक जानकारी नहीं कि क्या युद्ध होगा? होगा तो कब? सद्दाम कहाँ है? बुश क्या कह रहा है? आखिर हमें करना क्या है? बहमान ने इस फ़िल्म में

बूढ़ों, औरतों और बच्चों को ही दिखाया है। पूरे परिदृश्य में एक भी जवान शास्त्र नहीं। वे सब कहाँ गये? क्या उन्हें युद्ध के ईंधन के रूप में झोंक दिया गया? धर्मवीर भारती का गीति नाट्य 'अन्धा युग' का स्मरण हो आए तो कोई आश्चर्य नहीं।

अपनी पहली फ़िल्म 'अँ टाइम फॉर ड्रंकन हॉर्सेज़' (2000 ई.) की ही तरह 'टर्टल्स कैन फ्लाई' में भी बहमान ने मुख्य रूप से बच्चों की एक टोली को अपना प्रतिपाद्य बनाया है। इन (ज़्यादातर यतीम) बच्चों का मुखिया है सोरान (सोरान इब्राहीम) जिसे सब सैटेलाइट कहते हैं। इस छोटी उमर (वह हद से हद चौदह-पन्द्रह साल का होगा) में ही वह सैटेलाइट स्पेशलिस्ट बन गया था, इस कारण उसका यही नाम पड़ गया। इलाक़े में जहाँ कहीं सैटेलाइट डिश इंस्टॉल करना होता है, उसे बुलाया जाता है। इसके लिए वह पैसे लेता है। इसके अलावा वह खेतों में दबाये माइन्स को भी निकलवाता-डिफ्यूज़ करवाता है। यह काम वह ठेके पर करता है और बच्चों (जिनकी एक बहुत बड़ी और उसके एक इशारे पर मर-मिटने वाली फ़ौज है उसके पास) से करवाता है व बदले में उन्हें बाकायदा मजदूरी दिया करता है। वह गाँव के 'जाहिल-गँवारों' के बीच खुद को तीसमार ख़ाँ समझता है तो इसकी कई वजहें हैं। मसलन, पूरे इलाक़े में उसी के पास साइकिल है जिसे उसने फेस्टून्स, रंग-बिरंगे फीतों और चकरधिनियों से सजा रखा है। इसके अलावा दूर-दूर तक सिर्फ़ वही है जो अँग्रेज़ी भी जानता है (हालाँकि यह उसकी बिल्कुल निजी मान्यता है, उसे 'हेलो मिस्टर हाउ आर यू' कहने तथा एकाध अँग्रेज़ी के शब्द भर ही याद हैं)। वह गाहे-माहे उन गँवई लोगों पर इसकी रोब भी गाँठता है, मसलन एक दृश्य में वह नक्शे में ईराक़ और अमेरिकी की दूरी को उँगली से माप कर कहता है— ज़्यादा दूर नहीं है। बहुत जल्दी, बहुत जल्दी ही यूएसए यहाँ पहुँच जाएगा। जब एक गाँववाला उससे 'यूएसए' का मतलब पूछता है तो वह चिढ़ जाता है— तुम यूएसए मतलब नहीं जानते? यूएसए मतलब अमेरिका-अमेरिका! तुमने ज़िन्दगी में कभी टाइटेनिक फ़िल्म देखी है? अमेरिका का मतलब तुम क्या जानो जी! अमेरिका मतलब टाइटेनिक। मतलब वाशिंगटन, सैनफ्रैंसिसको, बुश ली, ज़िनेदिन ज़िदैन!

सैटेलाइट धड़ल्ले से झूट बोलता है, बड़ा चढ़ाकर बातें किया करता है, अतिव्यस्त दिखता है, घोषणाएँ करता है, हर किसी के फटे में अपनी टाँग घुसा देता है। उसके पास हमेशा कुछ न कुछ कहने-सुनाने-बताने को रहता है और वह हमेशा चीख चीखकर बोलता है। इस्माइल जब उससे अपना एंटोना ठीक करने को कहता है तो वह बिदक जाता है— इस घटिया एंटोना से कभी भी तुम्हारी टीवी में फोटू ठीक से नहीं आएँगे। मैं क्रसम खाकर कहता हूँ कि तुम इस एंटोना के बूते हरगिज टीवी नहीं देख सकोगे। मैं कहता हूँ कि तुम लोग एक सैटेलाइट क्यों नहीं खरीद लेते मियाँ!

इसके बाद इस्माइल की शंका क्राबिलेगौर है— गाँव के बड़े-बुजुर्ग कहा करते हैं कि कुराने पाक में सैटेलाइट लगाना हराम है!

सैटेलाइट उसे कई तरह से समझाता है कि तुमलोग तो न्यूज़ चैनल देखोगे। कुरान में लिखा है कि सेक्सी और डांस चैनल कभी नहीं देखना चाहिए। न्यूज़ चैनलों की मनाही नहीं। सरगोली गाँव में मात्र बीस घर हैं फिर भी उनके पास सैटेलाइट है। तुम्हारे गाँव में तो सत्तर घर हैं बाप रे बाप! मैं कहता हूँ कि सब जने मिलकर खरीद लो जल्दी से, वरना तुम्हारे गाँव की क्या इज़्जत रहेगी भला!

बहमान ने अपने नैरेशन में इस तरह की ढेरों छूटें ली हैं। कुराने पाक में सैटेलाइट डिश और सेक्सी, डांस किंवा न्यूज़ चैनलों आदि का जिक्र आज बात-बात पर धार्मिक ग्रन्थों को जिस मनमाने ढंग से इंटरप्रेट किया जा रहा है उसे तो दर्शाता ही है, इससे ऊपर यह अपने टेक्स्ट में जिस इन्फोर्सेंस को क्रिएट करता है, वह उसे नवीनता और ताज़गी से भर देती है। मार्केस, इसाबेल अयेन्डे, कारपेन्तीयर, जूलिया काल्ज़ार आदि लातिनी अमेरिकी लेखकों के यहाँ जिस तरह की टेक्स्चुअल इन्फोर्सेंस है, 'टर्टल्स कैन फ्लाई' में ऐन उसी का वर्चुअल मेटामॉर्फोसिस है। चौपाल-मजलिशों में पुराने क्रिस्सागो अपने टेक्स्ट में ऐसी छूट (कहें फ्लाइट) लिया करते थे। बहमान को पता है कि उनके कैरेक्टर्स कैसी (और किस हद तक) फ्लाइट ले रहे हैं और इसकी लैंडिंग कहाँ होगी। दरअसल यहाँ 'कैसी' से ज़्यादा महत्वपूर्ण 'कैसे' हो जाता है, यानी कहन की भंगिमा और शिल्प ज़्यादा महत्वपूर्ण है न कि कथ्य। बहमान अच्छी तरह जानते हैं कि वे एक फ़िक्शन को रच रहे हैं और बहमान की फ़िल्में देखने वालों को भी यह ठीक उतना ही पता है। दोनों पक्षों (निर्देशक और दर्शक) के सामने फ़िक्शन के क्लॉजेज़ समान रूप से स्पष्ट हैं। फ़िक्शन की मूलभूत (और अनिवार्य) शर्त तो यही है कि इसका रचयिता और आस्वादक— दोनों ही इसे प्रथमतः और अन्ततः फ़िक्शन मानें। कल्पना फ़िक्शन का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। इस तरह यहाँ कल्पना को स्पेस देने के लिए क्रिस्सागो को किसी तरह के 'प्रत्यक्ष बहाने' की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसे पूरी छूट रहती है कि वह कल्पना की कितनी भी ऊँची उड़ान भरे। इस प्रकार रचयिता और आस्वादक दोनों एक दूसरे को अपेक्षाकृत मैच्योर ट्रीटमेंट देते हैं। मीडियम की बेहतर समझ से इन दोनों के बीच में एक दोस्ताना सम्बन्ध क्रायम हो जाता है।

ऊपर मैंने लातिनी अमेरिकी लेखकों का जिक्र अकारण ही नहीं किया। वे जादुई यथार्थवादी लेखक अपने प्रतिपाद्य में जिस 'देश-काल' को चुनते हैं, वह पश्चिम के लिए सर्वथा अपरिचित, इसलिए आश्चर्यजनक और कभी-कभी अविश्वसनीय लगता है। मार्केस, बेन ओकरी से लगाकर सलमान रश्दी, ओ.वी.विजयन तक ने ऐसी जगहों की ही कहानी कही है जो अभी संक्रमण (crisis) की स्थिति से गुज़र रही हैं— जहाँ नये का आगमन तो हो चुका है, लेकिन पुराना अभी विदा नहीं हुआ; और लेखक नये की सिफ़ारिश नहीं करता न पुराने से उसका दोस्ताना ही है— नये और पुराने के बीच एक सतत तनाव की

स्थिति कह लें। इस 'देश-काल' की मार्फ़त क्रिएटर एक ऐसी दुनिया से हमें रू-ब-रू कराता है, जो अपनी विशिष्टता में इतनी 'यूनीक' है जैसे कोई जादू, लेकिन उसे बख़ानने की भाषा और शैली यथार्थपरक ही है। अर्थात् मैजिक रियलिस्टिक कलाकार ऐसे लोगों की जुबान में अपनी कहानी कहता है जो हालाँकि हमारे ही देशकाल में रहते हैं लेकिन उनके अनुभव ऐसे हैं जो जातिवाचक कतई नहीं कहे जा सकते। अगर ऐसी किसी रचना (साहित्य, पेंटिंग, फ़िल्म आदि कला के किसी भी रूप) में भूत-प्रेत आते हैं तो यह किसी फैंटेसी के तहत नहीं, बल्कि ऐसे लोगों के तथाकथित 'सच्चे' अनुभवों के प्रकाशन के तौर पर, जिन्होंने भूतों को 'अपनी आँखों से' देखा है। कहें कि यह शिल्प ऐसे लोगों की कहानी कहता है जिनका 'भोगा हुआ यथार्थ' हमसे भिन्न है। निश्चित तौर पर हम चाहें तो इसे विशुद्ध फैंटेसी मानकर पढ़/देख सकते हैं, लेकिन यह ठीक वैसा होगा जब हम अपने बीच किसी पर ज़बरिया रोब गाँठें कि दुनिया में भूतों का अस्तित्व नहीं, तुम झूट बोलते हो। यह भी एक तरह की हेजेमनी ही है। और हम जानते हैं कि कम-से-कम कला के क्षेत्र में सबकी देखी-गुनी दुनिया के लिए बराबर का स्पेस है, सबके भोगे हुए यथार्थ के लिए जगह है। अवान्तर का ख़तरा उठाते हुए भी इस सन्दर्भ में चलते-चलते एक चीज़ और बता देना चाहूँगा, कि समस्त कलारूपों विशेषकर साहित्य और सिनेमा में ऐसे 'देश-काल' की खोज और उसकी प्रस्तुति कोई नयी बात नहीं। यह एक अरसे से होता आया है। और इससे जुड़ा जो एक ख़तरा है उसके शिकार भी लोग बहुत पहले से होते आए हैं। कभी-कभी किसी नये देशकाल की खोज करने वाला कोलम्बस रचनाकार अपने अनजाने ही कमेंटेटर की भूमिका अख़्तियार कर लेता है। बल्कि कमेंटेटर की जगह टूरिस्ट गाइड कहें तो बात ठीक बैठती है। वह पहली दुनिया (अमेरिका-यूरोप) के दर्शकों के समक्ष अपनी विषयवस्तु को अजायबघर की चीज़ बनाकर प्रस्तुत करता है। ऐसे में उसका प्रतिपाद्य निर्दोष नहीं रह जाता, उसमें कुछ लुभावने और गुदगुदाने वाले तत्त्वों की शमूलियत हो ही जाती है। कहना न होगा इसके पीछे अपनी विषयवस्तु को और-से-और सेलेबल उत्पाद बनाने की कुरूप मंशा काम करती है! साहित्य और सिनेमा से अगर एक-एक हालिया उदाहरण देना हो तो अरविन्द अडिगा का द मैन बुकर प्राइज़ से सम्मानित उपन्यास 'द व्हाइट टाइगर' और आठ ऑस्कर अवार्ड बटोरने वाली डैनी बोएले की फ़िल्म 'स्लमडॉग मिलियनेयर' स्टीक हैं। लेकिन इसके विपरीत बहमान ने जिस 'देश-काल' को चुना है उसमें न सिर्फ़ भयानक यथार्थ और बचे रहने की दुर्दम्य-अपराजेय जद्दोज़ेहद शामिल है, बल्कि इसके ऊपर छलकता एक तरह का 'ज़ील', अतिशय सुन्दरता, कोमलता (इस फ़िल्म में ऐसे-ऐसे लोकेशंस हैं कि यश चोपड़ा की भी आँखें चुँधिया जाएँ) भी। बल्कि सुन्दरता और कुरूपता का एक अनोखा सम्मिश्रण यहाँ फ़्रेम-दर-फ़्रेम मौजूद है। उदाहरण के लिए फ़िल्म का पहला ही दृश्य जहाँ एकदम नीले आकाश और सुरम्य वादी किसी का भी मन मोह लेने के लिए काफ़ी हैं, लेकिन जैसे ही हमें पता चलता है कि यहाँ एक बच्ची आत्महत्या करने आयी है तो यह सुन्दरता एकाएक बहुत ही भयावह हो जाती है।

इस फ़िल्म की खासियत है कि जितनी भी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ हैं, उन्हें बच्चों ने निभाया है, फिर भी इसे 'बच्चों की फ़िल्म' हरगिज नहीं



निर्देशक : बहमान गोबदी

कहा जा सकता। सैटेलाइट की उम्र चौदह-पन्द्रह साल है और वह ही वहाँ सबसे उम्रदराज बच्चा है, बाकी सब उससे छोटे ही हैं। पूरी फ़िल्म को वे ही डील करते हैं। जहाँ भी कुछ महत्वपूर्ण घटित होता है, उनके द्वारा ही सम्पादित होता है। बहमान की इस फ़िल्म में युद्ध का भी सर्वाधिक असर बच्चों पर पड़ा दिखता है। वे रातोंरात यतीम हो जाते हैं। रोज़ी रोटी का एकमात्र साधन खेतों में बिछे माइन्स हैं जिन्हें निकालने का ठेका सैटेलाइट ने लिया हुआ है। बड़े-बुजुर्ग सैटेलाइट की चिरौरी करते दिख पड़ते हैं कि वह कुछ लड़कों को उनके खेतों में काम पर लगा दे। बदले में सैटेलाइट एक तरफ़ उनसे पैसे लिया करता है दूसरी तरफ़ उन माइन्स को यूएन के कारिन्दों को बेच देता है। इस तरह उसे दोहरी आय हो जाती है और उसके बच्चों को रोटी-कपड़ा नसीब होता है।

जब गाँव में पन्द्रह रेडियो और पाँच सौ दीनार देकर एक सेकेंडहैंड सैटेलाइट डिश खरीदा जाता है तो वह उसे न सिर्फ़ इंस्टॉल करता है, बल्कि बड़े-बुजुर्ग उससे न्यूज़ की व्याख्या करने को भी कहते हैं। यहाँ एक और मज़ेदार दृश्य की सृष्टि की है बहमान ने। पूरे गाँव में सैटेलाइट की प्रसिद्धि है कि वह अँग्रेज़ी भी जानता है, लेकिन खुद सैटेलाइट को अपनी स्थिति का भली-भाँति अन्दाज़ा है। जब टीवी पर न्यूज़ आते हैं तो बड़े-बुजुर्ग सैटेलाइट को पकड़कर टीवी के आगे बिठा देते हैं कि देखकर बताओ बुश क्या कह रहा है। सैटेलाइट शर्त रखता है कि पहले उसे रहने को एक स्थायी निवास दिया जाए। उसकी शर्त मान ली जाती है। टीवी पर बुश को एक प्रेस कॉन्फ़्रेंस में बोलते दिखाया जा रहा है। सैटेलाइट कोशिश करता है और अन्त में राज़दार आवाज़ में कहता है, बुश कह रहा है कि कल बारिश होगी। सारे लोक हक्के-बक्के रह जाते हैं कि इसका क्या मतलब! सैटेलाइट कहता है कि वह ठीक कह रहा है, बुश लगातार कहे जा रहा है कि कल बारिश होगी। जब इस्माइल इसका मतलब पूछता है तो वह झुँझलाकर कहता है कि



तुम लोग नहीं समझोगे, वे लोग कोड में बातें कर रहे हैं।

युद्ध एक आपात स्थिति (emergency) है। युद्ध के दौरान न सिर्फ़ हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी प्रभावित होती है, बल्कि हमारा आसपास भी एक वहशतनाक सनसनी से भर उठता है। छोटे बच्चों की मानसिकता चूँकि सर्वाधिक संवेदनशील होती है, इसलिए युद्ध का सर्वाधिक प्रभाव भी उन्हीं पर पड़ता है। यह शारीरिक स्तर पर तो साफ़-साफ़ दिख जाता है (ज़्यादातर बच्चों के हाथ या पाँव नहीं हैं, वे विकलांग हैं, बच्चियों पर बलात्कार हो

चुका है, वे डरी सहमी सी दिखती हैं), मानसिक स्तर पर भी यह बराबर का असरकारी है। सैटेलाइट सबसे पहले इस इमरजेंसी को भाँप जाता है और उसी के पास इसकी सर्वाधिक प्रतिरोधक तरक्कीबें हैं। पूरी फ़िल्म के दौरान वह एक जल्दबाज़ी, हड़बड़ी में दिखता है। वह मस्जिद की माइक का इस्तेमाल उद्घोषणाएँ करने के लिए करता है, लोगों से सैटेलाइट डिश खरीदवाता है, इसके लिए वह खुद बाज़ार जाता है जहाँ हर चीज़ की क़ीमत में 'बूम' आया हुआ है (दुकानदार कहता है, भड़िया क़ीमत क्या पूछते हो! दुनिया में आग लगी है, क़यामत आने वाला है)। इसके अलावा चाहे गैस मास्क का इस्तेमाल करना सीखना हो या किराये पर हथियार लेकर प्रैक्टिस करना या बंकर कहाँ बनने चाहिए इसका निर्णय करना, सब जगह सैटेलाइट आगे है और वहाँ उसके मशवरे पर गौर किया जाता है, उसकी बात मानी जाती है। अपने बच्चों के प्रति उसमें एक तरह का 'फादरहुड' भी देखने को मिलता है : वह उनकी परवाह करता है, उन्हें हमेशा अपने साथ बनाये रखना चाहता है।

फ़िल्म के पहले ही दृश्य में जिस बच्ची को आत्महत्या करते दिखाया गया है (फ़िल्म फ्लैशबैक पद्धति में चलती है), वह पूरी फ़िल्म में उदास और निरुद्विग्न बनी रहती है। उसकी आँखें अजीब तरीक़े से फ्लैट हैं, वहाँ कभी कोई भाव नहीं रहता। उसकी पीठ पर हमेशा एक बच्चा (बमुश्किल डेढ़-दो साल का) लदा रहता है। हालाँकि सब उसे लड़की का छोटा भाई (उसका एक बड़ा भाई भी है— हैंगोव, जिसके दोनों हाथ नहीं हैं) समझते हैं लेकिन असल में वह उस लड़की का बेटा है। लड़की का बलात्कार हो चुका है और इसलिए वह उस बच्चे से पीछा छुड़ाना चाहती है जो उसे उसका भयावह अतीत भूलने नहीं देता। सैटेलाइट पहली ही नज़र में लड़की पर आशिक हो जाता है। सैटेलाइट की साइकिल की बाबत में पहले ही बता चुका हूँ कि कैसे वह अपनी साइकिल को सजा कर रखता है। तो देखा जाए तो पूरी फ़िल्म में ये दो ध्रुव हैं— लड़की का उदास चेहरा और सैटेलाइट की सजी धजी रंग-बिरंगी साइकिल। फिर एक तरफ़ तो सैटेलाइट इस युद्ध से अपनी दुकान चला रहा है, कमा रहा है, आबाद हो रहा है; वहीं इस युद्ध ने लड़की की पूरी दुनिया उजाड़ दी है।

स्मरण रहे कि लड़की का बलात्कार करने वाले फ़ौजी अमेरिकी नहीं, ईराकी थे। पूरी फ़िल्म में सद्दाम के प्रति ज़हर उगलने वाले संवाद हैं, यद्यपि इनका स्वर बहुत मद्धिम और परोक्ष है। फ़िल्म में जिन माइन्स को अमेरिकी क्रार दिया गया है, सत्य तो यह है कि तब अमेरिकी फ़ौज वहाँ पहुँची ही नहीं थी। ऐसे में मान लेना चाहिए कि ये ईराकी माइन्स ही हैं जिन्हें टर्की के साथ झमेले के दौरान दबाया गया होगा। फ़िल्म के लोकल के रूप में ईरान और टर्की के सीमाप्रान्त को चुना गया है, अर्थात् यह कुर्दिस्तान है जिसका अस्तित्व दुनिया के मानचित्र में भले न हो लेकिन प्रत्येक कुर्द के ज़ेहन में यही भूगोल रचा-बसा है। कुर्दों ने अपने इस भूगोल को अपने नाम करने के लिए टर्की, ईराक तथा अन्य देशों से जो लड़ाइयाँ लड़ी हैं, उसका अपना एक इतिहास है। इस प्रकार अमेरिकी फ़ौजियों के आगमन का कुर्दों ने स्वागत ही किया, कम-अज़-कम इस फ़िल्म की मार्फ़त तो हम यही देखते हैं, हालाँकि चूँकि यह जनमानस तक ही सीमित रहा, और मेरे ख़्याल से अभी तक इसका एकमात्र रिकार्ड यह फ़िल्म ही है, तो इसके बारे में प्रामाणिक रूप से अन्तिम सत्य की तरह कुछ भी कहना कठिन है। खासकर जब वे सद्दाम से भिड़े हुए थे तब जार्ज बुश प्रथम ने कुर्दों की मदद की थी, इसलिए बुश द्वितीय के प्रति उनका आशावान होना स्वाभाविक ही था। लेकिन इन सबका यह अर्थ कतई न लगाया जाए कि बहमान अमेरिकापरस्त हैं, या कि ईराक पर अमेरिकी हमले के हामी हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्तिगत स्तर पर उन्होंने

अमेरिका से मिले फ़िल्मोत्सव में शिरक़त के आमन्त्रण तक को टुक़रा दिया था। फ़िल्म में भी सद्दाम का विरोध तो है लेकिन ऐसे प्रत्येक स्थल पर बहमान खुद को दूसरे ध्रुव पर पहुँचने से बचा ले जाते हैं, खासकर फ़िल्म का क्लाइमैक्स अपने आपमें युद्ध मात्र का विरोधी है।

लड़की आग्रिन (आवाज़ लतीफ़) पहले भी कई बार आत्महत्या की कोशिश कर चुकी होती है और एकाधिक बार अपने बेटे से आज़ाद होने की भी। वह अपने बेटे रिसा (डेढ़-दो साल का बेहतरीन अभिनेता अब्दुल रहमान करीम, हालाँकि उसकी उम्र को देखते हुए उसे अभिनेता कहना अजीब लग रहा है) से जितनी नफ़रत करती है, दोनों हाथों से विकलांग उसका बड़ा भाई हैंगोव (हिरेश फ़ैज़ल रहमान) उससे उतनी ही मोहब्बत। आग्रिन के साथ बालात्कार के बाद पूरी फ़िल्म में यद्यपि हमेशा साथ-साथ रहते हैं, लेकिन दोनों भाई-बहन में कभी कभार ही बातचीत हो पाती है। ऐसे में रिसा उनके बीच पुल बनाता है। इसीलिए वह रिसा को कभी खोना नहीं चाहता, उसे हमेशा अपनी गोद से बाँधे रखता है।

सैटेलाइट का समयव्ययी हैंगोव भी दूसरे बच्चों की तरह खेतों से माइन्स निकाल कर अपना और बहन-भांजे का गुज़ारा करता है, हालाँकि (एक बार फिर याद दिलाऊँ) उसके दोनों हाथ नहीं हैं। एक दृश्य में उसे अपने मुँह से एक ज़िन्दा माइन को डिस्प्यूज़ करता दिखाया गया है। इस दृश्य को बहमान ने इतने ठण्डे तरीक़े से फ़िल्माया है कि देखने वालों की रीढ़ तक सिहर जाती है। हैंगोव दूसरे तमाम बच्चों की तरह सैटेलाइट का आधिपत्य स्वीकार नहीं करता और इस वजह से दोनों में मारपीट तक की नौबत आ जाती है। वह अपने सिर से प्रहार कर सैटेलाइट को ढहा देता है, लेकिन चूँकि दोनों एक ही जैसी ट्रेजेडी के शिकार हैं, अन्त-अन्त तक उनमें एक भाईचारे को पनपता भी हम देख लेते हैं।

हेंगोव भविष्यवाणियाँ भी करता है और उसकी समस्त भविष्यवाणियाँ सच साबित हुई हैं। दुर्भाग्यवश वह सिर्फ़ निकट भविष्य में घटने वाली अशुभ घटनाओं का ही पूर्वानुमान लगा सकने में सक्षम है। अपने घर से उड़ कर शरणार्थी बनने से पेश्तर उसे तीन बार दुःस्वन आए थे और तीनों ही उसके तथा उसके परिवारवालों के लिए अशुभ साबित हुए थे। लेकिन चूँकि वह अब एक ऐसे समय में जी रहा था जो युद्ध काल था, और शरणार्थी होकर वह खुली ख़तरनाक दुनिया में बेदरोदीवार जीने को अभिशप्त था, इसलिए इस बीच वह लगातार बुरे सपने देखने लगता है जो न सिर्फ़ उसके और उसके बच्चे-खुचे परिवार के लिए, बल्कि पूरी कौम, पूरे मुल्क और पूरी दुनिया के लिए अशुभ साबित होते जा रहे थे।

फ़िल्म की शुरुआत में ही सैटेलाइट को उसकी इस ख़ूबी (चाहें तो ऐब भी कह लें) के बारे में पता चल जाता है। एक ईरानी (पेशे से डॉक्टर) उसकी खोज में ईराक़ के कई-कई चक्कर लगा चुका है। जब सैटेलाइट गाँव के कुछ लड़कों के साथ सेकेंडहैंड सैटेलाइट डिश ख़रीदने जा रहा होता है तो उस डॉक्टर से उसकी दुबारा मुलाक़ात हो जाती है। इस्माइल जब यह जानकर कि वह ईरानी है, उससे पूछता है कि ऐसे ख़तरनाक दिनों में वह ईराक़ भला क्या करने आया है तो वह उसे हैंगोव की खोज के बारे में बताते हुए कहता है— वह लड़का बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह भविष्यवाणियाँ करता है। और आप लोग तो जानते ही हैं कि इन दिनों सबसे ज़्यादा पैसा कमाने का ज़रिया है लोगों तक सही ख़बरें पहुँचाना।

सुनकर इस्माइल अपना सिर पीट लेता है— अल्ला हो अकबर, क्या तुम सिर्फ़ इसलिए अपनी जान पर खेलकर ईरान से यहाँ आए हो?

डॉक्टर— तुम क्या बक रहे हो? अरे भइए दुनिया में युद्ध छिड़ा हुआ है। हर आदमी दुनिया-जहान की ख़बरें जानना चाहता है।

इस्माइल जब उसे सलाह देता है कि अगर तुम्हें न्यूज़ ही चाहिए तो तुम हमारी तरह एक सैटेलाइट क्यों नहीं ख़रीद लेते; तब डॉक्टर उसका मज़ाक़ उड़ाता है। कहता है कि चैनल वाले झूठ के पुलिन्दे हैं। झूठ-झूठ बोलकर



अपनी जेबें भरते हैं।

इस तरह बहमान ने भले ही रवा-दवाँ तरीक़े से (विस्तार में जाने की गुंजाइश भी नहीं थी), लेकिन आज के मीडिया पर सटीक टिप्पणी की है। बाद में हैंगोव अपनी भविष्यवाणियाँ सैटेलाइट को बताने लगता है। और उसकी सारी भविष्यवाणियाँ आश्चर्यजनक रूप से शब्दशः सच निकलती हैं। धीरे-धीरे सैटेलाइट को उस पर इतना यक़ीन हो जाता है कि एक बार जब वह उसे बताता है कि जल्दी ही अमेरिकी यहाँ पहुँच रहे हैं तो आनन-फ़ानन में सैटेलाइट मस्जिद की माइक़ से यह उद्घोषणा कर देता है कि बस अब चन्द ही घंटों में अमेरिकी विमान आ जाएँगे, सारे शरणार्थी खुद को बचाने के लिए पहाड़ी पर चढ़ जाएँ। उस वक़्त भी गाँव के बड़े-बुजुर्ग टीवी अगोरे बैठे थे। जब वे सैटेलाइट से पूछते हैं कि टीवी में तो ऐसा कुछ भी नहीं बताया, तो वह उन्हें कहता है— कुछ ही देर में टीवी में भी बताएगा। और वाकई ऐसा ही होता है। अमेरिकी विमान आते तो हैं लेकिन बम बरसाने के लिए नहीं, गुलाबी पर्चे बरसाने के लिए; जिस पर अमेरिकी सरकार का बड़बोलापन, ईराक़ की जनता के प्रति उसकी नक़ली सद्भावनाएँ अंकित होती हैं। बहमान ने अपनी तरफ़ से कोई टिप्पणी करने की बजाए पर्चे पर छपी सामग्री की भाषा इतनी अधिक विनम्र व अलंकृत दिखा दी है कि उसके पीछे छुपे मन्तव्य अपना मुँह उघाड़ देते हैं। अन्त में अमेरिकी टैंकों, मिसाइलों, फ़ौजियों का काफ़िला गुज़रते हुए दिखलाया गया है और किसी जीते-जागते (कुरान में हाराम माने गये चैनलों पर अक्सर दिखने वाले!) अमेरिकी को देखने के लोभ (जिसका संवरण सैटेलाइट के साथी नहीं कर पाते) से उदासीन होकर सैटेलाइट का मुँह फेर लेना ही अपने आपमें बहुत कुछ कह जाता है। बहमान को अलग से कोई फुट नोट जड़ने की दरकार नहीं पड़ती।

114, चन्द्रभागा, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

नयी दिल्ली- 110 067

मो.: 09718219006

कहीं धूप है कहीं चाँदनी सुशील सिद्धार्थ

समय के हर बदलाव के साथ रिश्ते भी अपना अन्तःकरण बदलते हैं। रिश्तों के तमाम रूपाकारों को हिन्दी-उर्दू कविता अपना विषय बनाती रही है। इन रचनाओं में एक गहरा आलोचनात्मक दृष्टिकोण तो है ही, साथ में कृतज्ञता और प्रेम जैसे जीवन-मूल्य भी हैं जिनकी आज ज़्यादा ज़रूरत है। युवा ग़ज़लकार आलोक श्रीवास्तव की पुस्तक 'आमीन' में ऐसी कई ग़ज़लें हैं जो माता-पिता के प्रति एक सघन भाव से भरी हैं। कमलेश्वर और गुलज़ार सहित कई सहृदय विवेकी जन इनकी प्रशंसा कर चुके हैं। 'अम्मा' और 'बाबूजी' पर आलोक की एक-एक ग़ज़ल है। वे लिखते हैं— 'चिन्तन, दर्शन, जीवन, सर्जन, रूह, नज़र पर छाई अम्मा/सारे घर का शोर शराबा सूनापन, तनहाई अम्मा/बाबूजी गुज़रे घर में सारी चीज़ें तक्सीम हुई तो/मैं सबसे खुशकिस्मत निकला मेरे हिस्से आई अम्मा।' माँ पर सबसे अधिक शेर मुनव्वर राना ने कहे हैं, उनकी एक पुस्तक का शीर्षक ही है— 'माँ'। मुनव्वर कहते हैं— 'किसी को घर मिला हिस्से में या कोई दुकाँ आई/मैं घर में सबसे छोटा था मेरे हिस्से में माँ आई।' मुनव्वर के ऐसे शेरों पर एक मुकम्मल लेख लिखा जा सकता है। आलोक श्रीवास्तव ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया है। 'बाबूजी' के लिए आलोक कहते हैं— 'घर की बुनियादें, दीवारें, बामो दर थे बाबूजी/सबको बाँधे रखने वाला खास हुनर थे बाबूजी/कभी बड़ा-सा हाथखर्च थे, कभी हथेली की सृजन/मेरे मन का आधा साहस आधा डर थे बाबूजी।' यह याद करने का सलीका आलोक को उल्लेखनीय बनाता है। उनसे हम रिश्तों की तर्जुमानी करती हुई ग़ज़लों की उम्मीद कर सकते हैं। और हाँ, बाबूजी या पिता नाम का व्यक्ति आज के समाज में प्रायः कितना विडम्बनापूर्ण जीवन जीने लगा है, इसे ज़हीर कुरेशी ने पहचाना है। उनके कुछ शेर— 'अप्रासंगिक हुए जबसे पिताजी/हैं कचरे की तरह तबसे पिताजी/हैं घर के बीच, फिर भी लग रहे हैं/कई बरसों से, गायब से पिताजी।' पिता के वात्सल्य को युवा ग़ज़लकार कुमार अनुपम ने इस शेर में एक नई तरह से व्यक्त किया है— 'जब से घर की चंचल नदियाँ गयीं पराए आँगन में/तब से केवल पत्थर-पत्थर है पापा की आँखों में।' पिता या बुजुर्गों की 'उपयोगिता' पर हमारे समाज में बहस जारी है। पिता की हारी-बीमारी या उसकी लाचारी को कितने लोग देख पाते हैं! नदियों, ऋतुओं आदि पर केन्द्रित कविता संचयन तो पर्याप्त छपे हैं। अब माता या पिता को केन्द्र में रखकर कुछ

कविता-संचयन छपें, जिनमें कम से कम हिन्दी-उर्दू की कविताएँ-ग़ज़लें-नज़में शामिल की जाएँ। यह काम भारतीय भाषाओं के स्तर पर हो सके तो और अच्छा।

इस बार की पुस्तकें : पेड़ों का समय (कविता; मानिक बच्छावत; समकालीन सृजन 20, बालमुकुन्द मक्कर रोड, कोलकाता; 100 रु.), कुछ अटके, कुछ भटके (यात्रा संस्मरण; मृदुला गर्ग; यात्रा बुक्स, 9 हेली रोड, नयी दिल्ली-1; 100 रु.), तमिलनाडु (यात्रा संस्मरण; डॉ. सुमित्रा शर्मा; दीपा प्रकाशन, गाजियाबाद, उ.प्र.; 150 रु.) होना अब ज़्यादा होगा (पुस्तिका; सं. अजेय कुमार; उद्भावना, एच 55, से. 23 राजनगर, गाजियाबाद; 20 रु.)।

वे फूल अब यहाँ नहीं हैं

'पेड़ों का समय' कवि मानिक बच्छावत का नया कविता संग्रह है। मानिक अपनी उन अभिव्यक्तियों के लिए परिचित हैं, जिनमें मूल मानवीय संवेदनाओं का सहज चित्रण होता है। मनुष्य, प्रकृति और यान्त्रिकी के त्रिकोण में सक्रिय जीवन को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा उनकी कविताएँ करती रहती हैं। यह संग्रह प्रेम प्रधान कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं को आकार देते हुए मानिक बच्छावत समृतियों का दरवाज़ा बार-बार खटखटाते हैं। वे व्यतीत और प्रकृति की छोटी बड़ी इकाइयों का स्मरण करते हुए किसी वर्तमान विसंगति की ओर ध्यान दिलाते हैं। जैसे 'कदम्ब के फूल', 'जुगनुओं का खेल', 'तालाब पर बैठना', 'वे फूल अब यहाँ नहीं हैं' जैसी रचनाओं में मानिक व्यतीत और विडम्बना का द्वन्द्व बताते हैं। 'वे फूल अब यहाँ नहीं हैं' में वे लिखते हैं— 'इन आँखों ने जो फूल देखे थे/महकते थे चहकते थे/वे कहीं और चले गए हैं/या मर गए हैं/वे अब यहाँ नहीं हैं।' इन्हीं कविताओं के बीच कहीं कहीं भावोच्छ्वास भी है जो 'सूखी पत्तियों का विलाप' को आकार देता है। इन प्रेम कविताओं में जीवन के कई रंग हैं जो सहजता से बिखरे हैं। पार्क में फुदकती चिड़िया पर कवि मुग्ध होता है, जाति देश, आदि की परवाह किए बिना। कई कविताएँ परिन्दों पर



हैं, जो प्रेम के कोमल स्वर को सहारा देती हैं। आप चाहें तो 'पहाड़ पर बुलबुलें' कविता की सपाटबयानी में प्रेम के विमर्श का एक और पक्ष भी देख सकते हैं— 'बुलबुलें निस्संग/विचरती हैं पर/वे बहेलियों से डरती हैं।' बहेलिए यानी पुरुष वर्चस्व में पगे अहेरी। एक कविता 'प्रेम' है, इसमें प्रेम को परिभाषा दी गयी है। 'वर्षा में सौन्दर्य', 'वसन्त', 'कच्चे आम की गन्ध' में इन्द्रिय बोध का प्रत्यक्ष प्रभाव है। 'बीत गयी सारी रात' यदि कुछ सांकेतिक होती तो ज़्यादा प्रभावशाली होती। मानिक जिन कविताओं में शब्दों के प्रत्यक्ष प्रभाव से बचे हैं वहाँ असरदार हैं। 'खोई हुई खुशबुएँ और 'फूलों में लड़कियाँ' इसकी गवाह हैं।

ये प्रेम कविताएँ व्यापक अर्थ में प्रेम को बताती हैं। अर्थात् प्रकृति और मनुष्य के बीच पसरा अपार संसार अपनी प्रेममयता में अपूर्व है। इसके साथ हमारा एक रिश्ता है— 'वे सुहानी लगती हैं/लगता है पेड़ और/उनका जन्म जन्मांतर/का रिश्ता है।' मानिक बच्छावत 'गूँजता है संगीत' कविता में अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति अर्जित करते हैं। इस संग्रह की कविताएँ शीतलता, छाँह और नमी का अनुभव करने के लिए पढ़ी जानी चाहिए।

सैर कर दुनिया की गाफ़िल

मृदुला गर्ग प्रतिष्ठित कथाकार हैं। उन्हें अच्छी तरह पता है कि किस भाव, दृश्य या विवरण को किस शब्द पद्धति में दीक्षित करना है। वे व्यंग्य भी लिखती हैं। इसलिए उनके किसी भी लेखन में कथारस और 'विट' की मौजूदगी महसूस की जा सकती है। 'कुट अटके कुछ भटके' मृदुला गर्ग का 'यात्रा संस्मरण' है और इसमें भी ये विशेषताएँ सहजता से समाहित हैं। 'भटकते गुज़रा ज़माना' भूमिका की तरह है। बाक़ी ग्यारह शीर्षकों में लेखिका ने देश और विदेश की यात्राओं का अनुवाद शब्दयात्रा में किया है। भूमिका की तरह लिखा गया अध्याय 'अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा' से जुड़े तमाम प्रश्नों को हल करता है। इसे पढ़ते हुए कई बार राहुल जी की शैली याद आती है जो परम घुमक्कड़ थे। यात्रा को अपनी तरह से बूझते हुए मृदुला कहती है, 'मैं यही मानना पसन्द करती हूँ कि असल चीज़ सफ़र है मंज़िल नहीं। भटकना है, पहुँचना नहीं। कल्पना है आँखों देखा ब्यौरा नहीं।'।

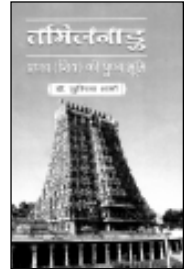
यात्रा के दौरान लेखिका का ध्यान अन्तर्यात्रा पर अधिक रहा है, इसीलिए स्थूल विवरणों, सूचनाओं और वस्तु परिगणन से अधिक उसका ध्यान तत्त्व दर्शन पर रहा है। एम्सटर्डम में वान गॉग संग्रहालय में विंसेंट वॉन गॉग के चौदह सन:प्लावर देख कर लेखिका की अनुभूति है— 'इतने नैराश्य के बाद जीवन का ऐसा विशद रूप।' मालदीव और सूरीनाम का यात्रा विवरण बेहद दिलचस्प हैं। सूरीनाम में ही यह प्रश्न उठा, 'गलत नहीं कहा था रवीन्द्र कालिया ने, मृदुला गर्ग से पूछो, साँप कब सोता है?' दिल्ली पर भी एक लेख है। जो दिल्ली के बारे में कुछ 'दिलजली' बातें हमें बताता है। जापान और दक्षिण भारत के कई स्थानों का वर्णन पढ़कर चित्त खिल उठता है। मृदुला की प्रशंसा उनकी भाषा के लिए की जाती रही है, जिसके कई रूप इस पुस्तक में दिखते हैं। 'रंग



रंग काजीरंगा' में वे लिखती हैं— 'सूरज ने प्रकाशवृत्त समेट लिया। सिंह सहोदरों की आकृति इतनी फीकी हो गयी कि दृश्य कम, अहसास ज़्यादा रह गया।' इसको पढ़कर अटकने व भटकने का जो सुख पाठक को मिलता है, वह अद्भुत है।

नक्षत्रों के द्वार

'तमिलनाडु' यात्रा संस्मरण है। इस पुस्तक का उपशीर्षक है— 'प्रणव (शिव) की पुण्यभूमि।' डॉ. सुमित्रा शर्मा ने एक आस्थावान बौद्धिक की तरह तमिलनाडु के सांस्कृतिक वैभव का साक्षात्कार किया है। इस यात्रा का प्रभाव उनके शब्दों से प्रकट होता है। लेखिका ने बड़ी विनम्रता से सारे तथ्यों को प्रस्तुत किया है। पुस्तक इन शीर्षकों में विभक्त है— चेन्नई, मामल्लपुरम, काँचीपुरम, रामेश्वरम, कन्याकुमारी, कुम्भकोनम्, गंगाईकोंडाचोलापुरम, तंजावुर, नवग्रह मन्दिर, चिदाम्बरम्, त्रिचनापल्ली, मदुरै और कोडाई केनाल। इन शीर्षकों को केन्द्रीय सूत्र में ढालते हुए लेखिका ने उपशीर्षक भी दिए हैं, जैसे 'चिदाम्बरम : नटराज के आनन्द तांडव की भूमि।' इस यात्रा वृत्तान्त को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और प्रमाणित तथ्यों के सहयोग से प्रस्तुत किया गया है। कई बार इसे पढ़ते हुए लगता है कि यदि किसी को तमिलनाडु जाना है तो इसका उपयोग सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह हो सकता है। प्रसिद्ध स्थानों के चित्र श्वेत श्याम में हैं। ये चिकने कागज़ पर रंगीन होते तो प्रस्तुति और आकर्षक हो जाती। डॉ. सुमित्रा शर्मा इतिहास की स्कालर रही हैं इसलिए उनका लेखन एक ख़ास अनुशासन/प्रविधि में ढला है। मनोभावों अथवा अन्य तरल अभिव्यक्तियों के लिए उनके पास अवकाश नहीं है। तमिलनाडु के विश्वविख्यात स्थापत्य का अत्यन्त सूक्ष्म ब्योरा लेखिका ने दिया है। कहीं कहीं डॉ. सुमित्रा शर्मा के भीतर बैठे इतिहासवेत्ता पर 'साहित्य' की छाया पड़ी है— 'चारों ओर मन्दिर ही मन्दिर। ऊँचे-ऊँचे गोपुर आसमान से बातें करते हुए। दिशाओं में प्रणवाक्षर ऊँकार का जाप—शिवोहम! शिवोहम!!' निश्चित रूप से 'तमिलनाडु' यात्रा संस्मरण पढ़कर पाठक अपने को समृद्ध अनुभव करता है।



व्योमेश की व्यंजना

पिछले कुछ समय में युवा कवि- गद्यकार व्योमेश शुक्ल ने जिस प्रकार अपनी रचनाशीलता और आलोचनात्मक प्रतिभा से हिन्दी जगत को प्रभावित किया है, वह प्रशंसनीय है। प्रभावित से ज़्यादा आश्चस्त किया है। आश्चस्त इसलिए कि जब 'कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है' का स्वर्ण युग चल रहा हो तब कविता की तरह कविता लिखना एक बड़ी चुनौती है। व्योमेश ने यह चुनौती स्वीकारी है। 'उद्भावना' पत्रिका ने व्योमेश पर एक पुस्तिका प्रकाशित की है 'होना अब ज़्यादा होगा'। इसमें व्योमेश की कुछ कविताएँ और गद्य सम्मिलित



मंटो की यादें ताज़ा हो गयीं— विश्वनाथ

राजपाल एण्ड सन्ज
1590, मंदरसा रोड, कश्मीरी गेट
दिल्ली

प्रिय रवीन्द्र जी,

‘नया ज्ञानोदय’ का मई-2009 का अंक अभी-अभी मिला और आज ही रात इसका अधिकांश भाग पढ़ भी लिया। एक बहुत ही अच्छे सुसम्पादित विशेषांक पर मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

मेरे लिये इस अंक की विशेष उपलब्धि थी कृष्ण चन्दर के दो लेख जिन्हें पढ़ते हुए मेरी आँखों के सामने अनेक दृश्य घूम गये। कृष्ण मेरे बहुत प्यारे, पुराने दोस्त थे और इस लेख के माध्यम से जहाँ बेदी और अश्व की चर्चा हुई, उनके भी अनेक प्रसंग जीवन्त हो उठे।

कृष्णजी ने अपने जिस घर का जिक्र किया, वहाँ कई बार जाने का भी अवसर मिला था। रेडियो स्टेशन पर कैसे उर्दू के सभी जानेमाने अदीब इकट्ठे हो गये थे उसकी भी एक अलग-सी कहानी है। वे सभी एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी भी थे और आत्मीय मित्र भी।

अश्वजी का तीन टाइपराइटर खरीदने वाला प्रसंग मुझे अश्व-राकेश विवाद की याद दिला रहा है। जब दोनों ने एक-दूसरे पर अनेक पत्र दागे थे। मेरी जानकारी में ‘मंटो’ पर जैसी पुस्तक अश्वजी ने लिखी, ‘मंटो : मेरा दोस्त मेरा दुश्मन’, सम्भवतः किसी अन्य भाषा में इस तरह से अपने समकालीनों पर किसी ने नहीं लिखा होगा। वे दिन भी कैसे थे... जो अब सपना हो चुके हैं।

इसे भी मैं एक विडम्बना मानता हूँ कि मुझे ‘मंटो’ से मिलने का पहला और आखिरी अवसर 1948 में मिला, जब पाकिस्तान बनने के बाद मैं लाहौर गया था। उन्हीं दिनों ‘मंटो’ पर बहुत बड़ा एक विशेषांक उर्दू में निकला था। उस विशेषांक की ‘मंटो’ की एक तस्वीर मेरी आँखों के सामने है जिसमें वे अपनी तीन बेटियों को अपनी बांहों में समेटे बैठे हैं।

मैंने ‘मंटो’ का सारा साहित्य पढ़ा है। उर्दू पढ़ने का अभ्यास कम होने पर भी उर्दू में ही किताबें पढ़ी हैं। मैं उन्हें विश्व के उच्चकोटि के कहानीकारों में मानता हूँ। आपने इस अंक में ‘मंटो’ पर बहुमूल्य अर्थवान् सामग्री दी है। देश के विभाजन पर बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन ‘स्याह हाशिये’ जैसी किताब अपनी ही मिसाल है। यह छोटी-सी पुस्तक भी अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित होने योग्य है।

मुझे वो भी दिन याद आ रहे हैं 1945-46 में जब लाहौर में अक्सर बेदी, कन्हैयालाल कपूर, कृष्ण और उनके अन्य समकालीनों से मिलने का मौका मिला था। उन्हीं दिनों ‘नए जाविए’ संकलन कृष्णजी ने सम्पादित किया था जिसकी हर कहानी चर्चा का विषय बनी थी।

भावुकता में कुछ लिख गया हूँ। आप इसी तरह ‘ज्ञानोदय’ के प्रत्येक अंक में ऐसी ही पाठ्य सामग्री दें जो अन्य किसी भी पत्रिका में आज उपलब्ध नहीं है।

आपका
विश्वनाथ

हैं। सम्पादन किया है अजेय कुमार ने। अजेय ने ‘अपनी बात’ में पते की बात कही है, ‘मात्र 28 वर्ष की उम्र और कविता में इतनी गहरी विचारशीलता, इतनी प्रामाणिकता और इतना गजब अन्दाजे बयान, सचमुच आप सम्मोहित हुए बिना नहीं रह सकते। बिना लाउड हुए वे एकदम निश्चल और पारदर्शी ढंग से कविता कहते हैं जो आपके दिल को छू लेता है।’ यह बड़ी बात मानी जाएगी कि व्योमेश पर विष्णु खरे, योगेन्द्र आहूजा और मंगलेश डबराल ने विस्तार और आत्मीयता से लिखा है। रचना यात्रा के पहले ही चरण में विष्णु खरे और मंगलेश डबराल द्वारा इतनी शानदार स्वीकृति पा जाना एक महत्त्वपूर्ण बात है। विष्णु खरे के अनुसार, ‘कहना होगा कि व्योमेश ने अपनी कविताओं में स्मृतियों को समकालीन यथार्थ की एक गहरी समझ और जानकारीयों से जोड़ने और उन्हें अपने यथार्थबोध का एक अतिरिक्त आयाम बनाने की जो प्राविधि ईजाद की है, वह मौलिक और सर्वथा उनकी निजी है।’ विष्णु खरे देवी प्रसाद मिश्र और चन्दन पांडेय की कहानियों को भी ‘भूलने के विरुद्ध’ व्याख्यायित करते हुए याद करते हैं। पुस्तिका में ‘अंकुर मिश्र स्मृति पुरस्कार’ लेते समय व्योमेश का स्वीकृति वक्तव्य प्रकाशित है। व्योमेश की कविताएँ ‘राजदूत’, ‘अनेक, फ़िल्में बनानी हैं’, ‘द्वीप पर सैलानी’, ‘बूथ पर लड़ना’, ‘स्कूल से भागने के अनेक कारण हैं’, ‘अपूर्ण’, ‘ज्यादा होना’, ‘चौदह भाई बहन’, ‘नया’, ‘बाइस हजार की संख्या बाइस हजार से बहुत बड़ी होती है’ और ‘चुप भी’ पुस्तिका में प्रकाशित हैं। असद जैदी की कविताओं पर व्योमेश का एक लेख है। व्योमेश की कविताओं को पढ़कर सचमुच कहने का मन करता है कि ‘नव पर नव स्वर’ वाला कोई विहंग रचना के आकाश में दिख रहा है।

पत्रिकाएँ

कथाक्रम

शैलेन्द्र सागर की निष्ठा और प्रतिबद्धता के कारण ‘कथाक्रम’ त्रैमासिक पत्रिका आज हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में गिनी जाती है। अभी इसका अप्रैल-जून 2009 अंक प्रकाशित हुआ है। अंक में ‘अम्मा’ शीर्षक से अत्यन्त संवेदनशील भावांजलि है। शैलेन्द्र सागर की माताजी का देहावसान 2 अप्रैल को हुआ। शैलेन्द्र सागर ने इस भावांजलि के बहाने एक स्त्री के जीवन संघर्ष को अपना प्रणाम अर्पित किया है। एक व्यक्ति, पत्नी, माँ आदि रूपों में भारतीय स्त्री किस तरह स्वयं को विभाजित करती है और फिर किस तरह एक बनी रहती है!

इस अंक में मधुरेश ने ‘देहाती दुनिया’ उपन्यास का ‘संस्मरण और स्मृति से तैयार आख्यान’ शीर्षक से विस्तृत पुनर्मूल्यांकन किया है। साहित्य अकादेमी सम्मान प्राप्त कथाकार गोविन्द मिश्र पर सुवास कुमार का लेख साधारणता में निहित विशिष्टता को रेखांकित करता है। विजयकान्त, क्षितिज



शर्मा, उषा ओझा, सुभाष चन्द्र कुशवाहा, सैली बलजीत की कहानियाँ पठनीय हैं। एक नये हस्ताक्षर के रूप में महेन्द्र सिंह की कहानी 'एक्वेरियम' शामिल है। इस कहानी पर कथाकार रवीन्द्र वर्मा की टिप्पणी महत्वपूर्ण है। अंक में शामिल रश्मि बड़धवाल और अमरीक सिंह दीप की लघुकथाएँ इस विधा के अनुकूल हैं। आइज़क सिंगर की एक कहानी का अनुवाद हसन जमाल ने 'कबूतर' शीर्षक से किया है। इस अंक की कविताएँ प्रायः पूर्वप्रकाशित जैसी लगती हैं। इस पक्ष पर ध्यान देने की आवश्यकता है। अन्य पठनीय सामग्री है 'भारत रंग महोत्सव: कितना प्रासंगिक' (राजेश कुमार) और 'साहित्य के आइने में लोकतन्त्र का चेहरा' (डॉ. राजकुमार)। (कथाक्रम; सं. शैलेन्द्र सागर; 3 ट्रांजिट हॉस्टल, वायरलेस चौराहे के पास, महानगर, लखनऊ-6; एक प्रति 25 रु.)।



सृजन संवाद

'सृजन संवाद' का अंक 9 भरपूर पठनीय सामग्री के साथ सामने आया है। रामशरण जोशी से दुर्गाप्रसाद गुप्त की लम्बी बातचीत का दूसरा हिस्सा इस बार प्रकाशित है। उन्होंने कई ज़रूरी बातें कही हैं। यह भी कि, '...मैं नए बदलाव के नए हथियारों, नए माध्यमों, नए रूपों का आविष्कार करूँ...'। 'वाद-विवाद संवाद के अन्तर्गत रामप्रकाश कुशवाहा, पी.एन.सिंह, और राजेश्वर सक्सेना

के गम्भीर लेख हैं। 'आलोचना' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह पर खास सामग्री है। इसी खंड में आलोचक शम्भुनाथ पर प्रफुल्ल कोलख्यान, मृणाल पांडेय पर किंगसन पटेल, विभूतिनारायण राय के उपन्यासों पर कृष्ण कुमार सिंह, अनामिका के उपन्यास (दस द्वारे का पींजरा) पर सन्ध्या सिंह, शेखर पाठक द्वारा सम्पादित पहाड़-13 पर सीमा और 'आस्थाओं का कोलाज' पुस्तक पर रमेश प्रजापति ने पर्याप्त समझदारी के साथ लिखा है। 'आधी दुनिया' में सुरेश पंडित और नरेन्द्र पुण्डरीक ने प्रायः जाने-पहचाने विचार व्यक्त किए हैं। '21वीं सदी : स्वप्न और यथार्थ' परिचर्चा महत्वपूर्ण है। अर्चना वर्मा, हरजीत अर्नेस्ट, चन्द्रेश्वर, अमिताभ खरे, मनोज कुमार श्रीवास्तव और श्रवण कुमार उर्मिलिया की कविताएँ पाठकों का ध्यान आकर्षित करती हैं। 'कथाक्रम' की विगत वार्षिक गोष्ठी पर एक विस्तृत आलेख ब्रजेश ने लिखा है। यह लेख इस बात का उदाहरण है कि साहित्यिक कार्यक्रमों और उनमें उठने वाली बहसों पर किस तरह लिखना चाहिए। सन्तोष श्रीवास्तव और आर.के.पालीवाल का यात्रा संस्मरण भी है। 'सृजन संवाद' जैसी कुछेक पत्रिकाएँ ही सच्चे अर्थों में साहित्यिक पत्रिकाओं का धर्म निभा रही हैं। (सृजन संवाद; सं. ब्रजेश; ई-64, साउथ सिटी, लखनऊ- 25, एक प्रति 50 रु.)।

गोदारण

बहुत कम पत्रिकाएँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़ने के बाद सँजोकर रखने का मन करता है। 'गोदारण' अलीगढ़ से प्रकाशित होने वाली एक ऐसी ही

पुस्तकें मिलीं



1. चन्दू भाई कामरेड नहीं रहे (कहानी), हरीश कुमार, विश्वभारती प्रकाशन, बरनाला, 50 रु.
2. मसीह मेरी मंजिल (कविता), शिवराज के. महेन्द्रा, आईएसपीसीके, दिल्ली, 95 रु.
3. ओ अबाबिल सुनो (कविता), गोपीनाथ कालभोर, राजेश्वरी प्रकाशन, गुना, 100 रु.
4. मेघदूत उवाच (पत्राचार), रवीन्द्रनाथ त्यागी, न्यू आर्ट प्रेस, देहरादून, 300 रु.
5. अन्तहीन (उपन्यास), देसराज काली, दीपक पब्लिशर्स, जालन्धर, 125 रु.
6. लय की लकीरें (कविता), रमेश गोस्वामी, रोशनाई प्रकाशन, पश्चिम बंगाल, 90 रु.
7. मणिराजी (कविता), सुमति दुबे, भारती पब्लिशर्स, फैजाबाद, मूल्य 300 रु.
8. जग जननी जानकी (कविता), सुमति दुबे, भारती पब्लिशर्स, फैजाबाद, 400 रु.
9. किस जीवन कहूँ कथा (कहानी), शशि प्रभा, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली, 200 रु.
10. दो कदम तन्हा (कहानी), प्रमोदकुमार सिंह, अयन प्रकाशन, नई दिल्ली, 150 रु.
11. मराठी साहित्य पुष्प परिमल (आलोचना), विद्या केशव चिटको, अतुल प्रकाशन, कानपुर, 250 रु.
12. चनसुरिया का सुख (कहानी), देवेन्द्रकुमार पाठक, अयन प्रकाशन, नई दिल्ली, 160 रु.
13. भारतीय प्रबन्धक पद्धति (प्रबन्धन), प्रमोदकुमार अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 150 रु.
14. दलित चिन्तन का विकास (आलोचना), धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 350 रु.
15. किसकी है यह कविता (कविता), अरिजीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 200 रु.
16. पंगा तथा अन्य कहानियाँ (कहानी), दिव्या माथुर, मेधा बुक्स, दिल्ली, 300 रु.
17. सागर में रेगिस्तान (गज़ल), अक्षय गोजा, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, 100 रु.
18. दहकते दिन (कविता), सीमा सोनी, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 100 रु.
19. प्रिम्ज (कविता), राजीव शर्मा, मेधा बुक्स, दिल्ली, मूल्य 100 रु.
20. होली गंगा (कविता), अम्बाशंकर नागर, भारतीय विद्या मन्दिर, चैन्नई, 200 रु.

पत्रिका है। इसका अंक-7 'क्रान्तिकारी महानायक भगत सिंह' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। अंक का सम्पादकीय बेहद विचारोत्तेजक है। ऐसा सम्पादकीय कम पढ़ने को मिलता है। पत्रिका ने भगत सिंह पर पूर्वप्रकाशित सामग्री का भी प्रासंगिक समावेश किया है। शिव वर्मा,



यशपाल, बटुकेश्वर दत्त, छबीलदास और कुलदीप नैयर के संस्मरण एक महान व्यक्तित्व की रोशनी हम तक पहुँचाते हैं। भगत सिंह पर सुभाषचन्द्र बोस, नेहरू, पटेल, मदनमोहन मालवीय, नम्बूदरीपाद, बालकृष्ण शर्मा, जितेन्द्रनाथ सान्याल और रामवृक्ष बेनीपुरी की श्रद्धांजलि टिप्पणियों को फिर से पढ़ना जैसे एक युग का स्मरण है। भगत सिंह के व्यक्तित्व और उनकी विचाराधारा का मूल्यांकन करते हुए वीरेन्द्र

सिन्धु, आलोक सिंह, शिव वर्मा, बी.टी. रणदिवे, रामविलास शर्मा, विप्लव सत्यार्थी, वागीश वत्स, भरत सिंह, एलवी मित्रेखिन के आलेख यह माँग करते हैं स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और संघर्ष जैसे शब्दों को फिर से समझा जाए। यह एक मुकम्मल पत्रिका है। प्रधान सम्पादक भरत सिंह और सम्पादक आलोक सिंह ने एक निश्चित ध्येय के अन्तर्गत सामग्री का चयन किया है। किसी भी विचारशील व्यक्ति को 'गोदारण' सरीखी पत्रिका पढ़नी चाहिए। आलोक सिंह ने अपने लेख (भगत सिंह का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और विचारधारा : कतिपय भास्वर पक्ष) में भगतसिंह के बहुमुखी व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए कुछ 'दलालों' को फटकार भी लगायी है। यह साफ़गोई उचित है। मॉलकल्लर और पूँजीवाद के नए अवतार पर मुग्ध कुछ युवा शायद जानना भी न चाहें कि इस मुल्क में कोई भगतसिंह भी पैदा हुआ था। (गोदारण; सं. आलोक सिंह; 1/220 ए, साकेत कालोनी, सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़; एक प्रति 100 रु.)।

कला दीर्घा

दृश्यकलाओं पर इस समय जो पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनमें 'कला दीर्घा' (अर्द्धवार्षिक) का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतिभाशाली युवा चित्रकार डॉ. अवधेश मिश्र के सम्पादन में इस पत्रिका का प्रत्येक अंक



एक अनूठा कला वैभव हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। अप्रैल 2009 का यह अंक भी इस बात को प्रमाणित करता है। सम्पादकीय में अवधेश ने यथार्थ और उसको देखने की प्रविधि पर कुछ सार्थक बातें कहीं हैं। यथार्थ और अतियथार्थ के साथ अन्तःयथार्थ की चर्चा से यह सम्पादकीय पठनीय बन गया है। पत्रिका में गौतम चटर्जी, कुमार अनुपम, डॉ. दिवा मिश्र, डॉ. जेबा

हसन, डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला, डॉ. अशरफ़ी एस भगत, स्वप्ना सतीश, जॉनी एम एल हेमराज, सुनीत चोपड़ा, बालमणि एम आदि के लेख

विभिन्न विषयों पर केन्द्रित हैं। अखिलेश के साथ पीयूष दइया की बातचीत इस अंक की सबसे अच्छी सामग्री है। अखिलेश कहते हैं, "चित्र बनाना मेरे लिए खेलने जैसा है। लुका छिपी वाला खेल, जिसमें आप छिपते हैं और पाते हैं। खोजते हैं और खोते हैं।" ऐसे साक्षात्कार प्रायः किसी भी लेख से ज्यादा अर्थवान सिद्ध होते हैं। कुमार अनुपम ने मनोज कचंगल की पुस्तक (120 कलाकृतियों के रंगीन चित्र सहित) 'डोर्स आफ परसेप्शन' पर लिखते हुए अपने भाषायी रचाव से कचंगल का खासा बचाव कर लिया है। कचंगल की चित्र पद्धति में निहित एकायामिता और पुनरुक्ति पर भी बात होनी चाहिए थी। सम्पादक ने जिस 'अन्तः यथार्थ' की बात की है, उसकी खोज यहाँ गायब है। अनुपम उदीयमान कला समीक्षक हैं, उन्हें अभी से आप वाक्यों में प्रमाण पत्र नहीं बाँटने चाहिए। पत्रिका में अनेक कलाकृतियों के रंगीन चित्र प्रकाशित हैं, जिन्हें कोई भी सँजोकर रखना चाहेगा। जो चित्र 'ब्लैक एंड व्हाइट' हैं उनका अपना अलग प्रभाव है। दृश्यकलाओं की विविधता का ध्यान करें तो थोड़ी-सा विस्तार और अपेक्षित है। फिर भी 'कला दीर्घा' जैसी उत्कृष्ट पत्रिका का निरन्तर प्रत्याशित होना ही अत्यन्त सुखद है। (कलादीर्घा; सं. डॉ. अवधेश मिश्र; 1/95, विनीत खंड, गोमतीनगर, लखनऊ; एक प्रति 150 रु.)।

निकट

'निकट' संयुक्त अरब अमीरात से प्रकाशित हिन्दी की पहली पत्रिका है। एक भिन्न परिवेश से हिन्दीसाहित्य की पत्रिका के लिए सामग्री जुटाना और उसे समयबद्ध प्रकाशन का रूप देना बेहद कठिन काम है। इस अर्द्धवार्षिक पत्रिका का तीसरा अंक कुछ खास सामग्री से युक्त है। सम्पादकीय में कृष्ण बिहारी ने



दलित विमर्श और राजनीति पर बेबाक बातें की हैं। उनका यह वाक्य गौरतलब है, "मैं वंचितों का पक्षधर हूँ और वंचित सभी धर्मों और सभी जातियों में हैं। आरक्षण उनके लिए होना चाहिए और वह भी आधुनिक युग में केवल एक पीढ़ी को मिलना चाहिए।" पत्रिका में विष्णु प्रभाकर से गोरखनाथ तिवारी की बातचीत है। लता शर्मा का उपन्यास अंश 'गली रंगरेजान' शीर्षक से है। मुशर्रफ़ आलम जौक्री ने 'आज का पाकिस्तानी उर्दू साहित्य' में पड़ोस की सक्रियताओं को समेटा है। इस अंक की केन्द्रीयता ही पास पड़ोस की रचनाशीलता को प्रस्तुत करना है। पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल के रचनाकारों अहमद सगीर सिद्दीकी, इन्तज़ार हुसेन, सज्जाद कबीर, महेश विक्रम शाह की कहानियाँ पठनीय हैं। सुदर्शन प्रियदर्शिनी (अमेरिका), सन्तोष दीक्षित, गोविन्द उपाध्याय, सूरजपाल चौहान, महेन्द्र भीष्म, ज्योति की कहानियाँ जीवन के विविध अनुभवों से भरी पूरी हैं। दिनेश मंजर, इन्दु श्रीवास्तव की गज़लें, अनामिका, अशोक वाजपेयी, प्रतीक मिश्र आदि की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। प्रभु झिंगरन ने 'तीसरी कसम' फ़िल्म की समीक्षा की है। समीक्षा अच्छी मगर संक्षिप्त है। जब हम फ़िल्म की समीक्षा में जाते हैं तो इसे लेख की तरह लिखना चाहिए। हमारे यहाँ फ़िल्म पर ठीक से लिखा ही कितना जाता है।

उसने कहा था...



आप जानते ही होंगे कि ज्यॉ पॉल सार्त्र ने नोबल पुरस्कार को आलू का बोरा कहकर ठुकरा दिया था। आप यह भी जानते होंगे कि प्रसिद्ध कथाकार गार्सिया मारक्वेज़ को जब यह खबर मिली कि उन्हें नोबल पुरस्कार दिया जा रहा है तो उनकी प्रतिक्रिया थी कि कोलम्बिया जैसे एक छोटे से देश में रहकर ऐसा पुरस्कार पाना उनके जीवन की एक दुर्घटना है। मलयालम लेखक पोट्टेकाट के जीवन पर फिल्म बनाने जब एक कैमरा यूनिट उनके गाँव पहुँची तो उन्होंने यह कहकर उसे भगा दिया कि वे लोग उन्हें शोहरत देकर गाँव के सरल जीवन में मामूली लोगों के बीच उनकी स्वाभाविक जीवन लय को बिगाड़ देंगे।

विजय कुमार, यात्रा, जून 2009



‘निकट’ पत्रिका थोड़ा-सा और अनुशासन जुटा ले तो बेहतर हो। फिर भी, कठिन परिस्थितियों से उभरता यह संकल्प प्रशंसनीय है। (निकट; सं. कृष्णबिहारी; पो.बा. 52088, अबूधाबी, यूएई; एक प्रति 30 रु.)।

हिमालिनी

यह हिन्दी पत्रिका नेपाल से प्रकाशित होती है। हिन्दी के प्रचार प्रसार की दृष्टि से यह पड़ोसी पत्रिका स्वागत योग्य है। ‘हिमालिनी’ प्रमुखतया समाचार पत्रिका है। बारहवें वर्ष के अंक 4 में वर्तमान राजनीतिक गतिविधियों का मासिक पत्रिका के दृष्टिकोण से विश्लेषण है। ‘तीसरी औरत’ में संजीता वर्मा महिला सशक्तिकरण की पक्षधरता में अपने तर्क देती हैं। डॉ. नवीन मिश्रा ने नेपाल की शासन प्रणाली पर प्रासंगिक लेख लिखा है। श्यामा, मनोज कुमार, वीणा सिन्हा, योगेन्द्र प्रसाद साह, अरुण ठकुरी आदि के लेख विविध विषयों पर हैं। कुछ लेख भारत की राजनीति पर भी हैं। मीडिया, पर्यटन, खेल, मेकअप, स्वास्थ्य, संस्कृति, समाज, फैशन के साथ कहानी और कविता का भी समावेश है। ‘हिमालिनी’ पत्रिका नेपाल की खबर देने के साथ पास-पड़ोस का ध्यान भी दिलाती है। (हिमालिनी; सं. डॉ. संजीता वर्मा; पो.बा.नं. 8241, अनामनगर, काठमांडू, नेपाल; एक प्रति 20 रु.)।



युग स्पन्दन

अतिथि सम्पादक डॉ. विजय कुमार महांति के सम्पादन में ‘युग स्पन्दन’ त्रैमासिक पत्रिका का नया अंक ‘समकालीन ओडिया कविता विशेषांक’ के रूप में प्रकाशित हुआ है। भ.प्र. निदारिया ने सम्पादकीय में समकालीन ओडिया कविता के युगबोध को रेखांकित किया है। इसके पश्चात प्रायः सभी महत्वपूर्ण समकालीन

कवियों को उनकी कविताओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रमुख हैं— अजित पात्र, अनिमा दाश, अपर्णा महान्ति, अमरेश पटनायक, अलेख चन्द्र पट्टियारी, उमेश पत्री, कृष्ण कुमार महान्ति, तीर्थानन्द सिंह, प्रमिला शतपथी, ब्रजनाथ रथ, रमाकान्त रथ, विनोदिनी पात्र, संयुक्ता राउत, सीताकान्त महापात्र। पत्रिका को पढ़ने से ओडिया कविता का आस्वाद मिल जाता है। हिन्दी अनुवाद अच्छे और सम्प्रेषणीय हैं। (युग स्पन्दन; सं. म.प्र. निदारिया; 10841/44, मानकपुरा करोलबाग, न. दिल्ली; एक प्रति 20 रु.)।

अनन्तिम

हसन जमाल द्वारा सम्पादित पत्रिका ‘शेष’ की खासियत यह है कि हिन्दी और उर्दू से एक जैसा प्यार करने वाले किसी भी पाठक के लिए इसमें बहुत कुछ होता है। इसके ताज़ा अंक (अप्रैल-जून’ 09) में खलील तनवीर ने एक दिलचस्प टिप्पणी लिखी है। उनके अनुसार ‘...किसी ज़मीन में कोई शाइर ग़ज़ल कहता है तो दूसरे शाइर उसी ज़मीन में ग़ज़ल कहना बुरा नहीं समझते...’। जैसे नासिम काज़मी की एक ग़ज़ल का मतला है— ‘कोई और है नहीं तू नहीं मिरे रूबरू कोई और है/बड़ी देर में तुझे देख कर ये लगा कि तू कोई और है।’ इस ज़मीन पर नसीर तुराबी, सलीम कौसर, हसन अब्बास रज़ा और मुसव्विर सब्ज़वारी आदि ने ग़ज़लें कहीं हैं। पहले नसीर तुराबी के दो शेर— ‘यही शहर, शहरे क्रार है तो दिले-शिकस्ता की ख़ैर हो/मिरी आस है किसी और से, मुझे पूछता कोई और है/हैं मुहब्बतों की अमानतें यही हिज़रतें यही कुरबतें/दिए बामो दर किसी और ने तो रहा बसा कोई और है॥’ अब सलीम क़ौसर के दो शेर— ‘मैं किसी के दस्ते तलब में हूँ तो किसी के हफ़े दुआ में हूँ/मैं नसीब हूँ किसी और का मुझे माँगता कोई और है/तुझे दुश्मनों की ख़बर न थी मुझे दोस्तों का पता न था/तेरी दास्ताँ कोई और थी मिरा वाक्रिआ कोई और है॥’

बी-2/8 बी, केशवपुरम, लारेंस रोड
नयी दिल्ली - 110 035
मो.: 09868076182

जगदीपजी की उत्तरकथा

राजेन्द्र लहरिया

छोटे-बड़े मकानों की कतार में एक मकान अलग दिखाई देता है— धुँधला और धूसर! जैसे लिखावट से भरे किसी पन्ने के बीच पानी की कुछ बूँदें गिर गयी हों और धुली हुई स्याही का एक धब्बा बन गया हो! जहाँ तक मकान नज़र आते हैं वे सब रंगे-पुते, पेड़-पौधों से हरे-भरे और भीतर-बाहर की आवाज़ों-आहटों से भरे-पूरे हैं। मनुष्य और मनुष्य के द्वारा की आवाज़ें-आहटें! किसी के भीतर से बच्चों के खेलने-कूदने की आवाज़ें आ रही हैं तो किसी के भीतर से किसी छोटे बच्चे के रोने की। पर उन सब मकानों के बीच यह मकान आवाज़ और आहट विहीन है। अलबत्ता उन सभी मकानों की तरह यह मकान भी एक घर है और उन सबमें रहने वाले आदमियों की तरह इसमें भी रहता है एक आदमी, एकमात्र आदमी जिसका नाम है जगदीप प्रसाद वर्मा।

जी हाँ, जगदीप प्रसाद वर्मा रहते हैं इस बेआवाज़ घर में। जगदीप प्रसाद वर्मा से जब आप मिलेंगे तो उन्हें इस तरह पाएँगे— उम्र करीब 55 साल। लम्बा छह फुटिया दुबला-पतला शरीर। सिर पर बेरौनक बालों और सफ़ेद बढ़ी हुई दाढ़ी के साथ आँखों पर लगभग गाँधी-चश्मा पहने एक सँवलाया चेहरा।

जगदीप प्रसाद वर्मा के परिचित और मोहल्ले वाले उन्हें प्रायः 'जगदीप जी' कहते हैं। कुछ लोग 'जगदीप बाबू' भी कह देते हैं और कुछ 'जगदीप साहब' भी। पर जगदीप जी को अपने नाम के साथ 'बाबू' या 'साहब' जोड़ा जाना सख्त नापसन्द है और ऐसा करने वाले को वे प्रायः टोक देते हैं; इसलिए 'जगदीप जी' लोगों की ज़ुबान पर चढ़ गया है।



यह दिसम्बर मध्य की, आसपास के पेड़ों पर चिड़ियों के लौटने की चहचहाहट से आबाद सर्द और सलेटी शाम है। जगदीप जी घर के भीतर हैं। अपने कमरे में। अपनी कुर्सी पर। अकेले। कमरे में दो ही कुर्सीयाँ रही आयी हैं— एक अरसे से। प्लास्टिक की बुनाई वाली लोहे के पाइपों से बनी कुर्सीयाँ! एक कुर्सी पर वे बैठते हैं और दूसरी किसी आने वाले के लिए पड़ी रहती है। दोनों कुर्सीयाँ लगभग आमने-सामने। वे जिस कुर्सी पर बैठे हैं, उसकी पिछाड़ी वाली दीवार में चुनी पत्थर की अलमारी में उनकी पसन्दीदा किताबें करीने से लगी हैं। उसी अलमारी के ऊपरी वाले खाने में, किताबों से कुछ जगह बचा कर, किसी मिश्र धातु की ढलाई से तैयार दो अंडाकार गोलाकृतियों को जोड़कर बनाया गया एक कलापूर्ण फ्रेम रखा है, जिसमें दो फोटो जड़े हैं। यह फ्रेम उन्होंने करीब पच्चीस साल पहले ग्वालियर मेला से खरीदा था। मेला में घूमते हुए अचानक उनकी निगाह 'आर्ट गैलरी' नाम की एक दुकान में रखे सामान की ओर गयी थी तो वे दुकान में पहुँचे थे। वहाँ किसी धातु की ढलाई से निर्मित सॉवली-ताँबई रंग की कई कलात्मक वस्तुएँ थीं— तरह-तरह के मूर्तियाँ, खिलौने, शो-पीस, बर्तन, ढोलक, बाँसुरी और फ्रेम

आदि। उन्हें यह फ्रेम इसलिए पसन्द आया था कि उसमें दो फोटो लगाये जा सकते थे— एक साथ, फिर भी अलग-अलग— अगल-बगल, एक ही फ्रेम के भीतर। वे इसे खरीद लाये थे और उन्होंने अपने दोनों बेटों के फोटो, फ्रेम के साइज के हिसाब से बनवा कर इसमें मढ़ दिए थे। और यह फोटो-फ्रेम उनके कमरे में उनकी कुर्सी के पीछे अलमारी के एक खाने में तब से ही मौजूद रहा आया है। और इसमें मौजूद उनके दोनों बेटों के फोटो उन्हें उनके बचपन के चेहरों की याद दिलाते रहे आये हैं।

पर इधर कई दिनों से जगदीप जी उस फोटो-मढ़े फ्रेम पर निगाह डालते हैं तो वे वहाँ देखते हैं कि उनके बेटों के चेहरों में मौजूद बचपन गायब हो गया है! और यह देखकर वे भौचक्के रह जाते हैं।

जगदीप जी ने आज अभी हाल उस फ्रेम पर निगाह डाली है और...

...और इस वक़्त जगदीप जी 'अपना चेहरा' देख रहे हैं— किसी दर्पण में नहीं, अपनी आँखों में...

उत्तरकथा का आदिपाठ

...गाँव में घर था। ककड़ा ईंटों का बना, डेढ़ हाथ चौड़ी दुछल्ली दीवारों पर खड़ा, पटियों पर चूने की छत से पटा। दो मढ़ा, एक तिबारा, तीन कोठरियों, दो पौरों और गोबर से लिपे आँगन वाला। घर में माँ थीं, पिता थे और घर पर काम करने वाला हलवाहा था। माँ को जगदीप जी 'अम्मा' कहते थे, पिता को 'कक्का'। हलवाहे का नाम छीता था। पिता बीमार रहते थे इसलिए घर-बाहर की सारी देखरेख का जिम्मा अम्मा के ऊपर था। छीता तार-खेत, हल-बबर, बैल-भैंस, सानी-पानी के काम के लिए था।

...उस दिन अभी साँझ का झुटपुटा ही था कि आसपास के आदमियों—औरतों का घर पर जमावड़ा होने लगा था— कक्का जहाँ लेटते थे— उनकी खाट के आसपास। झुटपुटा देखते-देखते अँधेरे में तब्दील होता जा रहा था और छीता गाड़ी में पुआल बिछा कर पाल कसने लगा था। पाल में उसने गद्दा बिछाया था। उसके बाद तीन-चार आदमियों ने कक्का को खाट से उठाकर गाड़ी में बिछे गद्दे पर लिटा दिया था। अम्मा कक्का के सिरहाने बैठ गयी थीं। जगदीप जी अम्मा के पास उनकी बगल में। अम्मा ने एक हाथ में जलती लालटेन पकड़ी हुई थी और दूसरे हाथ से वे कक्का की छाती पर हाथ फेरती जा रही थीं। छीता ने बैल लाकर गाड़ी में नठे और वह उनकी पगहिया हाथ में पकड़े गाड़ी की आगे वाली पटरी पर आ बैठा था। इसके साथ ही बैल, गाड़ी को खींच कर ले चले थे।

धीरे-धीरे बैलगाड़ी गाँव बाहर जा पहुँची थी। गाँव के बाहर रात थी— काली, अँधेरी और डरावनी— चारों तरफ़ सूनेपन से भरी। उस वक़्त लग रहा था कि जैसे समूचा संसार सूना हो, जिसमें एक बैलगाड़ी कच्चे धूलभरे रास्ते पर चल रही थी— आदमजाद की आवाज़ के बिना। अगर कोई आवाज़ थी तो वह बैलगाड़ी के पहियों के कच्चे ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलने की थी और उसी के साथ-साथ चल रहे बैलों के गले में बँधी घंटियों की।

उस सुनसान और बेआवाज़ अँधेरे में चलते हुए कुछ समय बीत गया था... कि तभी गाड़ी के भीतर लालटेन लेकर बैठी अम्मा एकाएक बुक्का फाड़कर रोने लगी थीं। यह देखकर छीता ने गाड़ी रोक दी। गाड़ी के भीतर लालटेन अभी भी जल रही थी और अम्मा कक्का के मुँह की ओर देखती हुई रोये जा रही थीं। छीता ने पलटकर कक्का के चेहरे को देखा था और उसके बाद उसने उनके पैरों पर हाथ लगाया था। उसके बाद उसने गाड़ी वापस

गाँव की ओर मोड़ दी थी। जगदीप जी कुछ नहीं समझ पा रहे थे; क्योंकि उस वक़्त उनकी उम्र महज़ पाँच साल थी।

रात के अँधियारे में ही, घर लौट कर जब कक्का को गाड़ी में से उठा कर द्वार पर नीचे ज़मीन पर दाभ की पत्तियों पर लिटाया गया और औरतों की रोवाराट पड़ी तब जगदीप जी को समझ में आया था कि उनके पिता मर गये...!

उस दिन बीमारी के अचानक ज़ोर पकड़ने पर इलाज के लिए पिता को शहर ले जाया जा रहा था। पर इलाज तक नहीं पहुँच पाये थे वे। और सवरे पाँच साल के जगदीप जी ने पिता को अन्तिम संस्कार की लकड़ी दी थी। उस दिन वे पिताहीन हो गये थे— अकेली रह गयी माँ का अकेला सहारा!

...अगले साल गाँव के प्राइमरी स्कूल में दाखिला करा दिया था अम्मा ने। और अब वे पढ़ाई करते हुए आगे बढ़ रहे थे।

पढ़ाई में वे तेज़ निकले थे। हर साल क्लास में अव्वल ही आते। उन्होंने पाँचवीं पास कर ली तो दो मील दूर पड़ोस के गाँव के मिडिल स्कूल में दाखिला ले लिया। पैदल चलकर रोज़ स्कूल जाते और छुट्टी के बाद पैदल ही घर आते। तीन सालों तक ऐसे ही स्कूल जाते-आते उन्होंने मिडिल की परीक्षा दे ली थी।

मिडिल की परीक्षा दे लेने के बाद, उन्होंने अपना ध्यान खेती-किसानी की ओर लगाया। वे अब छीता हलवाहे के साथ खेती-किसानी का हर काम करने लगे थे— खेतों की बखर से जुताई करना, पाटा चलाना, हल चलाना, बोवनी करना, गेहूँ-चना-सरसों की कटाई करना, गाड़ी भरना, खलिहान में गरी लगाना, दाय़ करना, बरसावन करना और अनाज के छेका में भरने तक के काम! खेती का काम करना उन्हें अपनी ज़िम्मेदारी की तरह लगता था। उन्हें लगता था कि वे अपने पिता का दायित्व निभा रहे हैं। पिता, जिन्हें उन्होंने सिर्फ़ बिस्तर पर ही देखा था— लेटे हुए। उनका बिस्तर जो पौर में बिछी खाट पर था और जिसके एक ओर देसी पनहीं उतरी रहती थीं। पनहीं पहन कर चलते-फिरते कभी नहीं देखे थे उन्होंने पिता। पर घर, गोँड़ा, खेत, खलिहान देखकर उन्हें लगता था कि उनके पिता किसान थे। किसान का बेटा होने का अहसास जगदीप जी को एक नयी तरह की ऊर्जा से भर देता और मेहनत के लिए उकसाता था। किसान और मजदूरी दोनों संगिनी होती हैं। यों तो किसान का हर एक काम ही कड़ी मेहनत का होता है। पर किसान का सबसे कड़ी मेहनत का काम होता फ़सल-कटाई। फ़सल-कटाई, मतलब पसीना, प्यास, उमस, घाम के बीच लगातार काम!... जगदीप जी के हाथ में हँसिया होता था, सिर पर साफी का मुँड़ासा। साथ में होते थे आठ-दस मजूर। सामने गेहूँ-चना की खड़ी फ़सल। पकी फ़सल के ज़मीन से जुड़े डंठल कड़े हो जाते हैं— नरमी नहीं बरतते। काटते जाते थे जगदीप जी गेहूँ-चना की फ़सल अन्य मजूरों के साथ। आसमान पर तपता चैत का सूरज पीठ पर चाबुके—सी मारता था। पसीना माथे से चल कर पीठ तक चुचुआता और कमीज को भिंगोता था। हवा चलने लगती तो चैत की घाम तनिक नरम लगने लगती पर जैसे ही बन्द हो जाती तो उमस होती, प्यास होती, गर्मी होती; फिर भी काटते हुए आगे बढ़ते जाते थे हँसिये। फ़सल-कटाई का एक उसूल होता था कि खेत की जिस मेंड से कूँड़ों पर काटने के लिए बैठे होते, तो काटते हुए अगली मेंड तक पहुँचते और फिर वापस काटते हुए उसी जगह आकर पानी पीते जहाँ से चले थे। इस बीच प्यास लगी हो तो लगती रहे! पानी लोटा काट कर मेंड पर पहुँचने पर ही मिलेगा! दिन भर माँग

भरना, लोटा भरना, माँग भरना, लोटा भरना! दिनमुँदे तक यही सिलसिला चलता। शाम तक शरीर थक कर चूर हो जाता था!... कटाई निबटने के बाद, खलिहान में काम चलता रहा। और गल्ला छेका तक पहुँचते-न-पहुँचते, मिडिल परीक्षा का रिजल्ट आ गया था। जगदीप जी अपने स्कूल पर पहुँचे थे— रिजल्ट जानने। हेडमास्टर भगवानदास गुप्ता ने बताया था, “जगदीप प्रसाद वर्मा, पास, फर्स्ट डिवीज़न!”

मिडिल स्कूल के बाद, नवीं कक्षा का स्कूल पड़ोस के गाँव में भी नहीं था। अब कहाँ होगी पढ़ाई, कोई पता नहीं! पर जगदीप जी के भीतर एक निश्चय था— पढ़ना तो है ही!

पर पढ़ाई दसवीं पास करने तक ही चल पायी। रेग्यूलर। किसी तरह। खींच-तान कर। उसके बाद यह सम्भव नहीं रहा कि शहर में रहकर पढ़ने की ‘अय्याशी’ की जाय, और गाँव में अम्माँ खेती-किसानी के काम में खून-पसीना एक करें! छोड़ दिया आगे पढ़ना। और गाँव आ गये।

अषाढ से लेकर भादों तक का समय खेती-किसानी के काम में ठंडेपन का होता था। इस बीच जगदीप जी ‘लगभग आवारगी’ करते। इस बीच गाँव में यहाँ-वहाँ बैठते-उठते। कहीं कोई किताब मिल जाती तो उसे हथिया लेते और तब ही छोड़ते जब आखिरी पन्ने तक पढ़ डालते! किताबें पढ़ने का उन्हें लगभग जुनून था। किताबें उनका मनोरंजन भी करतीं, टाइमपास भी; और ऊपर से ज्ञानवर्द्धन भी। पढ़ने की बेपनाह ललक के कारण वे हर उपलब्ध किताब को पढ़े बिना न छोड़ते— फिर वह चाहे किसी भी विषय की और कैसी भी क्यों न होती! और उन्होंने अपने इसी पढ़ाकूपन के चलते जो किताबें पढ़ीं, उनमें सबसे पहली किताब एक सूक्ति-संग्रह थी, जिसमें दुनिया के महान लेखकों, विद्वानों और जीवनानुभवियों के कहे हुए वचन जमा किये गये थे। बाद की किताबों में गुलशन नन्दा और प्रेम वाजपेयी के पॉकेट साइज उपन्यासों से लेकर प्रेमचन्द का ‘कायाकल्प’, वृन्दावन लाल वर्मा का ‘मृगनयनी’ आचार्य चतुरसेन का ‘वयं रक्षामः’ और गाँव के भैयालाल वैद्य के यहाँ से प्राप्त ‘चरक संहिता’, ‘माधवनिदान’ एवं सचित्र ‘कोकशास्त्र’ आदि थीं। इसके बाद उन्होंने तुलसीकृत ‘रामचरितमानस’ भाषा टीका सहित पढ़ा था। ‘श्रीमद्भगद्गीता’ का हिन्दी अनुवाद पढ़ा था। ‘कामायनी’ पढ़ डाली थी। ‘स्कन्दगुप्त’ और ‘ध्रुवस्वामिनी’ पढ़ लिये थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा अनुवादित विशाखदत्त का नाटक ‘मुद्राराक्षस’ पढ़ डाला था। सेठ गोविन्ददास का ‘शशिगुप्त’ पढ़ डाला था। दिनकर का ‘उर्वशी’ पढ़ा। ‘सत्यार्थप्रकाश’ पढ़ा। सबलसिंह कृत ‘महाभारत’ पढ़ा। ‘वाल्मीकि रामायण’ सानुवाद पढ़ डाली। ‘विष्णु पुराण’ पढ़ डाला, ‘अग्नि पुराण’ पढ़ लिया। ‘प्रेम सागर’, ‘सुखसागर’, ‘ब्रजविलास’ पढ़ डाले। गाँधी जी की ‘संक्षिप्त आत्मकथा’ पढ़ डाली। ‘गोदान’ पढ़ डाला। ‘झूठा सच’ पढ़ लिया। भगवान रजनीश की ‘काम, ध्यान और अध्यात्म’, ‘समाजवाद अर्थात् आत्मघात’ और ‘भारत, गाँधी और मैं’ पढ़ीं। बाद में ‘कठोपनिषद्’, ‘केनोपनिषद्’ और ‘मुण्डकोपनिषद्’, अनुवाद सहित पढ़ीं। बाद में गोकर्ण का ‘माँ’, तॉलस्टॉय का ‘कज़ाक’ और आस्त्रोवस्की का ‘अग्निदीक्षा’ पढ़े। हिटलर की आत्मकथा ‘मेरा संघर्ष’ पढ़ी और हावर्ड फास्ट का ‘आदिविद्रोही’ पढ़ डाला था...

ऐसे वे दिन थे, जिनमें मौज थी, मस्ती थी, मेहनत थी और फुर्सत भी होती थी। और ऐसे ही दिनों में से एक दिन उन्होंने गाँव के ‘बैकुंठ आश्रम’ से लाउड स्पीकर पर बज रही मनमोहिनी वाणी सुनी थी। और उस वाणी के

आकर्षण में बँधे वे जा पहुँचे थे ‘बैकुंठ आश्रम!’

इससे पहले उन्होंने ‘बैकुंठ आश्रम’ का सिर्फ नाम ही सुना था। पर जब वे गाँव के एक ओर नदी किनारे स्थित ‘बैकुंठ आश्रम’ के भीतर पहुँचे तो उन्हें लगा कि ‘बैकुंठ आश्रम’ आश्रम क्या सचमुच ‘बैकुंठ’ है! वहाँ हरे-भरे पेड़ थे, पक्षियों का कलरव था और भगवद्भक्ति और आध्यात्मिकता की हवा थी। आश्रम के भीतर दो पक्के और बड़े कमरे बने थे, एक कच्ची खपरैल थी, दो देव-मढ़ियाँ थीं। साफ़-सुथरे, लिपे-पुते विशालकाय प्रांगण के ऊपर नीम और पीपल के पेड़ों की छाया थी, जिसके नीचे रंग-बिरंगी साड़ियों की सज्जा से तैयार ‘मंडप’ के भीतर सामने पोथी रखे पंडित जी श्रीमद्भगवद् महापुराण बाँच रहे थे। उनकी वाणी निहायत कसी हुई और मिठास भरी थी, जो स्टैंड पर कसे माइक के उनके मुँह से सटे होने के कारण दूर-दूर तक सुनाई दे रही थी। उनके सामने नहाये-धुले स्त्री-पुरुष और तिलक-जटाधारी बाबाओं की बड़ी संख्या मौजूद थी।

जगदीप जी को आश्रम में पहुँचते ही कुछ और-और-सा लगा था। जैसे वे अचानक अपनी मनचाही दुनिया के बीच आ गये हों। मनचाही मगर अजनबी दुनिया! ऐसी दुनिया जिसमें शान्ति और सुगन्ध फैली हुई थी। सुकून मिला था उन्हें वहाँ!

उसके बाद वे रोज़ ही वहाँ जाने लगे थे। और कुछ ही समय में गोया आश्रम के एक सदस्य बन गये थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्हें वहाँ आश्रम के प्रमुख साधु महाराज श्री रघुवरचरण दास जी की धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन कर पाने का अवसर मिलने लगा था। उन्होंने वहाँ बाबा के संग्रह से ‘मानस पीयूष’ के कई खंडों का अध्ययन किया; पंडित रामकिंकर उपाध्याय के प्रवचनों की पुस्तकों को पढ़ा; और गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित कई छोड़ी-बड़ी पुस्तकों को छान मारा था।

इस बीच वे आश्रम के चप्पे-चप्पे से परिचित हो गये थे। एक देव-मढ़ी ‘राम जानकी मन्दिर’ थी और दूसरी ‘हनुमान गढ़ी’। खपरैल बाबा की निवास कुटी थी। बाबा आश्रम के स्थाई निवासी थे। उनकी उम्र सत्तर-पचहत्तर साल के आसपास थी। उनकी सेवा के लिए दो शिष्य आश्रम में ही रहते थे। उनकी उम्र पैंतीस-चालीस के आसपास थी और वे दोनों साधु और गृहस्थ के बीच की वेशभूषा में रहते थे। उनके अलावा वहाँ एक ‘बाई’ भी थी। वह बाबा के लिए भोजन तैयार करती थी और आश्रम के कुएँ से जल-संग्रह का जिम्मा भी उसी का था। वह सिर तक सफ़ेद धोती लपेटे माथे पर तिलक लगाये रहती थी। उसकी उम्र पच्चीस-तीस साल के आसपास थी। वह देखने में सुन्दर भी थी। वह कभी-कभी जगदीप जी की ओर बड़ी राजदार नज़रों से देखती थी; और कभी उन्हें भी अपनी ओर देखता पाकर नज़र हटा कर अपने काम में व्यस्त हो जाती थी।

...एक दिन जगदीप जी ने बाबा की पुस्तकों में से ‘ईशावास्योपनिषद्’ उठायी। शांकर भाष्य और उसके हिन्दी अनुवाद वाली। उन्होंने उसे खोला। पहले पन्ने पर पहला श्लोक था— वे उच्चारण के साथ पढ़ने लगे थे—

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

जगत में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है (अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए)। उसके त्यागभाव से तू अपना पालन कर। किसी के धन की इच्छा न कर।

ईशा ईष्ट इतीदं तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वभीष्टे

सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा
वास्यमाच्छादनीयम् L...

जो ईशान (शासन) करे उसे ईद कहते हैं; उसका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। सबका ईशान करने वाला परमेश्वर परमात्मा है। वही सब जीवों का आत्मा होकर अन्तर्यामिरूप से सबका ईशान करता है। उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईश से सब वास्य-आच्छादन करने योग्य है L...

यह सब पढ़ने के बाद उनके जेहन में एक ऐसा सवाल कुलबुलाने लगा जिसके बारे में इससे पहले उन्होंने कभी सोचा तक न था।

अन्ततः वे बाबाजी के सामने जा खड़े हुए।

महाराज जी ने चश्मे के भीतर से आँखें उठाकर उनकी ओर देखा और कहा, “क्या बात है जगदीप?” वे उनके हाथ में ईशावास्योपनिषद् की पोथी देख रहे थे।

“महाराज जी, यदि सारे संसार के जीवों का आत्मा परमेश्वर है तो फिर यह ऊँचा-नीचा और छोटे-बड़े का भेद क्यों है?”

बाबा जी ने सुनकर एक बार फिर चश्मे के भीतर से आँखें उठाकर उनके चेहरे पर झाँका, “क्या बात है?... क्या पढ़ा है तुमने?” उन्होंने पूछा।

जगदीप जी ने पोथी खोलकर श्लोक पढ़ना शुरू कर दिया, “ॐ ईशावास्यमिदं...”

पर बाबा ने उन्हें बीच में ही टोक दिया, “ये दैवीय ग्रन्थों के दैवीय वाक्य हैं जगदीप! इनको समझने के लिए दीर्घकाल तक तप और मनन करने की आवश्यकता होती है। ये आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर हैं। इनके अर्थ संसार में ढूँढ़ना मूर्खता की पराकाष्ठा होगी। ...सारा संसार ईश्वरमय ही तो है; पर इसमें ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़े का प्रश्न कहाँ से आया?” बाबा ने उलट कर उनके ही सामने प्रश्न खड़ा कर दिया।

“छोटे-बड़े और ऊँचे-नीचे का प्रश्न...” वे क्षणभर को अचकचाये। बाबा का वृद्ध, गरिमायु और ‘सर्वपूज्य’ व्यक्तित्व उनके सामने था। परन्तु उन्हें अपने भीतर का प्रश्न कमजोर नहीं लग रहा था। वे पूछ उठे, “पर महाराज जी, इन दैवीय वाक्यों का संसार से कुछ लेना-देना नहीं है तो फिर किससे लेना-देना है?... ‘संसार’ शब्द तो पुस्तक में भी आया है...” वे पुस्तक खोलने लगे थे।

“इन ग्रन्थों का उद्देश्य है— मानव का मोक्ष!” कहते हुए बाबा के होठों पर एक प्रसन्न मुस्कान खिल उठी थी, “मानव के मोक्ष के लिए ही ये समस्त अलौकिक ग्रन्थ रचे गये हैं!”

“पर महाराज जी, इसी संसार के मानव के मोक्ष के लिए ही न!... फिर...?” वे सन्तुष्ट न थे।

बूढ़े साधु ने बीच में ही उनका प्रश्न रोक दिया था, “संसार के नहीं, भवसागर में फँसे मानव के मोक्ष के लिए!...” कहते हुए बाबा का लहजा किंचित तुर्र हो उठा था।

“भवसागर...!” बात उनके गले नहीं उतरी थी।

क्वार के दिनों में खेती-किसानी का काम शुरू हो गया, तो वे छीता के साथ मिलकर खेती के काम में हाथ बँटाने लगे थे।

एक दिन काम के ही बीच छीता ने उन्हें बताया था, “काल बैकुंठ आसरम के एक बाबा को पुलस पकरि कें लै गई!”

“काहे?” उनके मुँह से अचानक निकला था।

“पतौ नहीं!” छीता ने अपट्ट भोलेपन के साथ जवाब दिया, “पर पकरि

कें तौ लै गई!”

और उसके बाद वे ‘बैकुंठ आश्रम’ से दूर होते चले गये थे।

...और उस साल के खलिहान उठने के कुछ दिनों बाद, उनका ब्याह हो गया था। ब्याह होने की कोई बहुत खुशगवार अनुभूति उन्हें उस समय नहीं हुई थी; क्योंकि ब्याह का अर्थ उस समय उनके लिए एक रस्म अदायगी जैसा कुछ था— भले ही उम्र सोलह पूरे कर रही थी। वे दूल्हा बने, और पालकी में बैठकर ब्याह कराने गये थे। बारात बैलगाड़ियों के काफिले के रूप में गयी थी। बारात को जहाँ जनवासा दिया गया था वह स्थान एक उठ गये खलिहान का समतल खाली मैदान था। उस मैदान में डेरा (तम्बू) तानकर जनवासा बनाया गया था। उसके नीचे बिस्तर लगाये गये थे। रात गये, गाँव के बँड-बाजों और बारातियों के बीच पालकी में बैठा कर उन्हें जिस द्वार पर ले जाया गया वह एक मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर का अगवाड़ा था!...

ब्याह के बाद घर में कुछ समय तक खुशी जैसा माहौल रहा था। उन दिनों उनको दुनिया रंग-रंगीली-सी लगती रही थी— एक तिलिस्मी धुन्ध में लिपटी-सी!

पर कुछ ही समय में, उनको अपनी पत्नी की चाल-ढाल, बोली-बानी, अनगढ़ता-असभ्यता साफ़-साफ़ दीखने लगी थी।

कभी-कभार वे उसे टोक भी देते, “बोलिबे में अगर आवाज कम रहै तौ कछू बिगिरि नहीं जायगौ!”

“हमें तौ ऐसैइ बोलिबौ आउतुऐ!” पत्नी तुरन्त जवाब देती।

जवाब सुनकर वे सोचते कि यदि कुछ असभ्यतापूर्ण करके आदमी उसको स्वीकार करे और उसमें सुधार की सोचे, तो गनीमत है! परन्तु उनकी पत्नी को तो जैसे हर बात का गलत-सही जवाब तत्काल देने की लत लगी हुई थी! उन्होंने देखा था कि वह किसी भी बात का जवाब देने में बिल्कुल देर नहीं करती थी। जैसे उसकी ज़िद हो कि वह हर एक बात का मुँहतोड़ जवाब देकर मानेगी— फिर भले ही वह जवाब सही हो या गलत!

एक बार उन्होंने उसकी दौड़ती हुई-सी चाल को लेकर उसे टोक दिया था, “देख धीरें-धीरें चलनो चहिए, ऐसै नहीं कि जैसे कहुँ पहुँचबे की जल्दी हो!”

इस बात का भी उसने बिना कुछ सोचे तत्काल जवाब दिया था, “हमें ना धीरें चलिबौ आउतु!” कौवा की-सी कर्कश आवाज़।

इस तरह की हरकतें जगदीप जी को साफ़ दिखाई देतीं, पर वे अक्सर नज़रअन्दाज़ करते रहते। बेशक उनके भीतर एक कड़वाहट-सी घुलकर रह जाती। वे सोचते रह जाते कि यह तो असभ्यता की हद है!

एक दिन उन्होंने देखा कि घर के एक आले में काँच मट्टी तीन तस्वीरें आले की दीवारों से टिकी रखी थीं— एक राम-सीता की, दूसरी कृष्ण-राधा की, तीसरी शिव-पार्वती की। तीनों के माथे के काँच पर रोली की बिन्दियाँ लगी थीं; आले की ज़मीन पर एक पीतल की मूर्ति रखी थी, उसके पास ही दो-तीन गुट्टेनुमा किताबचियाँ रखी थीं, पीतल का नक्काशीदार दिया रखा था, अगरबत्ती का पैकेट रखा था। यह सब देखकर उनको कुछ अटपटा-सा लगा। घर में ऐसा कुछ आज तक उन्होंने नहीं देखा था। उन्होंने सीधे जाकर पत्नी से पूछा, “ये सब का है?”

“भगवान् जी ऐं, और का है!” उसने तुरन्त जवाब का लट्ट मारा था।

“भगवान् जी!” उनके भीतर कुछ अजीब तरह घुमड़ रहा था, “काये के काजें हैं ये?” उन्होंने घरवाली की तरफ़ देखा था।

“पूजा के वाजें!” तत्काल जवाब मिला।

“पूजा...” आगे उनके मुँह से सिर्फ इतना ही निकला।

उन्होंने अपने जीवन के इतने वर्षों अपनी माँ को देखा था। माँ को उन्होंने कभी इस तरह का पूजा-पाठ जैसा कोई काम करते नहीं देखा था। वे तो घर का कामकाज ही ऐसे ढंग से करती थीं कि उसमें उन्हें किसी पूजा से कम सुख नहीं मिलता रहा होगा! क्रिस्से-कहानियाँ भी वे उसी तल्लीनता और मन से सुनाती थीं जिससे पूजा की जाती है। अपनी उन्हीं माँ के क्रिस्से-कहानियाँ सुनकर ही जगदीप जी के भीतर पूजा-पाठ जैसे कामों की निरर्थकता का बोध था। माँ से ही उन्होंने उस सेठ का क्रिस्सा सुना था जो रोजाना सवेरे उठकर पूरे दो घंटे तक भगवान की पूजा-अर्चना-उपासना जैसे काम करता था, और उसके बाद अपनी दुकान की गद्दी पर जा बैठता था और दिन भर गरीब-गुरबों के चीज-वस्तु, बर्तन-भाँड़े और रुपये-पैसे हड़पता था! अपनी माँ के क्रिस्से कहानियों से ही उन्होंने जीवन के बहुत सारे रहस्यों को समझा था।

जगदीप जी को पत्नी के मुँह से ‘पूजा के काजें’ सुनकर लगा था कि अब पत्नी से और अधिक बात करना बेवकूफी से कम बिल्कुल नहीं है, इसलिए वे वहाँ से चले गये थे।

...उसके बाद सामन्ती मलबे के रूप में मौजूद एक कुनबा उन्हें हमेशा घूरता लगता था...

... उस दिन उनकी पत्नी ने भरी दोपहर में, आँखें फाड़कर, उँगली उठाकर चीखते हुए कहा था, “वो ऐ आँगन में!”

“आँगन में!... को ऐ आँगन में?” वे भौचक थे।

“वो ऐSSS... बड़े-बड़े दाँतन वारौSSS!!!” पत्नी और अधिक ज़ोर से चीखी थी।

सुनकर एकबारगी तो जगदीप जी के भी रोंगटे खड़े हो गये थे। बड़े-बड़े दाँतों वाला! कौन? जाहिर है वह भूत-प्रेत-पिशाच जैसी परिकल्पना थी जिसे उनकी पत्नी घर के आँगन में साकार खड़ा हुआ बता रही थी।

और उनको वहाँ कहीं कोई नहीं दिख रहा था!

पर पत्नी थी कि उसके डरे हुए और फटी हुई आँखों वाले चेहरे को देखकर ऐसा लगता था जैसे वह अभी भी किसी बड़े-बड़े दाँतों वाले ‘पिशाच’ को अपनी आँखों के सामने खड़ा देख रही हो!

फिर कुछ और देर तक वह वैसी ही हालत में रही, उसके बाद घर की



सबसे भीतरी, अँधेरी कोठरी में जाकर दरी बिछा कर, चादरा तान कर सो गयी थी।

जगदीप जी की कुछ भी समझ में न आता था कि आखिर यह माजरा क्या है? भूत-प्रेत पर विश्वास करने के लिए उनका मन किसी भी प्रकार राजी न था। पर यह मामला क्या है, उनकी समझ में न बैठता था! घूम-फिर कर यदि उनका दिमाग टिकता था तो एक उसी तर्क पर कि यह पत्नी के उस मूर्खतापूर्ण कारनामे पर उसे मिली फटकार का प्रतिकार है जो उसने कल ही खायी थी... कल उसने कैरी (कच्चे आम) की लोंजी (मीठी सब्जी) बनाई थी और खाने के लिए बैठे जगदीप जी की थाली में एक बड़ा कटोरा भरकर रख दी थी। उन्होंने बड़े स्वाद के साथ अपनी पसन्दीदा मीठी सब्जी से रोटी खायी और अन्त में कटोरे में बचे रसे को कटोरा मुँह से लगाकर पी लिया, तो उनके मुँह में भसभसा और बदजायका-सा कुछ भर कर रह गया था। उन्होंने कटोरे की तली में देखा, तो वहाँ चूहों की उबली हुई लेंडियाँ (विष्ठा) थीं! जब इस बारे में उन्होंने पत्नी से पूछा तो उसने तुरन्त जवाब दिया, “गुर (गुड़) के संग आई होंगी लेंडियाँ!”

“गुर के संग कैसे आई होंगी?” उन्होंने उससे पूछा था।

“मोड़ का पतौ कैसे आई होंगी!... मैंने तौ कटोरा भरि कें डार दओ ढोंड़ी में ते...!”

“और आँखिन ते नहीं देखौ कि गुर के संग कछू और तौ नहीं है!” उनकी आँखों में झुंझलाहट भरा गुस्सा उभरने लगा था।

“मैंने नहीं देखौ...”

और यह सुनकर तो जगदीप जी के भीतर जैसे कुछ फट पड़ा था। मगर उन्होंने अपने आप पर काबू रखा था; पर कड़वाहट उनकी जुबान पर आ बैठी थी, “अरे, बेवकूफ, आदमी कौं आँखें जई कारन मिली हैं कि वो बिनते चीजें देखै-परखै-समझै! आँखें बन्द करके काम करिबे के लिए नहीं हैं आँखें! पर तें आदमी है कहाँ, जो इतनी बात समझैगी...!”

जगदीप जी को लगता था कि हो-न-हो, यह तमाशा उसी डाँट-फटकार का पलटवार है, और कुछ भी नहीं!...

और फिर अचानक ही उनके सामने तसव्वुर होने लगा था उस घर का, जो सात मेहरावदार दरवाजों वाला था और जिसका बीच वाला मुख्य दरवाजा ऐसा बड़ा, चौड़ा और ऊँचा था कि घुसना चाहे तो घोड़े की जीन पर बैठा घुड़सवार घोड़ा दौड़ाता हुआ उसमें बेहिचक घुसा चला जाए! मुख्य दरवाजे की बगल वाले दोनों ओर के तीन-तीन दरवाजों की नक्काशी हू-ब-हू मुख्य दरवाजे-जैसी ही थी। इन सातों दरवाजों के भीतर दो तरफ को फैला लम्बा बरामदा था, जिसे बड़ी पटियों से पाटा गया था। बरामदे के बाद फिर एक बड़ा मगर बिना मेहराव का दरवाजा था जिसके भीतर एक विशालाकार पौर थी। पौर से भीतर की ओर ले जाने वाला दरवाजा एक बड़े आँगन में खुलता था। आँगन में पहुँचने पर मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर के कई कमरे नजर आते थे और एक ओर नजर आता था, ईंट-चूने की चिनाई से बने पड़ोस के एक मकान का पिछवाड़ा। पड़ोस के मकान के इस पिछवाड़े की दीवार से सट कर बनाए गये कच्ची मिट्टी की दीवारों के तीन पाखाने उस आँगन की चौकोरियत में उभरे तीन बदसूरत कूबड़ों-जैसे नजर आते थे। उन पाखानों के भीतर जाने के लिए जो ‘प्रवेश-द्वार’ छोड़े गये थे उनमें कोई परदा या किसी क्रिस्म की आड़ नहीं रखी गयी थी। शायद इस तरह की कोई ज़रूरत ही नहीं समझी गयी थी, लिहाजा वे ‘प्रवेश-द्वार’ हमेशा खुले ही रहते थे।

मेहरावदार सात दरवाजों वाले इस घर का यह आँगन प्रायः ऊजड़ और वीरान-सा ही बना रहता था, जब तक कि घर के किसी कमरे से घर की कोई स्त्री या लड़की आँगन में बने पाखाने में जाने के लिए न निकल पड़े, या पाखाने से घर के भीतर कमरे में जाने के लिए न लौट पड़े!

और यह व्यवस्था इस मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर के 'पितृपुरुष' चौधरी खेमकरन लम्बरदार की अपने खानदान की इज्जत-आबरू-बचाऊ हिकमते-अमली का नतीजा था।

खेमकरन लम्बरदार तब जीवित न थे। पर उस घर पर काबिज उनकी इच्छाएँ, हिकमतें, इज्जत और आज्ञाएँ अभी जीवित थीं।

चौधरी खेमकरन लम्बरदार साढ़े पाँच सो बीघा के ज़मींदार थे। खेती बैलों और नौकरों से होती थी। घर के दूसरे काम-काज के लिए अलग से नौकर-चाकर थे— जैसे गोबर डालने-पाथने के लिए अलग, पानी भरने के लिए अलग, गायों-भैंसों को दुहने के लिए अलग और चिलम-तमाखू के लिए अलग! जिनमें से अधिकांश बेगारी! और कहते-सुनते हैं कि खेमकरन लम्बरदार के जीवित रहते क्या मजाल थी कि कभी किसी नौकर या बेगारी ने इस मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर के भीतर की किसी कोठरी का दरवाजा तो क्या, झाँककर वह आँगन भी देखा हो जिसमें अब तीन पाखाने थे! सिर्फ पानी भरने वाली पनहारिन ही भीतर तक जाती थी और दुधे हुए दूध को पौर से भीतर पहुँचाने वाली चमारिन! बाकी सब कामगारों की पहुँच घर की पौर तक ही सीमित थी— उसके आगे नहीं! आखिर घर के भीतर मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर की इज्जत थी— स्त्रियाँ-बहुएँ और बेटियाँ और यही कारण था कि न घर के किसी नौकर-चाकर ने अपनी आँखों से कभी घर की किसी स्त्री या लड़की को देखा था, न ही घर की किसी बहू या बेटि ने किसी नौकर या बाहरवाले आदमी को। जैसे नौकर-चाकरों को सिर्फ पौर तक पहुँचने की इजाजत थी, वैसे ही घर की बहू-बेटियों को सिर्फ आँगन में बने कच्चे पाखाने तक निकलने की! उस पाखाने तक जो चौबीस घंटों में सिर्फ एक बार साफ़ किया जाता था! रोज़ सवेरे मेहतरानी आती थी अपनी कमर पर डलिया टिकाये— उसे साफ़ करने! उसके बाद वह दिन भर इस्तेमाल होता और बदबू छोड़ता था!

खेमकरन लम्बरदार की इस तरह की 'व्यवस्था' के भीतर घर के पुरुषों को छोड़कर और सब थे!...

...तब मेहरावदार सात दरवाजों के भीतर वाले बरामदे में खेमकरन लम्बरदार की काँच-मढ़ी एक तस्वीर टँगी थी, जिसे देखकर सहज ही यह अन्दाज़ा लगाया जा सकता था कि उनका सफ़ेद-घनी-छितरी मुँहों और सिर पर साफ़ा वाला व्यक्तित्व कितना रौबीला और भव्य रहा होगा!... कहते हैं कि वे खाने-खिलाने के बड़े शौकीन थे। रोज़ाना घर में चार सब्जियों से कम न बनती थीं, और मेहमान के आ जाने पर छह-सात से आठ-दस तक हो जाती थीं! साथ में निपनियाँ दूध की खीर, रवा का हलुआ, गुड़ के मालपुए आवश्यक! घर में शक्कर की दो बोरियाँ हमेशा रहतीं— एक खुली हुई, दूसरी बन्द। खुली हुई खत्म हुई कि दूसरी खोल ली, और तीसरी मँगवा ली गयी! वो घर की गायों-भैंसों का था। गुड़ के भेले इकट्ठे मँगवा कर एक कोठे में रख दिए जाते थे! यानी यही कि हर चीज़ की इफ़रात! किसी चीज़ की कभी कोई कमी नहीं! घर भंडार था जैसे! आखिर खाने-पीने का मामला भी तो इज्जत-आबरू से ताल्लुक रखता था।

और दिलचस्प यह कि चौधरी खेमकरन लम्बरदार के ऐसे चलन के

चलते घर की बहुएँ-बेटियाँ सुखी ही नहीं, परमसुखी थीं। उनका ख्याल था कि पैरों में बेड़ियाँ हैं तो क्या हुआ, हाथों में हथकड़ियाँ और मुँह में ताले तो नहीं हैं! पेट और जीभ के लिए तो तरह-तरह के माल-मसाले हैं— मनचाहे वैसा खाओ और खाओ, फिर खाओ! और रहा सवाल पैरों की बेड़ियों का, तो यह भी एक तरह का वरदान है— 'का करनों बाहिर जाइकें? सिबु कछू तौ सई ऐ! और फिर कोऊ चिन्ता-फिकिर नहीं, कछू करौ घर भीतर, चाहे जैएँ बोलौ, चाहे जैसे बतराऊ, चाहे सोऊ, चाहे जगौ, चाहे जैसे उठौ, चाहे जैसे बैठौ, चाहौ तो दिन भर उघारी रहौ, चाहे नंगी; कोऊ झाँकिवे-देखिबे बारौ नहीं! और का चइऐ!...' उन्हें यह व्यवस्था ऐसी रास आई थी कि कहते-सुनते हैं कि कभी-कभी घर की चौदह-पन्द्रह-सोलह साल की लड़कियाँ ही नहीं उम्र की ढलान पर उतरती स्त्रियाँ तक निहायत नंगी होकर पाखाने तक चली जाती थीं!

और खेमकरन लम्बरदार के तीनों प्रौढ़-अधेड़ बेटे, उनके ही जैसे रौब-स्तबादार! बड़े का नाम सोबरनलाल, मँझले का इन्द्रभान सिंह और छोटे का कामताप्रसाद। तीनों ही अपने पिता के पद-चिह्नों पर चलने वाले! चाहे कुछ भी हो पर खानदान की इज्जत-आबरू सबसे ऊपर! सोबरनलाल के चार बेटे, दो बेटियाँ; इन्द्रभान सिंह के आठ बेटियाँ और सबसे छोटा एक बेटा; कामताप्रसाद के दो बेटियाँ, छह बेटे! भरा-पूरा परिवार! पर कायदा वही कि लड़के बड़े होने पर स्कूल में दाखिल कराये जाते रहे— वे थोड़ा-बहुत पढ़-लिख कर अपने घर के काम-काज में हाथ बँटाने लग जाते रहे! और लड़कियों को स्कूल जाने की सख्त मुमानियत! 'कहा करेगी इस्कूल जाइकें!' वाली वही पैतृक और पारम्परिक मानसिकता— सोबरनलाल, इन्द्रभान सिंह और कामताप्रसाद— तीनों 'महापुरुषों' की।

...खेमकरन लम्बरदार की मृत्यु के बाद सोबरनलाल, इन्द्रभान सिंह और कामताप्रसाद ने अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग-अलग रहना पसन्द किया। ज़मीन-जायदाद, घर, धन-सम्पत्ति बराबर-बराबर बाँट गये। मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर में तीनों ने अपने-अपने लिए अलग मढ़ा-कोठियाँ बाँट लिए। और तब मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर के आँगन में एक की जगह तीन पाखाने हो गये थे!

और कुछ समय बीतने के बाद, सोबरनलाल हू-ब-हू अपने बाप की तरह के दीखने लगे थे और उन्हीं की तरह से कई-कई सब्जियों और हलुआ-खीर-पुओं के शौकीन साबित हुए थे; इन्द्रभान सिंह गाँजे की दमों लगाने लगे थे और अकसर गाँव में एक 'खास' जगह बैठते-उठते पाए जाने लगे थे और छुहारे की तरह सूखे और मटमैले होकर गाँव भर की जुबान में 'सिड़ी' कहे जाने लगे थे— कहा-सुना यह भी जाता कि वे गाँव की एक बहुत सुन्दर औरत के चक्कर में फँसकर 'सिड़ी' हो गये थे; और कामताप्रसाद दिन में करीब बीस बार हँगने जाने और उतनी ही बार नहाने लगे थे, जिसका कारण कहा-सुना यह जाता कि उन पर किसी 'प्रेतात्मा' या 'देवात्मा' ने सवारी कर रखी थी...

और इसी समय के बीच इन तीनों के बेटे-बेटियाँ ब्याह-योग्य हो गये पाए गये, तो मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर में कुछ नयी बहुएँ आयी थीं, जो किसी-न-किसी एक दरवाजे वाले घर से आयी हुई थीं; और मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर से कुछ बेटियाँ विदा हुई थीं, जो किसी-न-किसी एक दरवाजे वाले घर में जा पहुँची थीं...

तो, इसी सिलसिले में मेहरावदार सात दरवाजों वाले घर के चौधरी

खेमकरन लम्बरदार के मँझले बेटे इन्द्रभान सिंह की सातवें नम्बर की बेटी जगदीप जी की पत्नी हुई थी...

और जगदीप जी को यह ख्याल कर अचम्भा होता था कि उनका खुद की आँखों से देखा हुआ, मेहरावदार सात दरवाजों वाला घर, माँ के द्वारा सुनाई कहानी के रामसजीवन महाते के घर से किस कदर हैरतअंगेज ढंग से मिलता-जुलता था!...

माँ ने एक क्रिस्सा सुनाया था : “एक गाँव था, जिसकी आबादी लगभग डेढ़ हजार और जिसमें परिवारों की संख्या करीब दो सौ थी। इन परिवारों में सभी जाति के लोग थे। इनमें पैंतीस-चालीस परिवार ब्राह्मणों के थे जिनमें से कुछ-एक पंडिताई-पुरोहिताई का धन्धा करते थे और बाक़ी किसान थे; कुल मिलाकर पंचानबे-सौ परिवार चमारों, धानुकों, कोरियों, धोबियों, कुम्हारों, मेहतारों के थे; सब मिलाकर पचास-साठ परिवार दर्जी, लोहार, सुनार, बनियाँ, ठाकुर, काछी, भोई, तेली, कलार, अहीर जातियों के थे। और गाँव की जातियों के इस गिनती-नक्शे के बीचोंबीच एक घर रामसजीवन महाते का था। रामसजीवन महाते का घर, घर क्या था, महलनुमा एक हवेली था जिसके ऊँचे दरवाजे को देखकर लोग हैरत में पड़ जाते थे— ऐसा दरवाजा कि जिसमें से होकर ऊँट या हाथी भी आराम से भीतर घुसा चला जाए! रामसजीवन महाते की उस हवेली में करीब पचास बड़े-बड़े कमरे थे जिसमें से कुछों को हमेशा काले पुते किबाड़ों में ताले लगा कर बन्द रखा जाता था। और जिनमें किसी को कभी भी भीतर झाँकने तक का अवसर नहीं मिला था; कुछों को अँधेरे ने क़ब्ज़िया रखा था जिनमें किसी ने कभी भी रोशनी होते नहीं देखी थी; कुछों में घर की औरतों के पलंग बिछे थे; कुछों में गल्ला भरा जाता था; एक में लाठियाँ, भाले, तलवारें और बन्दूकें रखे रहते थे; एक में तीन तिजोरियाँ दीवारों में चुनी हुई थीं जिसमें सिर्फ़ रामसजीवन महाते का ही प्रवेश सम्भव था; कुछ कमरे निहायत घरेलू सामानों से अटे-भरे थे; और कुछ बाघ के खुले मुँह की तरह डरावने लगते थे। ऐसा वह घर गाँव के ज़मींदार रामसजीवन महाते का था!”...

...सोचकर जगदीप जी को लगता कि ऐसे घर और वातावरण में पत्नी-बढ़ी उनकी पत्नी को ऐसा ही होना था...

और तब दो धाराएँ बह रही थीं— समानान्तर! दो दिमाग! दो प्रवृत्तियाँ! उजाला और अँधेरा! समानान्तर!

जगदीप जी की खेती-किसानी के काम में तो गहरी रुचि थी ही; पढ़ाई छोड़ देने के बावजूद किताबों में उनकी रुचि कम न हुई थी। इसके साथ ही उन्हें हर तरह की कला-गतिविधि अपनी ओर खींचती। गाहे-ब-गाहे वे सुमेर मास्टर की कीर्तन-मंडली में जा बैठते। वहाँ उनकी अपने भीतर के सुर से जान-पहचान होती। मंडली के साथ कभी-कभार ढोलक, मंजीरे और हारमोनियम की संगत में गा भी लेते। हारमोनियम पर हाथ चलाने की कोशिश की तो धीरे-धीरे बजाना भी सीख गये। ...खेती के हर काम में उनका मन लगता था— चाहे वह बखर चलाना हो या बैलगाड़ी हाँकना; फ़सल कटाई हो या गाड़ी भरना; दौय करना हो या उड़ावनी करना। वे बखर से खेतों की जुताई करते, हल से गेहूँ-चना की ऐर करते, फ़सल की कटाई करते, कटे हुए लाक से गाड़ी भरते, खलिहान में फैली फ़सल पर बैल चला-चला कर दौय करते और पाल में गेहूँ-चना भर बैलगाड़ी मंडी तक भी ले जाते! ये सब मेहनत और पसीने के बूते के काम थे। पर इन्हें करके उन्हें एक

तरह की सन्तुष्टि तो हासिल होती ही, साथ ही घर के भीतर मौजूद बैठी दाँत खौंखियाती फूहड़ता और उजड़ड़ता से मुक्ति भी मिलती। वे सवेरे बैलों को लेकर खेतों के लिए निकलते तो शाम के अँधेरे में ही घर लौटते।

वह क्वार का महीना था। खेतों की जुताई का चरम काल। उस दिन वे दिनभर खेत में बखर चलाते रहे और शाम को घर लौटे तो सबसे पहले उन्होंने बैलों को खनौटे पर बाँध कर सानी दी। उसके बाद खाना खाने भीतर पहुँचे, तो उन्हें चिमनी की पीली-धुंधली रोशनी में चौंके की परदिया हाल की बनी दिखी। उन्होंने उसे ध्यान से देखा तो उन्हें माटी की बनी परदिया में बने पाँच छेद दिखे। बिना किसी तरतीब और हिसाब के बने छोटे-बड़े पाँच छेद! उन्हें लगा कि वे छेद एक बराबर आकार और तरतीब से बने होते तो कलापूर्ण लगते! पाँच छेदों से एक फूल की आकृति भी बन सकती थी। कला तो कहीं भी हो सकती है। बस एक रचना-दृष्टि होनी चाहिए! प्रकृति में जो कुछ भी होता है वह कितना कलापूर्ण होता है! चाहे वह उगता हुआ पौधा हो या खिला हुआ फूल; चाहे वह बहती हुई नदी की धारा हो या आसमान से बरसती पानी की बूँदें...! उन्हें तो खेती का काम भी निहायत कलापूर्ण लगता था! उन्होंने देखा है कि एक-एक कूँड़ पर दिन भर चलते दो आदमी और दो बैल किस प्रकार ‘कूँड़ों की लकीरों’ की शक़ल में सौन्दर्य रच देते हैं! दो बैलों और दो मनुष्यों के द्वारा रचे गये उन्हीं तरतीबवार कूँड़ों पर बाद में पौधों के अँखुये निकलते और उसके बाद पाँत-दर-पाँत बड़ी फ़सल का रूप लेते हैं तो कितने कलापूर्ण लगते हैं।

पत्नी ने लाकर उनके सामने थाली रखी, तो उन्होंने उससे पूछा था, “ये परदिया आज बनी है?”

“हहाँ!” पत्नी ने कहा और उनकी ओर देखा।

“तुमने बनाई है?” उन्होंने उससे आगे पूछा।

“हहाँ!”

“जामें जे छेद बने हैं वे अच्छे लग रहे हैं?”

सुनकर पत्नी ने परदिया में अपने बनाए छेदों को देखा और कहा, “काये...?”

“जेई छेद जो चाहे कहुँ बना दिए हैं, अगर हिसाब सों बनाए जाते तो कितने अच्छे लगते!... चार छेद बराबर दूरी पे चौकोन बनाई के बीच में एक छेद बनाओ जातो तौ फूल-जैसौ दिखाई देतो!...” उन्होंने पत्नी से कहा था।

“मोड़ तौ जैसौ समझ में आओ, तैसौ बनाइ दओ!” पत्नी ने कहा।

“माटी और बची है कि नहीं?” उन्होंने पत्नी से कहा।

“आँहाँ... धरी है!”

“तौ ल्या, और जे सब छेद मूँद!” उन्होंने पत्नी से कहा, “ऐसी फूहड़ता मो ते देखी नहीं जाइगी!”

“काये?... छेद का लै रहे हैं तुम्हारौ?” पत्नी चिचियाई।

“तेरी तौ जैसी भोंड़ी अकल, वैसी ही भोंड़ी आवाज!... अब तोइ कहा बताऊँ कि जे छेद मेरौ कहा लै रहे हैं!...” उन्होंने कहा, “बन्द कर इन्हें... रोटी मोते तबई खाई जाएगी!... बदसूरती मोते देखी नहीं जाति!...”

सुनकर पत्नी भनभनाती और पैर पटकती बाहर निकल गयी और माटी का एक लोंदा लाकर छेदों को बन्द करने लगी थी।

जगदीप जी ने छेदों के भर जाने के बाद परदिया को एक बार फिर देखा था, और थाली में से रोटी का कौर तोड़ा था।

दरअसल उन्हें किसी भी तरह का भोंड़ापन बर्दाश्त न हो पाता था। वे उसे

देख नहीं सकते थे। यह उनकी बचपन से ही आदत बन गयी थी। जब वे स्कूल में पढ़ते थे, तब कॉपी में लिखते हुए कभी गलती या असावधानी से कोई शब्द गलत लिख जाने पर काटना पड़ता तो उन्हें उस समूचे लिखे हुए का ही मजा किरकिरा हुआ लगने लगता और तब वे उस पूरे पन्ने को ही कॉपी में से फाड़ देते और उसकी पूरी इबारत दोबारा लिखते— साफ़, शुद्ध और सुन्दर अक्षरों में। उनकी ज़िन्दगी में यह बात उसूल की तरह रही आयी कि वे जो भी काम करें, वह अच्छा ही हो! किसी भी काम में किसी भी तरह की कमी या खोट उन्हें बर्दाश्त के बाहर लगती रही आयी! उन्हें हर काम खूबसूरत और चाकचौबन्द ही अच्छा लगता रहा आया था।

और इसी कारण घर में एक युद्ध जारी रहा आया था। युद्ध— अँधेरे और उजाले के बीच...!

उत्तरकथा का मध्यपाठ

जगदीप जी पच्चीस के हो गये थे।

और उसी साल वे पिता बन गये थे। एक बेटे के पिता! घर में बेटा पैदा होने की बड़ी खुशी थी। वे खुश थे, अम्माँ खुश थीं...

‘खन्... खन्... खन्... खन्... खन्... खन्’ काँसे की थाली बजाई गयी थी उस दिन— द्वार पर उस वक्त्र, जब बेटा पैदा हुआ था। मोहल्ले में जहाँ तक उसकी आवाज़ पहुँची थी, वहाँ तक लोगों ने समझ लिया था कि जगदीप जी के यहाँ बेटा पैदा हुआ है! खुशी की बात है। लोग खुश हुए थे।

और जगदीप जी की खुशी बहुत बड़ी थी। इतनी बड़ी कि भीतर समाये न समा रही थी। पर उन्हें लोक-मर्यादा का ख्याल था, सो उनकी खुशी गुपचुप ही बनी रही थी।

पर द्वार पर लोगों की आमद शुरू हो गयी थी। वे खुशी का इजहार करते हुए उनसे कह रहे थे, “अरे, अब गुड़ बँटवाऊ जगदीप!”

उन्हें लगा था कि बात सही है! गाँव में हर ऐसी खुशी के अवसर पर ऐसा होता आया था। वे गुड़ बँटवाने के लिए इन्तज़ाम करने में लग गये थे। और गाँवभर के लिए गुड़-मिठाई लेने आने का न्यौता दिया गया था। अम्माँ ने अपने हाथों में भर-भर कर गुड़ दिया था लोगों को।

गाँव बहुत छोटा था वह— और घर, जिसमें बेटा पैदा हुआ था, ईंट की डेढ़ हाथ चौड़ी दुमदुमेनुमा दुछल्ली दीवारों का बना, पर खुशी बहुत बड़ी।

उन्होंने कुछ देर बाद ही बेटे का नाम रख दिया था मन-ही-मन— दिवाकर! यानी दिन करनेवाला! दिन अर्थात् उजाला! यानी उजाला करने वाला। दिन में जो पैदा हुआ था। सूरज की रोशनी में। अर्थ जानते थे वे ‘दिवाकर’ शब्द का। सूरज! जो रोशन करता है संसार को।

दो

...ठंड के दिन आ गये थे।

पुजारी बाबा के द्वार पर प्रायः बारहों महीने ‘रामायण’ बँचती थी। रामायण यानी तुलसीकृत रामायण— ‘रामचरितमानस!’ रामायण की पोथी तिखुटी पर रखकर एक मुख्य वाचक और उसके साथ चार-छह अन्य लोग सस्वर दोहे-चौपाइयाँ गाते हुए बाँचते थे। कुछ श्रोता भी ज़रूर होते थे वहाँ, जो पूरे भक्तिभाव और श्रद्धा के साथ सुनते थे। जगदीप जी भी वहाँ चले जाते थे।

जगदीप जी उस शाम को ‘रामायण’ सुनने गये थे और वहाँ से लौटे तो एक अनजानी-सी बेचैनी लेकर! वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि ऐसा क्यों है! पर इतना समझ पा रहे थे कि यह रामायण-वाचन के दौरान जो कुछ

हुआ उसी के कारण है। वह पूरी रात उन्होंने बेचैनी की नींद के साथ काटी। सवेरे जगे तो, पन्ना दुलकिया के मरने की खबर ने उन्हें हिलाकर रख दिया। और उनकी बेचैनी दोगुनी हो गयी। उस बेचैनी से निजात के लिए, वे समझ न पा रहे थे कि क्या करें। दिशा-मैदान के लिए गये तो देर तक खेतों पर टहलते रहे। लौटे, नहाये-धोये। खाना खाया। पर बेचैनी थी कि जैसे धीरे-धीरे उन्हें कुतर रही थी। अन्त में उन्हें लगा कि जो कुछ उन्होंने देखा और महसूस किया है, उसे लिख दें। और वे अपनी एक पुरानी कॉपी लेकर लिखने बैठ गये। कॉपी में वे लिख रहे थे—

सर्दियों की रात बड़ी लम्बी होती है, इसलिए कुछ समय काटने के लिए मैं पुजारी बाबा के द्वारे होने वाली ‘रामायण’ सुनने चला जाता हूँ। उस दिन ब्यालू करके ‘रामायण’ में जाने के लिए निकला ही था कि गली में लोगों का ताँता लगा दिखाई दिया। मैं पूछे बिना न रह सका, “कहाँ जा रहे हो भैया?”

“रामकथा सुनने!... थानेदार सा’ब की रामकथा है आज... तुम्हें नाँहि पतौ का!... बड़ौ शौक है बिन्हें... नामी गवैया हैं!”

सुनकर पहले तो आश्चर्य हुआ— थानेदार साहब और रामकथा! नितान्त बेमेल जोड़ी। दिमाग में अनेक सवाल उगे।

अन्ततः मैं जा पहुँचा रामकथा सुनने।

गैस-लालटेन की रोशनी फैली हुई थी पुजारी बाबा के दरवाजे पर। सब जगह बिछावन बिछाई गयी थी। थानेदार साहब सुन्दर और स्वच्छ गलीचे पर आसीन थे। उन्होंने उस समय अपने पुलिसिया अधोवस्त्र की बजाय छोट की लुंगी लपेट रखी थी; बेशक कमीज खाकी ही थी और उसके दोनों कन्धों पर जड़े ‘फूल’ थानेदारी का रोब जमा रहे थे। सामने वस्त्रावेष्टित रामायण की पोथी रखी थी। चौपाल श्रोताओं से पूरी भर चुकी थी।

यह सब मुझे कतई आश्चर्यजनक नहीं लगा, किन्तु उस समय मेरे अचरज का ठिकाना न रहा जब मैंने श्रोताओं की अप्रगणित में बैठे सरपंच मदनसिंह और पटेल गुरुदयाल को देखा। इनके साथ कुछ और लोग भी उपस्थित थे, जिन्हें मैंने कभी भी इसके पहले रामकथा में नहीं देखा था। मैं एक तरफ जा बैठा था।

खचाखच भर गयी सभा देख, थानेदार साहब बोले, “मैं हारमोनियम और ढोलक-मंजीरे की संगत में कथा कहूँगा।”

यह व्यवधान लोगों को अच्छा तो नहीं लगा, किन्तु म्याऊँ का मुँह कौन पकड़े। हारमोनियम, ढोलक, मंजीरे लाये गये।

हारमोनियम खुद थानेदार साहब ने सँभाला। मंजीरे एक और आदमी ने पकड़ लिये। किन्तु ढोलक बजाने वाला कोई न निकला तो थानेदार साहब ने पूछा, “ढोलक कौन बजाएगा?”

किसी ने हामी नहीं भरी। एक-दो बजाने वाले थे भी उस सभा के बीच, लेकिन वे थानेदार के संग बजाने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे।

“ढोलक को बजाउत है रे?” सरपंच ने पूछा।

“ढोलक तो पन्ना बाबा ही बजाइ सकें हैं!” एक व्यक्ति ने कहा।

“अच्छी बजाता है?” थानेदार ने पूछा।

“अरे, नामी बजैया है साब, नामी!” उसी व्यक्ति ने उत्तर दिया।

“तो बुलाओ उसे!” थानेदार ने आदेशात्मक लहजे में कहा।

“बो झाँ नइयाँ साब... बूढ़ौ है सत्तर बरस कौ... और अब तौ आँखीन सोंड नाँहि दीबात साइ।” एक व्यक्ति बोला।

“का आइ नहीं सकैगौ?” सरपंच ने पूछा।

“आइ तौ सकै है... पर लैबे-करबे जानों परैगौ।”

“तौ लै आऊ और कर आइयौ!” सरपंच ने कहा, “एक जनों जाउ जल्दी पन्नू ऐ लैबे।”

सुनकर एक युवक उठा और दौड़ गया पन्नू को लेने, दूसरे मुहल्ले।

और कुछ देर में युवक का हाथ थामे पन्नू ने वहाँ पहुँचते ही सबका अभिवादन किया, “राम-राम!” उत्तर में ‘राम-राम’ का समवेत उच्चारण हुआ। पन्नू को यथास्थान बैठाया गया और उसके हाथों में ढोलक दे दी गयी। ढोलक को सँभालते ही पन्नू की उँगलियाँ उस पर थिरकीं ‘धा-धी-धी-धिन’ थानेदार ने पन्नू की ओर देखा— आँखें तो निप्टेज थीं, पर झुर्रियों भरे चेहरे पर चमक थी।

पन्नू की उँगलियों में जादू-सा भरा है। जब वह ढोलक बजाता है, तो ढोलक बजती ही नहीं, अपितु नाचती और गाती भी है। ढोलक बजाते वक़्त वह तन्मय हो जाता है। इसका पुरस्कार उसे यह मिला हुआ है कि ढोलक उसके नाम के साथ जुड़ गयी है। पन्नू नाम वाले लाखों व्यक्तियों में भी ‘पन्नू ढुलकिया’ अकेला है।

थानेदार साहब ने रामकथा शुरू कर दी। पेटी पिपियाई। ढोलक ठनकी। मंजीरे खनके। गले ने उच्चारण किया—

एति बिधि गये कछुक दिन बीती। कहत बिराग ग्यान गुन नीती ॥

सूपनखा रावन के बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ॥

पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि विकल भइ जुगल कुमारा ॥...

रामकथा की चौपाइयों से चौपाइयाँ जुड़ीं। कथा श्रृंखला बढ़ी। हारमोनियम आवाज़ के साथ था। मंजीरे खनक रहे थे। ढोलक की थाप कानों को बरबस आकर्षित कर रही थी— अन्धे पन्नू की ढोलक पर थिरकती उँगलियाँ अपना करतब दिखा रही थीं।

थानेदार ने देखा, श्रोताओं के कान और आँखें ढोलक पर केन्द्रित हैं। उसने अपनी कमीज़ के कन्धों पर चमकते ‘स्टारों’ पर दृष्टि डाली; फिर मुँड़ासा बाँधे पन्नू के झुर्रियों भरे चेहरे, मैले-कुचैले कपड़ों और ढोलक पर बिजली की तरह नाचते हाथों को देखा।

कथा और आगे बढ़ी। सब बाजे बज रहे थे। एकाएक थानेदार की निगाह

सरपंच की ओर गयी— मदनसिंह पन्नू के ढोलक

पर नाचते हाथों को देख-देख कर

मोहित हो रहे थे। वे ढोलक की

ताल पर हल्के-हल्के झटके देकर

सिर मटका रहे थे। थानेदार ने वहाँ

मौजूद सब पर निगाह फेरी—

ढोलक का जादू सबके सिर चढ़

कर बोल रहा था। और

अचानक थानेदार के चेहरे

पर ईर्ष्या की लकीर

खिंच गयी। और

अगले ही पल सबकी

झक्की खुल गयी।

वजह यह कि थानेदार

सरोष दहाड़ रहा था,

“ए बूढ़े! अभी लपड़ मारूँगा सो होश में आ जाएगा... सही ठेका लगा!... किधर को चल रहा है?... ”

सुनकर पन्नू सहम गया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह कहाँ ग़लती कर गया है। उसके शरीर का लहू मानो जम गया था। वह अपनी अन्धी आँखों को फाड़ता हुआ इधर-उधर देख रहा था।

संगीत-रस और कथा-रस अनिभिन्न श्रोताओं की भी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि यह नौबत क्यों आयी। सब एक-दूसरे की ओर देख रहे थे।

“बजा!... अबकी गलती की तो...” थानेदार ने रोबोली आवाज़ में पन्नू से कहा, और हारमोनियम सँभाला।

थानेदार गा रहा था—

लछिमन अति लाघव सो, नाक कान बिनु कीन्ह।

ताके कर रावन कैह, मनो चुनौती दीन्ह ॥

हारमोनियम बज रहा था। ढोलक-मंजीरे साथ दे रहे थे।

कथा आगे बढ़ रही थी... कर्ण-नासिका हीन होने पर सूर्पनखा रोती-बिलखती अपने भाई रावण के पास पहुँची। रावण ने प्रतिरोध के लिए सीता को चुरा लेने का फैसला किया और मारीच के पास पहुँचा तथा उसे अपना मन्तव्य कह सुनाया। मारीच ने रावण को बहुविध समझाया कि व्यर्थ ही मेरी जान जाएगी और आप परेशान होंगे। पर रावण ने उसकी एक न सुनी तो वह स्वर्ण मृग बन गया...

अति विचित्र कछु बरनि न आई। कनक देह मनि रचित बनाई ॥

सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर वेषा ॥

सुनहु देव रघुवीर कृपाला। एति मृग कर अति सुन्दर छाला ॥

सत्य संघ प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति वैदेही ॥

तब रघुपति...

मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा ॥

थोनदार साहब हारमोनियम के स्वर-में-स्वर मिलाये जा रहे थे। मंजीरों से ज़्यादा मंजीरावादक की सिर मटक रहा था। अन्धा पन्नू सिर झुकाये ढोलक पर उँगलियाँ चलाये जा रहा था।

उसी समय गुरुदयाल पटेल ने अपनी जेब टटोली, उसमें से दो रुपये का नोट निकाला; उसे तर्जनी, मध्यमा और अँगूठे के बीच दबाया तथा खड़े होकर थानेदार साहब के निकट पहुँच उनके सिर पर घुमाया और न्यौछावर कर दिया। छबुआ नाई ने खड़े होकर शीघ्रता से अपने हाथ में सँभाल लिया और जेब के हवाले कर दिया। यह देखकर सरपंच मदनसिंह उठे और पाँच रुपये का नोट थानेदार साहब पर न्यौछावर कर यथास्थान बैठ गये। यह देखकर कुछ और लोगों ने भी यह ‘सत्कर्म’ किया और स्वयं को साहब का कृपा-पात्र बनाया। छबुआ की जेब गर्म हो रही थी।

रामकथा चल रही थी और संग ही न्यौछावर क्रिया भी। मंजीरा वादक का सिर हिलना कभी बन्द हो जाता तो कभी ताल पर, आन्दोलित। दृष्टिहीन पन्नू अवश्य ही निरपेक्ष भाव से ढोलक बजाने में मगन था। कुछ लोग अब भी उसकी ढोलक पर मुग्ध सिर हिलाये जा रहे थे।

थानेदार ने एकबारगी वहाँ मौजूद सभी श्रोताओं पर निगाह डाली। और वह जल कर खाक हो गया। उसने कनखियों से अपनी कमीज़ के कन्धों पर जड़े ‘स्टारों’ को देखा— गैस-बत्ती की रोशनी में चमक रहे थे।

और अगले ही क्षण एक अप्रत्याशित झटके से पन्नू लुढ़क कर चित्त हो गया। वजह यह कि थानेदार ने उसके कन्धे और छाती के बीच में ऐसा



धक्का मारा था कि ढोलक उसके हाथ से छूट कर अलग जा गिरी, पीठ फ़र्श पर जा लगी और पैर आसमान की ओर उठ गये। वह जल्दी-जल्दी उठकर बैठने की कोशिश कर रहा था, पर उठ नहीं पा रहा था। थानेदार बड़बड़ा रहा था, “ऐसी भोंड़ी ढोलक बजता है... अभी तक बजाई होगी ऐसी-वैसी के संग... कमीना सारा मजा किरकिरा किए दे रहा है !...”

और इसके साथ ही उसने कथा-समाप्ति की घोषणा कर दी थी, “कथा विसर्जन होत है...”

पन्नू जैसे-तैसे उठकर बैठ गया था, पर अब भी उसका शरीर काँप रहा था। बूढ़ा शरीर, फिर थानेदार का कोपभाजन! तिस पर हिमवर्षक जाड़ा! सबने देखा, अन्धी आँखों की कोरे भीगी थीं।

सहानुभूति और सरकार शक्ति के अनुगामी होते हैं। त्रस्त पन्नू को देख सब रहे थे लेकिन कोई उसे सान्त्वना देकर भव-मुक्त नहीं कर पा रहा था।

सरपंच ने जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला और थानेदार की ओर बढ़ा दिया। साहब ने सिगरेट निकाली और मुँह में खोंस ली। माचिस की तीली जली और धुआँ चारों ओर फैल गया। और लोगों ने बीड़ियाँ सुलगा लीं।

“रामकथा में तो मजा आइ गऔ!” एकाएक सरपंच बोले।

“साब, कमाल कौ सुरीलौ गलौ है आपकौ!” गुरुदयाल पटेल ने थानेदार की ओर मुखातिब होकर कहा।

कई लोगों ने साहब की प्रशंसा के पुल बाँध दिए। पहले जिन लोगों के सिर ढोलक की ताल पर मटक रहे थे वे ही अब साहब की तारीफ करने में हिल रहे थे।

“चलो, अब तो ठंड जोर मार रही है।” कहकर थानेदार उठ खड़ा हुआ, तो यह देखकर सभी लोग उठ खड़े हुए। मदनसिंह सरपंच आगे चले, थानेदार साहब उनके पीछे, गुरुदयाल पटेल बगल में। श्रोताओं की भीड़ ने गली के मोड़ तक साहब का साथ दिया। तदुपरान्त सब अपने-अपने ठिकानों की ओर चले। कुछ देर तक ‘रामकथा’, ‘थानेदार साब’, ‘मजा आइ गऔ’, ‘राम-राम’, ‘जयराम जी की’ आदि उच्चारण रात की फ़िजा में तैरते रहे। उसके बाद सब कुछ निःशब्द हो गया।... रात गहरा गयी थी। आसमान से ओस झर रही थी!

रात को सब थानेदार साहब के आगे-पीछे बने रहे और अन्धे पन्नू को उसके घर पहुँचाने की चिन्ता किसी ने नहीं की। परिणामतः भोर की पहली किरण उगने के साथ ही गाँव भर में पता लग गया था कि पन्नू दुलकिया रात भर ‘रामकथा’ की दरी पर ही पड़ा रहा और ठंड से ठिठुर कर मर गया!

लिख लेने के बाद जगदीप जी ने, अपने लिखे हुए को एक बार फिर पढ़ा, और उन्हें लगा कि उनके भीतर का बोझ-सा उतर गया है! शायद इसकी वजह वह थी कि उन्होंने अपने भीतर की पीड़ा को काग़ज़ पर उतार दिया था।

दिवाकर जिस साल नौ वर्ष का हो रहा था, उस साल उसका छोटा भाई पैदा हुआ था। इस बार भी घर में वैसी ही खुशी मनी, जैसी दिवाकर के जन्म पर मनी थी। अम्माँ ने इस बार भी गाँव भर के लिए गुड़-मिठाई बँटवाई थी। जगदीप जी ने अपने दूसरे बेटे के नाम के बारे में सोचा। उन्हें उसका नाम भी दिवाकर जैसा ही रखना था। उन्होंने उस तरह सोचा, तो प्रभाकर, विभाकर, सुधाकर उनके ज़ेहन में कौंधे। पर अन्ततः उन्हें पसन्द आया शुभंकर! शुभंकर यानी शुभ करने वाला।

दिवाकर जैसे ही पाँच साल का होकर छठवीं में पहुँचा था तो जगदीप जी उसे लेकर स्कूल में पहुँचे और उसका नाम लिखा आये थे। कुछ ही दिनों में वह स्कूल का नियमित विद्यार्थी हो गया था। पढ़ाई में बहुत तेज़ दिमाग़ निकला था। चीज़ें तत्काल याद कर लेता, लिखाई पूरी रखता था।

पाँचवीं बोर्ड परीक्षा उसने प्रथम श्रेणी में पास की; और विद्यालय में वह प्रथम रहा था।

गाँव का प्राइमरी स्कूल कुछ वर्ष पहले अपग्रेड होकर मिडिल हो गया था; और मिडिल स्कूल दो साल पहले उन्नत कर हाईस्कूल कर दिया गया था।

प्राइमरी पास करने के बाद दिवाकर ने मिडिल स्कूल में दाखिला ले लिया था। आगे चल कर मिडिल बोर्ड परीक्षा भी उसने स्कूल में अव्वल रहते हुए फर्स्ट डिवीज़न में ही पास की थी।

जगदीप जी भीतर-ही-भीतर खुश थे कि उनका बेटा मेधावी है। पर वे अपनी खुशी को कभी सतह पर न आने देते थे।

दिवाकर अब गाँव के हाईस्कूल में पढ़ता था, और उसकी पढ़ाई से स्कूल के सभी शिक्षक प्रसन्न थे। दिवाकर अकसर जगदीप जी से कहता था, “पापा, यहाँ पढ़ाई ठीक नहीं होती। शहर में पढ़ाई ठीक रहेगी।”

वे उसकी इच्छा समझते और कहते, “वो तो ठीक है पर शहर में पढ़ाई की अपनी व्यवस्था कहाँ है!... कहाँ रहोगे तुम?... खाने-पीने की और न जाने कितनी समस्याएँ हैं।...”

“कोरू समस्या नहीं होगी”, वह कहता, “खाना मैं बनाइ लेंगे।...”

पर उनका मन न मानता। वे टालते, “ठीक है, जा साल पूरी करौ... अगली साल देखेंगे... करेंगे कछू व्यवस्था।”

पर अगली साल आने में भी देर न लगी। दिवाकर ने गर्मी की छुट्टियों में ही कहा, “पापा, जा साल तौ शहर में ही भर्ती होंइगो!”

“देखेंगे...” उन्होंने उससे कहा।

उन्हें कभी-कभी तो झुँझलाहट होती कि बरखुरदार को शहर में पढ़ने की पड़ी है... वहाँ अकेला रहने पर कितना परेशान होगा, अभी इसका अन्दाज़ा नहीं है। उन्हें लगता कि उसे अपने साथ रखते हुए पढ़ाना ही बेहतर होगा।... और उनकी टालमटोल के साथ दिवाकर गाँव के स्कूल में ही बना रहा। पर हाईस्कूल बोर्ड की परीक्षा प्रदेश बोर्ड की थी, इसलिए परीक्षा-केन्द्र गाँव में न रहकर शहर में ही रहा। इसलिए परीक्षा के लिए वे उसे लेकर शहर में आये और परीक्षा पूरी होने तक उसके साथ रहे। शहर में परीक्षा देते हुए वह खुश था।

और हाईस्कूल बोर्ड के नतीजे में भी वह फिर अपने स्कूल में अव्वल रहते हुए फर्स्ट डिवीज़न से ही पास हुआ— तीन विषयों में डिस्टिंक्शन के साथ।

उसके बाद आगे की पढ़ाई के लिए गाँव में स्कूल था नहीं। इसलिए जगदीप जी ने गाँव छोड़कर शहर में जा बसना ही उचित समझा। वे अपने बेटे को अकेला शहर में नहीं भेजना चाहते थे; इसलिए परिवार सहित शहर में आ गये और किराये के एक कमरे में रहने लगे।

दिवाकर को एडमिशन शहर के सबसे अच्छे स्कूलों में से एक ‘आर.के.वी.एम. हायर सेकेंडरी स्कूल’ में दिलाया। शुभंकर उस वर्ष तीसरी कक्षा में आ गया था। गाँव के स्कूल से उसका एस.एल.सी. लेकर, शहर के ‘बालक मन्दिर प्राथमिक विद्यालय’ में उसे प्रवेश दिला दिया गया। दोनों बेटों का एडमिशन हो गया तो उन्होंने इतमीनान की साँस ली।

उसके बाद वे लगातार इस फ़िराक़ में बने रहे कि कोई छोटा-सा मकान

मिल जाए, तो गाँव की अपनी ज़मीन निकाल कर उसे खरीद लेंगे। और दो-तीन महीने के भीतर ही इतिफाक यह हुआ कि हाउसिंग बोर्ड की कॉलोनी में उन्हें एक छोटा-सा मकान मिल गया। वे उसे देखने पहुँचे तो पहली ही नज़र में वह उन्हें पसन्द आ गया। दो कमरे, एक किचन, लैट्रिन-बाथरूम और एक छोटा-सा आँगन। वह मकान उन्हें अपने परिवार के लिए बिल्कुल उपयुक्त लगा था। और उन्होंने बिना कोई देर किए अपना एक खेत बेचकर वह मकान खरीद लिया था और वे किराए के कमरे को छोड़कर अपने मकान में आ गये थे। उन्हें उस दिन भारी तसल्ली हुई थी कि अब उनका परिवार छोटे ही सही, पर अपने घर में है।

पर इस छोटे-से घर के बरअक्स उन्हें गाहे-ब-गाहे गाँव का अपना बड़ा और खुला-खुला घर याद आता। उस वक़्त वे सोचते कि यदि अम्मा जीवित होतीं, तो शायद वे अपना गाँव का घर छोड़कर शहर के इस छोटे-से घर में रहने आने के लिए कभी राजी न होतीं। समय की जैसी माँग होती है उसके हिसाब से स्थितियाँ-परिस्थितियाँ बनती और बदलती हैं। अम्मा दो साल पहले गुजर गयी थीं, और परिवार के लिए शहर जाने का रास्ता साफ़ कर गयी थीं।

कई महीने बीत गये थे शहर में आये हुए। पर गाँव जगदीप जी का पीछा न छोड़ता था। उनका अपना वह गाँव, जिसमें पैदा होकर वे पले-बढ़े ही न थे; बल्कि जिसने उन्हें ऐसे अनुभवों से समृद्ध किया था जो जीवन की पूँजी कहे जा सकते हैं और जो किसी शहर में किसी को कभी हासिल नहीं हो सकते।... वह गाँव जिसमें उन्होंने मनुष्य की जीवट और मेहनत को देखा था; जिसमें उन्होंने साक्षात् गरीबी को देखा था; जिसमें उन्होंने अमीरी और अन्ध्याय को देखा था; जिसमें उन्होंने पोंगापन्थ और अन्धविश्वास को देखा था; जिसमें उन्होंने भाईचारे और वैमनस्य की हदें देखी थीं। वही गाँव जिसके कारण वे बाबूलाल से मिल पाए थे— बाबूलाल, जो खुद ही अपना अतीत था और खुद ही अपना भविष्य भी!... उस दिन जगदीप जी ने गाड़ी में पाल तानकर, मंडी में ले जाने के लिए गेहूँ भरे थे और मौकसी बाँधकर द्वार पर रख दिए थे... रात नौ बजे उन्होंने बैलों को सानी दी थी और सो गये थे। उसके बाद ठीक डेढ़ बजे रात को उनकी आँख खुली थी, और वे उठकर मंडी को चलने की तैयारी में लग गये थे। दो बजे के आसपास उन्होंने बैलों को गाड़ी में नह दिया था और चल पड़े थे मुरार गल्ला मंडी के रास्ते पर। सवेरे नौ बजे तक उन्हें मंडी में पहुँचना था— बोली लगने से पहले— तकरीबन ग्यारह मील बैलगाड़ी हाँक कर।

गाँव बाहर पहुँचे तो आसमान पर चन्द्रमा खिला हुआ था और आसपास उसकी चाँदनी बिखरी हुई थी। कच्चा रास्ता धूल भरा था; पर रात की ठंडी खुनक के कारण धूल ऊपर उठ नहीं रही थी। 'धच्-पच्', 'धच्-पच्' करती बैलगाड़ी आगे बढ़ती रही थी और रात भर चलते-चलते सवेरे नौ बजे के आसपास मंडी में जा पहुँची थी।

मंडी में बोली लगनी शुरू हुई थी साढ़े नौ बजे। एक गाड़ी के बाद दूसरी गाड़ी पर पहुँचते व्यापारी उसमें भरी जिंस की बोली लगाते और आगे बढ़ जाते थे। अभी इस तरह बोली चल ही रही थी कि बोली लगने वाली गाड़ी के आसपास अचानक हल्ला हुआ और लोगों का जमघट लगने लगा था। यह देखकर जगदीप जी भी वहाँ पहुँचे थे तो उन्होंने देखा था कि एक आदमी गाड़ी की बगल में पड़ा है और एक युवक कभी उसकी नाड़ी पर हाथ रखता है कभी उसकी नाक के पास हाथ लगा कर उसकी साँसें चलना जाँचता है। वह युवक ही बाबूलाल था, जिसका बाप अभी-अभी अपने गेहूँओं की

आखिरी बोली सुनकर मर गया था। अपने बाप के भरी मंडी में मर जाने के बाद भी बाबूलाल की आँख में एक आँसू नहीं था, बल्कि उसके चेहरे और आँखों में हताशा पसरी हुई थी; क्योंकि वह जानता था अपने बाप की मौत का कारण! जगदीप जी को उसने जो कुछ बताया था उसे सुनने के बाद वे सहज नहीं रह गये थे। वे गेहूँ बेचकर अपने गाँव लौट आये और एक बार फिर बेपनाह बेचैनी की गिरफ्त में थे। उसी तरह एक दिन गुजरा, फिर दूसरा दिन गुजर गया। तो उन्होंने अपनी बेचैनी से निजात के लिए वही नुस्खा आजमाया जिसे वे एक बार पहले भी आजमा चुके थे। वे अब काफी के पन्नों पर बाबूलाल की बीती लिख रहे थे—

बाबूलाल की बात सुनकर उसके बाप गंगादीन की छाती जुड़ा गयी थी उस रात। जैसे वर्षों से प्यासे और सूखे भूखंड पर शीतल जल का स्रोत बह निकला हो, "बापू, तुम दूसरे के घर काम करते हो और अपना खेत रामदीन जोतता है और बदले में आधा नाज ले लेता हर साल... अब सरपंच की नौकरी छोड़ दो बापू... अपनी ही खेती करो... मैं तुम्हारे संग काम करूँगा।" बाबूलाल कह रहा था।

बेटे की ओर देखकर बाप का रोम-रोम पुलक से भर गया था। दिन भर की थकान काफूर हो गयी थी। ढिबरी की रोशनी में झुर्रियाँ भरा चेहरा उजला हो उठा था। बेटे की बात क्षण भर को किसी प्यारी सुगन्ध की तरह तन-मन में बस गयी थी— सही कहता है बाबू!

लेकिन अगले ही क्षण बाप के चेहरे का रंग उतर गया था। उसके भीतर से एक बात उठी, "पर बाबू, सरपंच की नौकरी छोड़िबौ इतनों आसान है का, जितना तू समझ रहा है?... सरपंच कौ अहारा मन नाज खाओ है हमनें जा साल... और जब तक हिसाब चुकता नहीं होइगौ तब तक नौकरी छूटना मुश्किल है!"

सुनकर बाबूलाल के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, "कितने पइसा होइंगे उनके?"

"जे तौ वे ई जाने!"

"हम मेहनत करके उनका कर्ज पटाएँगे... चैत आ रहा है... फ़सल की कटाई करेंगे... मैं, रामरती और अम्मा— तीनों!"

बाप ने कुछ नहीं कहा।

बाबूलाल के दिल में हुलास था और छटपटाहट थी मुक्ति पाने की, सो होली बीतने पर जैसे ही फ़सल कटना शुरू हुई वह माँ और बहिन सहित सरपंच के खेतों पर लग गया था।

वह पहला दिन था कटाई का, तथा बाबूलाल और रामरती के लिए मेहनत का। दिन भर हँसिये गेहूँ के डंठलों पर चलते रहे और लाँक का ढेर करते रहे। शाम होते-होते थकान के मारे शरीर ढह गये दोनों के। रात में नींद पता नहीं कब आ गयी। दूसरे दिन सवेरे उठना दूभर हो गया था। पोर-पोर में दर्द था! दिन भर की मेहनत ने अलस शरीरों को तोड़कर रख दिया था! पर कटाई पर तो जाना ही था! दूसरे दिन फिर वही! "... राम-राम, घाम है कि बवाल है!" कई जुबानों से सुना जाता। चैत की दुपहरी। ज़रा भी हवा रुक जाती तो सारा शरीर पसीने में नहा जाता और लगता कि दम घुटता है, प्राण निकले जाते हैं। लेकिन फिर भी हँसिये गेहूँओं को चर-चर काटते हुए आगे बढ़ते जाते थे।

दिन मुँदने पर चैन की साँस मिलती थी।

उन दिनों गंगादीन काफी रात गये घर आता था। तब तक बाबूलाल और रामरती सो गये होते थे।

फ़सल की कटाई बाबूलाल के दिमाग में एक सवाल पैदा कर बन्द हो गयी। एक रात गंगादीन से उसने पूछा था, “बापू, जो लोग दिन-रात मेहनत करते हैं वे ही भूखों मरते हैं, और जो कुछ नहीं करते वे मौज उड़ाते हैं— ऐसा क्यों होता है?”

कटाई का हिसाब हुआ, तो तीन जनों की चौदह दिनों की मजदूरी ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर भी न हुई। विशम्भर सिंह सरपंच ने कहा, “अठारा मन के सवाई के हिसाब से हुए अठारा और साढ़े चार— साढ़े बाईस मन... जिसमें से मजदूरी के घटाए तीन मन छै किलो; बचे उनइस मन चौदह किलो! हिसाब चुकता कर दे, और तुझे दिखे सो कर!”

सुनकर दिल बैठ गया गंगादीन का। कैसे? कहाँ से कर दे हिसाब चुकता? छुटकारा नहीं हुआ— दूसरी फिर तीसरी साल तक भी। चौथी साल जाकर हिसाब चुकता हुआ।

बैसाख की उस दुपहरी में धरती का ज़र्रा-ज़र्रा तप रहा था। तेज धूप शरीर पर तैयों के से डंक मार रही थी। शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था, पर गंगादीन के पैर धरती पर न लगते थे। सब कुछ जैसा का तैसा था— मैले-कुचैले बंडी-पंचा, सूखे-से व धूल-भरे हाथ-पाँव लेकिन उसके झुर्रिये चेहरे पर एक ख़ास क्रिस्म की दमक थी उस दिन।

डाक-बोली अभी तक नहीं लगी थी; अलबत्ता बानगी सवेरे ही आकर ले गया था आढ़तिया। पाल की मोंकसी खोलकर गेहूँ की बानगी तस्ती में डालते हुए गंगादीन के स्वर में हुलास था, “इकदानियाँ नर्वदा हैं सेठ जी, माटी की तौ एक छट भी नहीं मिलैगी।” आढ़तिया चुपचाप बानगी लेकर चला गया था। उसके कुछ देर बाद गंगादीन ने बाबूलाल से कहा था, “बाबू, कलेऊ कर लें अब।” बाबूलाल गाड़ी पर ही बैठा था। उसने सँभाल कर रखे कलेऊ के झोला को बाप की ओर सरकाकर कहा था, “कर लेउ!” गंगादीन भी गाड़ी पर बैठ गया और उसने कलेऊ खोला था। दो पराँटे बाबूलाल के सामने रख दिए उसने, साथ में पिसा हुआ नमक। दो ख़ुद ले लिए। कल दोपहर ही कह दिया था उसने बाबूलाल की अम्माँ से, “पराँटे डाल दियो, तेल नहीं होइ तौ आध सेर गेहूँ दे दे रामरती को, ले आएगी... अन्त-गाँव रोटी अच्छी नहीं लगैगी... और फिर जाने कौन के भाग्य ते घर की खेती हुई है, घर में गेहूँ आये हैं और मंडी में बेचिबे जाइ रहे हैं... गिनती के बारा बहुत हैं— छै-छै दोनों कौ।”

दो-दो पराँटे पलक झपकते खा लिये बाप-बेटे ने। “एकाध और?” बाप ने बेटे से पूछा। बाबूलाल ने सिर हिला दिया। गंगादीन ने बाकी पराँटे बाँधकर फिर से झोले में रख दिए और कहा, “चार-चार गेहूँ बिकिवे के बाद खाइ लेंगे।” दोनों ने भर पेट पानी पी लिया था।

तब से बाबूलाल गाड़ी पर ही बैठा था, पर गंगादीन ने बैलों की सानी सँभाल दी थी। उस पर हर बार एक-एक मुट्ठी चून भुरक दिया था। कई बार प्यार से पुट्टे थपथपाये थे बैलों के, पुचकारा था उन्हें।

मंडी में कुल गाड़ियाँ पन्द्रह-बीस से ज्यादा नहीं हैं— ये देखकर तसल्ली हो रही थी उसे। उसने बाबूलाल से कहा था, “बाबू, आज मंडी में गाड़ी तौ कम आयी हैं— पन्द्रा-बीस से जादा नहीं होंइगी... अच्छै भाव मिल जाइगी।”

थोड़ी देर में मंडी के व्यापारी इकट्ठे हुए और एक-एक कर गाड़ियों पर बोली लगने लगी। एक गाड़ी की बोली टूटती और व्यापारी अगली गाड़ी पर पहुँच जाते। आढ़तिया गाड़ी के ऊपर चढ़ जाता। आसपास व्यापारी मधुमक्खियों की तरह झिमट जाते। गाड़ी में भरे अनाज के दाने हथेलियों पर

उछालते, आँखों से परखे जाते, दाँतों से कुटके जाते। बोली आगे बढ़ती रुपयों में, आधे रुपयों में, फिर पाव रुपयों में आगे सरकती और अन्ततः टूट जाती!

उनकी गाड़ी का नम्बर आया तो आढ़तिया गाड़ी पर चढ़ गया था। उसने गंगादीन से पाल की मोंकसी खोल देने को कहा था। गंगादीन ने पाल का मुँहाना ढीला कर दिया था। गेहूँ बाहर झाँकने लगे थे— जगमग-जगमग! आढ़तिया ने आवाज़ लगाई थी, “नर्वदा गेहूँ! इकदानियाँ नर्वदा!” गंगादीन और बाबूलाल एक ओर साँस साधकर खड़े हो गये थे। देखें, किस भाव जाते हैं उनके गेहूँ!

गेहूँ अनेक मुट्ठियों में पहुँच गये थे— छिटकते हुए, फैलते हुए। उछाले जा रहे थे, परखे जा रहे थे एक व्यापारी ने इशारा किया तो आढ़तिया ने पहली बोली लगाई, “एक सौ दस!”

सुनकर गंगादीन के चेहरे पर राख-सी पुत गयी, बाबूलाल की कनपटी पर तमाचा-सा लगा।

एक और व्यापारी ने कहा, “एक सौ पन्द्रह!”

“एक सौ बीस!” तीसरे ने कहा।

“एक सौ बाईस!” चौथे ने कहा।

“पच्चीस!”

बोली बढ़ रही थी... और फिर बोली टूट गयी। गाड़ी के ऊपर खड़ा आढ़तिया गला फाड़ रहा था, “इकतीस एक-इकतीस दो, इकतीस तीन! एक सौ इकतीस, एक-दो-तीन!” व्यापारी आगे की गाड़ी की तरफ बढ़ गये थे। आढ़तिया गाड़ी से नीचे उतर आया था।

और गंगादीन को झमा-सा आया तो वह जहाँ खड़ा था वहीं ज़मीन पर बैठ गया। बाबूलाल ने देखा तो कहा, “क्या बात है बापू?” जवाब में गंगादीन बुद्बुदाया था, “नहीं जे नहीं हो सकैगौ... जा भाव नहीं जाएँगे गेहूँ, जा भाव ते कैसेँ पटैगौ कर्ज!”

सुनकर बाबूलाल का भी दिल बैठ जा रहा था। उसके सामने ही तो कहा था विशम्भर सिंह सरपंच ने, “बेटा खेती करना चाहता है तो बेटे से लिखा दे टीप, तभी मिलेगा बैलों के लिए कर्ज! लिखा दे बेटे से कि कर्ज अदा नहीं हुआ तो अपने शरीर से अदा करेगा।”

तैयार थे दोनों... टीप लिखी थी बाबूलाल ने... दस्तखत किए थे विशम्भर सिंह की बही में। कर्ज अदा नहीं हुआ तो वह विशम्भर सिंह के यहाँ नौकरी करके देह से अदा करेगा।

विशम्भर सिंह ने कहा था, “बीज के लिए गेहूँ लोगे तो सवा दो सौ रुपया क्विंटल है बीज... और बीज पर सवाई लगेगी।”

“देंगे सवाई।” गंगादीन ने कहा था, “खेती करी है तौ बीज तौ ऐरनों ही पैरौगी।”

बीज लिया था सवा दो सौ रुपये क्विंटल। सवाई पर। सवाई, यानी सौ के सवा सौ।

“पर बेचने की बारी आई तो एक सौ इकतीस रुपैया क्विंटल। क्यों? आखिर क्यों? उतनी मेहनत की इतनी कीमत। कैसा अँधेर है जे! जब अमीर गरीब को बेचता है तो मुँह माँगे दाम लेता है, जब अमीर गरीब से खरीदता है तो मनचाहे दाम देता है। कैसी अन्धेरगर्दी है जे!” गंगादीन कह रहा था।

गंगादीन ने बाबूलाल के मुँह की ओर देखा था— एक आत्मीयता से भरी बेचैन निगाह से। और अचानक एक चीख-सी निकली मुँह से, “नहींSSS ईSSS...!” इतनी ज़ोर से कि पूरा मुँह फट गया। दाँत एक ख़ास मुद्रा में

दिखाई दिए। चेहरा बिगड़ गया। शरीर थर-थर काँपते हुए एँठ गया और लकड़ी की तरह जड़ होकर पसर गया। यह देखकर बाबूलाल चिल्लाया था, “बापू!” और बाप को उठाने के लिए लपका था, लेकिन बाप की तब तक साँसें थम चुकी थीं।

और भरी मंडी में बाप को मरा हुआ देखकर बाबूलाल की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, आँखों की कोरों तक गीली न हुई; क्योंकि उस समय उसके सामने बाप का वर्तमान नहीं; बल्कि अतीत था जो उसे अपना भविष्य नज़र आने लगा था।

लिख लेने के बाद जगदीप जी को राहत महसूस हुई थी।

उत्तरकथा का मूलपाठ

शहर आने के बाद जगदीप जी दिवाकर के पीछे-पीछे थे। वह जो चाहता, वे वही करते। उसकी हर इच्छा पूरी करने के लिए हमेशा तत्पर रहते। ट्यूशन, किताबें, कपड़े, जूते, पैसे— जब जिस चीज़ की ज़रूरत हो, तुरन्त पूरी करते।

दिवाकर ने हायरसेकेंडरी बोर्ड परीक्षा भी अव्वल रहकर ही पास की— डिस्टिंक्शन नम्बरों के साथ।

उसके बाद एक दिन उसने उनसे कहा, “पापा, मैं पी.एम.टी. देना चाहता हूँ।”

“ठीक है!” उन्होंने उसकी ओर देखा था।

“उसके लिए इस साल कोचिंग ज्वाइन करना पड़ेगी।”

“कोचिंग?”

“हाँ...”

“ठीक है...”

“कोचिंग की फ़ीस चार हजार रुपये पर सब्जेक्ट है...” उसने आगे कहा था।

“चार हजार रुपये पर सब्जेक्ट!... तो इतने पैसे की तो व्यवस्था...” कहते हुए वे हकलाये थे, फिर बोले, “इतने पैसे की तो व्यवस्था करनी पड़ेगी...”

दिवाकर ने उनकी ऊहापोह को भाँपते हुए कहा था, “पापा, मुझे हर हाल में मेडिकल में ही जाना है।”

“ठीक है...” जैसे उनके मुँह से अपने-आप निकल गया था। पर वास्तव में वे उस समय एक अँधेरे सोच में डूबे थे।

बहुत देर में उनके भीतर रोशनी की किरण कौंधी थी... अपना तीन बीघा का खेत निकाल देंगे वे।

और वही करके उन्होंने दिवाकर की कोचिंग की फ़ीस जमा कराई थी। उसके बाद वह फिजिक्स, कैमिस्ट्री, जुलोजी, बॉटनी— चारों विषयों की कोचिंग लेने जाने लगा था।

कोचिंग के अलावा, घर पर भी वह पढ़ाई के लिए रात-दिन एक कर रहा था— यह देखकर उन्हें अच्छा लगता था।

और फिर देखते-देखते वह घड़ी आ गयी जिसके लिए उसने इतनी मेहनत की थी। सबसे पहले ऑल इंडिया पी.एम.टी., उसके बाद एम्स का टेस्ट और आखिर में स्टेट पी.एम.टी उसने दिए थे। उसके बाद इन्तज़ार था इन टेस्टों के रिज़ल्ट का। सबसे पहले रिज़ल्ट आया ऑल इंडिया पी.एम.टी. का, जिसमें उसकी ऑल इंडिया रैंक अंडर ट्वेंटीफाइव थी। जगदीप जी की खुशी का उस दिन ओर-छोर न था। अगले दिन शहर की प्रतिभा के रूप में

दिवाकर अख़बार के पन्नों पर था। घर में खुशियों का अम्बार लग गया था। घर का बेटा डॉक्टर बनने की राह पर चल पड़ा था। कुछ दिनों बाद स्टेट पी.एम.टी. में भी उसका चयन हो गया था। पर उसने ऑल इंडिया पी.एम.टी से दिल्ली के मेडिकल कॉलेज में एडमिशन लेने का निश्चय किया था। उसकी ऑल इंडिया रैंक पच्चीस के भीतर होने से दिल्ली का कोई भी प्रेस्टीजियस कॉलेज उसे मिलना निश्चित था।

काउंसलिंग के समय उसके साथ जगदीप जी भी दिल्ली गये थे। यह उनका पहली बार दिल्ली-दर्शन था। दिल्ली सड़कों पर दौड़ रही थी; दिल्ली अनेक मंजिली इमारतों में बैठी आसमान से बातें कर रही थी। और जगदीप जी उस भागती-दौड़ती, चमकती-बिछलती, आसमान से बातें करती दिल्ली को देखकर लगभग पेशान थे कि ऐसे और इतने बड़े शहर में दिवाकर अकेला कैसे रह पाएगा। अभी महज उन्नीस साल की उम्र, और ऐसी दिल्ली।

बहरहाल, काउंसलिंग हुई और उसे दिल्ली के मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज में सीट मिल गयी थी; फ़ीस जमा करने और एडमिशन लेने की तारीख़ बता दी गयी थी। उसके बाद वे लौटे और उसके वहाँ रहने के सामान और एडमिशन-फ़ीस वगैरह के इन्तज़ाम में लग गये थे।

एडमिशन के लिए तय तारीख़ से एक दिन पहले दिवाकर को दिल्ली जाना था। उस दिन वे, यह सोचकर कि सारी व्यवस्था खुद कराके आएँगे, फिर उसके साथ दिल्ली गये थे। ट्रेन ने सुबह नयी दिल्ली रेलवे-स्टेशन पर उतार दिया था। वहाँ के रिटायरिंग-रूम में नहा-धोकर तैयार हुए। उसके बाद कॉलेज की ओर चले। कॉलेज पहुँचकर एडमिशन की फार्मेलिटीज़ पूरी करवायीं, फ़ीस जमा करवाई। हॉस्टल में कमरे के लिए वार्डन से मिले। कमरा मिल गया। पर कमरे पर पहुँचकर पता लगा था कि रैगिंग चल रही है। शाम को खासकर रात में रैगिंग होती है, तो वे दिवाकर के लिए चिन्तित हो उठे। अगले दिन उन्हें लौटना था, दिवाकर की चिन्ता के कारण, उसे वहाँ अकेला छोड़ आने को वे अपने-आप को तैयार नहीं कर पा रहे थे। पर बहरहाल उन्हें लौटना तो था ही, सो लौट आये थे।

जिस दिन वे दिवाकर को दिल्ली में छोड़कर लौटे थे, उस दिन की अपनी हालत को वे खुद ही जानते हैं। अपने उस बेटे को, जो गाँव के संस्कारों में पल कर बड़ा हुआ था, दिल्ली जैसे महाशहर में अकेला छोड़ना उनके भीतर न जाने कितनी आशंकाओं को पैदा कर रहा था। पर इसके साथ एक यही बात उन्हें तसल्ली पहुँचा रही थी कि उनका बेटा कहाँ (गाँव) से कहाँ (दिल्ली) पहुँच गया है।

दिल्ली से लौटकर घर आ गये थे जगदीप जी। पर घर में दिवाकर की अनुपस्थिति उन्हें सालती रहती थी— घर का एक कोना सूना-सा लगता था उन्हें। लौटते वक़्त वे दिवाकर को हिदायत दे कर आये थे कि वह लगातार और जल्दी-जल्दी उन्हें पत्र लिखा करे और पहला पत्र एक-दो दिन में ही लिख भेजे। इसलिए दो दिन निकलते ही वे उसके पत्र का इन्तज़ार करने लगे थे। उन दिनों मोबाइल फोन का चलन आम नहीं हुआ था— उसे पैसे वालों की चीज़ समझा जाता था। निचले-बीच के आदमी के लिए तो एस.टी.डी. कॉल करना भी लगभग अय्याशी करने जैसा था। पत्र लिखने का ख़ूब चलन था। इसलिए वे उसे कम-से-कम हर हफ़्ते एक पोस्टकार्ड लिखने की सलाह देकर आये थे। और हफ़्ते भर के भीतर ही उन्हें दिवाकर का पोस्टकार्ड मिला था। दिवाकर ने लिखा था—

नयी दिल्ली
25.8.1998

आदरणीय पापा,
सादर चरण स्पर्श!

मैं यहाँ ठीक हूँ। क्लासेज लगने लगी हैं। मुझे जो कमरा मिला है उसमें मेरा रूम-मेट हरियाणा का है। वह मेरा दोस्त बन गया है। रैगिंग ज्यादा नहीं है। आप कोई चिन्ता न करें।

आपका पुत्र
दिवाकर वर्मा

और उसके बाद, इसी तरह का छोटा-सा महज राजी-खुशी का पोस्टकार्ड वह सप्ताह में एक जरूर लिख कर भेज देता था।

जगदीप जी जवाब में उसे लम्बा पत्र लिखते थे— बड़े कागज पर। और लिफाफे में रखकर भेजते थे।

दिवाकर के 15.11.98 के पोस्टकार्ड के जवाब में, उन्होंने 20.11.1998 को लिखा था—

प्रिय दिवाकर,
खुश रहो।

तुम्हारा पोस्टकार्ड मिला है। वहाँ रैगिंग ज्यादा नहीं हो रही है, यह जानकर मेरी चिन्ता कम हुई है। तुमने बिजली के बिल (Paid Bill) की फोटो कॉपी भेजने को लिखा है, वह इस पत्र के साथ संलग्न है। सिंगल रूम के लिए अप्लाई करते वक्त यह ध्यान रखना कि कमरा खुले-खुले माहौल का व सुविधाजनक हो।

मुझे चिन्ता हो रही थी दिल्ली में यदि तेज सर्दी पड़ने लग गयी होगी तो तुम उसका सामना कैसे कर पा रहे होगे जबकि तुम्हारे पास एक साधारण कम्बल भर है। मैंने तुमसे कहा यह था कि कम्बल के साथ 'खादी भंडार' वाली गर्म लोई भी लेते जाना। मगर वह लोई तो यहीं है। पर तुमने लिखा है कि वहाँ अभी मध्यम मौसम है— यह राहत की बात है। तुम जब दिसम्बर में आओगे तब तुम्हारे लिए एक अच्छी-सी रजाई की व्यवस्था करूँगा। संग ही सम्भव हुआ तो एक बिस्तरबन्द की भी। मगर इस बीच यदि दिल्ली में तेज सर्दी पड़ने लग जाए, तो तुम किसी 'खादी भंडार' की दुकान पर जाकर एक अच्छी-सी लोई खरीद लेना। कम्बल के साथ उसे मिलाकर कैसी भी सर्दी का मुकाबला किया जा सकता है। बाद में रजाई का प्रबन्ध हो ही जाएगा।

तुमने अपनी पढ़ाई और व्यस्त दिनचर्या के बारे में लिखा है। मुझे यह जानकर खुशी है कि तुम एक अच्छे शिक्षण संस्थान में पढ़ाई कर रहे हो। थोड़ी-सी परेशानी जरूर महसूस करते होगे; क्योंकि घर से दूर होने के कारण ऐसा सम्भव है। पर ये परेशानियाँ और तकलीफें ही आदमी के भविष्य का एक बेहतरीन नक्शा तैयार करती हैं। इसलिए इन छोटी-मोटी परेशानियों से क़तई घबराना नहीं है तुम्हें। किसी और तरह की तुम्हारी कोई व्यक्तिगत परेशानी हो तो मुझे बताने में बिल्कुल मत हिचकना। कहीं यह सोचकर कि दिल्ली में अध्ययन का चुनाव तुम्हारा था (और मैं उसमें शामिल नहीं था। तुम चुपचाप अपनी परेशानियों और दिक्कतों को मुझसे छिपाते रहो। बेशक मेरा अपना एक अलग सोच है, हर चीज़ को देखने-समझने का एक अलग नज़रिया है— और इसी नज़रिये के तहत मैंने उस समय तुम्हें अपने निर्णय पर पुनर्विचार के लिए कहा था। लेकिन इसका यह अर्थ बिल्कुल भी नहीं है कि मैं तुम्हारे निर्णय से असन्तुष्ट हूँ। मैं पूरी तरह से तुम्हारे निर्णय के साथ हूँ। बल्कि मुझे तो इस बात का फख्र होता है कि तुमने अपनी पढ़ाई और

मेहनत के बल पर देश की एक श्रेष्ठ शिक्षण-संस्था में प्रवेश की पात्रता अर्जित कर प्रवेश लिया है। तुम हमेशा यह मानकर चलना कि तुम्हारी खुशी में ही मेरी खुशी है।

कमरे में ट्यूब-बत्ती की कमी और जरूरत तुम्हें महसूस होती होगी। ट्यूब खरीद कर लगवा लेना। मगर इलेक्ट्रीशियन से ही। खुद लगाने का प्रयास मत करना; क्योंकि वहाँ के विद्युत सर्किट की तुम्हें जानकारी नहीं होगी।

खाने-पीने के बारे में बिल्कुल लापरवाही मत बरतना। इस बाबत किसी तरह का लोभ करने की जरूरत नहीं है। मौसमी फल (जो भी उपलब्ध हो सके) ले लिया करो। खाने-पीने पर इन अतिरिक्त खर्चों की बिल्कुल चिन्ता मत करना। इन्हें मैं वहन कर लूँगा।

पैसे तो तुम्हारे पास अभी होंगे। यदि किसी कारणवश आवश्यकता हो तो लिखना। और हाँ, अपने-आप को अकेला बिल्कुल महसूस न करना। जब भी तुम्हें मेरी जरूरत होगी, तुम्हारा टेलीग्राम पाते ही मैं तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा।

अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखना। पहनने के गर्म कपड़े तुम्हारे पास हैं— उन्हें पहनने में कोताही नहीं बरतना।

यहाँ सब ठीक-ठाक हैं— खुशहाल हैं। सारे काम अपनी रूटीन के अनुसार चल रहे हैं।

पत्र लगातार लिखते रहना। हफ़्ते में एक पोस्टकार्ड तो निश्चित ही। मेरे जवाबी पत्र तुम्हें न मिलें, तब भी। क्योंकि हम लोगों की चिन्ता तुम्हें करने की जरूरत नहीं है; पर घर से बाहर होने के कारण तुम्हारी चिन्ता तो मुझे रहती ही है; और उससे मुक्त होने का माध्यम तुम्हारे लगातार आने वाले पत्र ही हो सकते हैं।

इस पत्र के मिलते ही मुझे पत्र लिखना।

तुम्हारी निरन्तर खुशी और तरक्की की कामना के साथ,

तुम्हारा पापा

इस तरह से पत्रों का सिलसिला चल रहा था और बीच-बीच में दिवाकर का आना-जाना भी। पैसा ख़त्म होने पर वह अकसर चला आता था। कभी मनीऑर्डर से माँगवा लेता था। अलबत्ता कभी हाथ तंग होने के बावजूद वे उसे पैसों के लिए मना नहीं करते थे। तब उन्हें यही लगता था कि यह पिता का एक जरूरी कर्तव्य है, जिसे पूरा करना ही चाहिए। दिवाकर जब भी दिल्ली से घर आता था, तब घर में उसकी आबभगत किसी मेहमान की तरह होती थी। खाने के लिए नयी सब्जियाँ, खीर, हलवा और पूरियाँ उसके लिए जगदीप जी की हिदायत पर बनाए जाते थे। वे सोचते थे कि मैसे में पता नहीं कैसा खाना मिलता होगा।

इस बीच एक बार फिर जगदीप जी भी दिवाकर के साथ जाकर दिल्ली हो आये थे। यह दिल्ली जाना पहले के (दिवाकर के एडमिशन के वक्त के) दिल्ली जाने से बिल्कुल अलग जैसा था। उस वक्त एडमिशन की चिन्ता और हबड़-दबड़ में उन्होंने जैसे दिल्ली को देखा ही नहीं था। पर इस बार वे फुरसत में दिल्ली गये थे। साथ में शुभंकर को भी ले गये थे। वह कक्षा आठ की सम्भागीय बोर्ड की परीक्षा देकर निबट चुका था और उसकी गर्मी की छुट्टियाँ चल रही थीं।

ताज एक्सप्रेस ने रात साढ़े दस बजे हज़रत निजामुद्दीन स्टेशन पर पहुँचा दिया था। दिवाकर ने वहाँ से कॉलेज-हॉस्टल जाने के लिए बस देखी थी। लेकिन उस वक्त कोई बस नहीं मिली थी। इसलिए ऑटो-रिक्शा ही लेना पड़ा था। ऑटोवाला 80 रुपये माँग रहा था और दिवाकर 50 रुपया कह रहा

था। आखिर 60 रुपये पर तय हुआ था और हॉस्टल की ओर चले थे। स्टेशन और हॉस्टल के बीच जो दिल्ली दिखाई दी थी, वह रात और रोशनियाँ ओढ़े हुए थी। हॉस्टल का कमरा जगदीप जी को पसन्द आया था। सेकेंड फ्लोर पर था। बड़ा, ट्यूब-बत्ती से रोशन, हल्के गुलाबी रंग से पुती ऊँची दीवारों वाला, सफेद रंग से पुती छत से लटके-घूमते पंखेवाला! खाने के लिए उस वक़्त कैटीन में जो भी कुछ उपलब्ध था, वही ले आया था दिवाकर— समोसे और ब्रेड-स्लाइस। घर से कुछ मीठा बनवा कर ले गये थे वे। तीनों ने समोसे, ब्रेड और घर का मीठा खाया और वाटर कूलर से बोतल में भरकर लाया गया पानी पी लिया था। जगदीप जी और शुभंकर के लिए कमरे में बिछे बेड पर सोने की व्यवस्था हो गयी। दिवाकर ने कहा, “मैं किसी और के कमरे में जा कर सो जाता हूँ।”

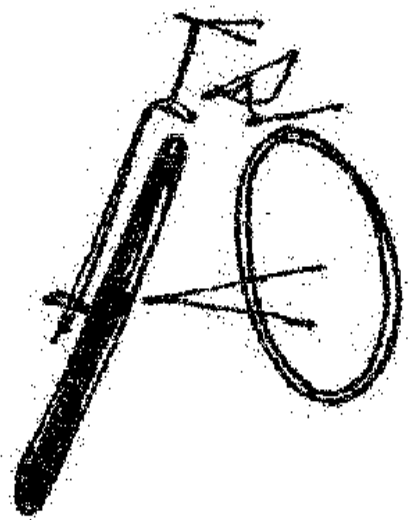
“किसके कमरे में?... कहाँ?” जगदीप जी ने पूछा था।

“यहीं है... बगल में ही।”

“ठीक है... जाओ सो जाओ।”

सवेरे नहा-धो तैयार होकर, कैटीन में नाश्ता लिया था, चाय पी थी, और दिल्ली घूमने निकल पड़े थे। कॉलेज-कैम्पस के गेट से बाहर सड़क पार करते ही ‘खूनी दरवाज़ा’ था। जगदीप जी ने रुक कर उस इमारत पर चिपके पत्थर पर लिखी इबारत को पढ़ा था। फिर आगे बढ़े थे। आगे दिल्ली खुली-खुली और चौड़ी सड़कों वाली थी। सड़कों पर चल रही बसें दौड़ती थीं, रुकती नहीं थी; ‘स्टॉप’ पर भी दौड़ती हुई ही रुकती थीं। उसी स्थिति में चढ़ पाओ तो चढ़ जाओ, नहीं तो खड़े देखते रह जाओ। मशक्कत से बस में चढ़े— ‘राजघाट’— राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की समाधि देखने के लिए।

और फिर उस दिन दिल्ली का वह सब देखा था, जिसके लिए दिल्ली जानी जाती है। लाल क़िले से लेकर कुतुबमीनार तक; चार लेन सड़कों से लेकर आकाशचुम्बी इमारतों तक; ऐश्वर्य से सजीधजी अभिजात्य कॉलोनियों से लेकर गन्दगी से बजबजाती झुग्गी बस्तियों तक। उस दिन जगदीप को मुग़ालता हुआ था कि उन्होंने दिल्ली को देख लिया है। दरअसल वह तो चेहरा था दिल्ली का। चेहरे के पीछे की दिल्ली तो उन्होंने देखी ही नहीं थी।



और उसे देख पाना क्या इतना आसान है कि उसमें एक ही दिन लगे। जगदीप जी को अब लगता है कि दशाब्दियाँ क्या शताब्दियाँ लग जाएँ तब भी चेहरे के पीछे की दिल्ली को देख पाना सम्भव नहीं हो पाएगा।

बहरहाल, ऐसी दिल्ली से, चार साल तक दिवाकर के आने-जाने, एवं ‘आदरणीय पापा, सादर चरणस्पर्श’ से शुरू व ‘आपका पुत्र दिवाकर’ पर ख़त्म तथा संक्षिप्त मजमून वाले उसके पोस्टकार्डों के आने का सिलसिला देरसवेर चलता रहा था। पर एम.बी.बी.एस. की आखिरी साल में वह सिलसिला रुक गया था। उस साल न वह खुद एक भी बार घर आया था, न ही उसका कोई पोस्टकार्ड। जगदीप जी सोचते थे कि पढ़ाई के बोझ व व्यस्तता के कारण फुरसत नहीं मिल पाती होगी। यह उसकी इंटर्नशिप का साल था, जिसमें शासन के नियमानुसार स्टूडेंट्स को हर माह एक निश्चित रकम भत्ते के तौर पर मिलने लगती है।

जगदीप जी को दिवाकर से चिट्ठी-पत्री का सम्पर्क टूट जाना अख़रता रहता था। वह एक गहरे धुँधलके का दौर था। न पूरा अँधेरा, न पूरा उजाला। ऐसा धुँधलका, जिसमें कुछ दीखता था और बहुत कुछ अनदीखा भी रह जाता था। कुल मिलाकर यह कि उसमें समय की परछाईं आकार न ले पाती थी।

उस धुँधलके के बीच जगदीप जी एक उधेड़बुन में लगे रहते थे। वे खुद को समझाते कि उसे अब हर महीने इंटर्नशिप का भत्ता मिलता है, इसलिए वह अब किसी पर निर्भर नहीं है; और फिर मेडिकल की पढ़ाई की व्यस्तता। नहीं निकाल पाता होगा समय...

और इसी तरह धीरे-धीरे पूरा साल होने को आया था कि साल के आखिर में एक दिन उसकी चिट्ठी मिली थी— लिफ़ाफ़े में बन्द चिट्ठी। इसके पहले उसकी कोई भी चिट्ठी लिफ़ाफ़े में कभी नहीं आयी थी। हमेशा पोस्टकार्ड ही आता था। पर यह चिकने काग़ज़ का लिफ़ाफ़ा था। लगभग एक साल में आयी उस चिट्ठी को पाकर जगदीप जी प्रसन्न थे। और उन्होंने अपनी इसी प्रसन्नता के अतिरेक के साथ लिफ़ाफ़ा खोला था तो उसके भीतर हल्के आसमानी रंग के काग़ज़ पर दिवाकर की लिखावट थी—

न्यू डेल्ही (अँग्रेज़ी में लिखा गया था)

(तारीख़ लिखी गयी थी)

आदरणीय पापा,

(सादर चरण-स्पर्श नहीं लिखा गया था जैसाकि पहले आने वाले हर पोस्टकार्ड पर लिखा आता था)

इस बीच एक लम्बे अरसे से आपसे पत्राचार नहीं हो सका— इसके लिए आशा है क्षमा करेंगे।

आज मैं आपसे बहुत सारी बातें करना चाहता हूँ, जिन्हें किसी कारणवश मैं अब तक आपसे नहीं कर सका हूँ। पर अब यह सब बता देना मेरी मजबूरी है।

पापा, यहाँ मैंने जिस तरह रहकर पढ़ाई की है, वह मुझे इन्फ़ीरियरिटी फीलिंग देता रहा है। यहाँ पढ़ने वाले लड़के अपनी कारों से आते रहे हैं। होस्टल में रहने वाले अपनी गाड़ियाँ रखते रहे हैं। किसी के पास मारुति है, किसी के पास इंडिका, किसी के पास मटीज़। और मेरी हालत यह कि मेरे पास एक अदना स्कूटर या बाइक भी नहीं रही। कई लड़के अपने-अपने कमरों में फोन लगवाये हुए हैं, कुछों के पास मोबाइल है... लड़के हज़ार-हज़ार की जींस और इम्पोर्टेड शर्ट्स पहनते हैं।... पर मैं अपने लिए क्या कर सकता था। मैं जानता था कि हमारी वैसी हैसियत नहीं है। पर लोगों को

इससे कभी मतलब नहीं रहता। वे तो ऊपर देखते हैं, भीतर नहीं।...

आप जानते हैं कि आज चमक-दमक का ज़माना है। आई.टी का युग है यह... वी आर लिविंग इन अ ग्लोबल विलेज टुडे। दुनिया बहुत छोटी हो गयी है आज। पैसा पानी की तरह बहाया जाता है आज। और तभी यह दुनिया इज़्जत देती है। यदि आपके पास पैसा नहीं है, तो आप किसी काम के नहीं।... मैंने एक दिन अपने फ्रेंड के साथ यहाँ के होटल इंटरकांटीनेंटल में लंच किया था उसके पापा आये हुए थे। वे एक बहुत बड़े सरकारी अधिकारी हैं। उन्हीं के साथ मेरा फ्रेंड मुझे ले गया था। मैं वहाँ का नज़ारा देखकर दंग रह गया था— क्या होटल भी ऐसा भव्य हो सकता है! फाइव स्टार होटल की भव्यता क्या होती है, मैंने उस दिन देखी। और पापा, सच बताऊँ तो मेरे जॉस-शर्ट वहाँ पहुँच कर और फीके हो गये थे।... मैं एक बार फिर इंफोरियरिटी फीलिंग से भर उठा था।...

और यदि मैं आपको सच बताऊँ तो मुझे अपना घर और लिविंग स्टैंडर्ड कभी भी अच्छा नहीं लगा। मुझे हमेशा लगता रहा है कि हम, जैसे गरीबीरेखा के नीचे वाले लोग हैं। कुछ भी तो नहीं है हमारे पास।... मेरे पास तो मेरी अपनी क्षमताओं और योग्यताओं के अलावा कुछ भी नहीं है। पर कौन देखता है योग्यताओं को, क्षमताओं को यदि आपके चेहरे पर चमक नहीं है; यदि आपके इर्द-गिर्द पैसे का चमत्कार बिखरा हुआ नहीं दिखता है।

मेरा एम.बी.बी.एस. कम्प्लीट हो गया है। अब मैं एक डॉक्टर बन गया हूँ। पर यही मेरी मंज़िल नहीं है। मैं अब पी.जी. के लिए ट्राई करूँगा। मैं अब कुछ करके दिखाना चाहता हूँ। मैं आपकी जैसी जिन्दगी तो नहीं जी सकता— लगभग नीरस, निर्धन और निष्फल जिन्दगी। आप शायद उस जिन्दगी की कल्पना भी नहीं कर सकते, जिसको मैं साकार करना चाहता हूँ।

सादर

आपका पुत्र
दिवाकर वर्मा

पत्र को हाथों में पकड़े हुए जगदीप जी हक्के-बक्के थे। उनकी आँखों के सामने का धुँधलका, उस वक्त और सघन हो उठा था, जिसके बीच पत्र में लिखे अँग्रेज़ी शब्द चक्कर काट रहे थे— 'इंफोरियरिटी फीलिंग', 'मारुति', 'मटीज़', 'ईडिका', 'बाइक', 'आई टी', 'मोबाइल', 'ग्लोबल', 'इंटरकांटीनेंटल', 'लिविंग स्टैंडर्ड'...। उनका माथा चकराने लगा था।

उन्होंने उसी हालत में एक बार फिर नये सिरे से पत्र को पढ़ा। उनकी आँखों में इस बार पत्र की शुरुआत के ही शब्द चुभे— 'न्यू डेल्ही'। और अचानक उन्हें लगा कि न्यू डेल्ही कोई शहर नहीं, बल्कि एक कारखाना है, जिसमें इनसानों की सीरत बदली जाती है। आगे के शब्दों पर वे फिर ठहर गये— 'आदरणीय पापा!' जिनके आगे 'सादर चरण-स्पर्श' नहीं लिखा था। और वे अपने-आप से पूछ रहे थे— किस बात के आदरणीय? किस काम के लिए आदरणीय?... सिर्फ एक औपचारिकता निभाने के लिए ही ना?... वे फिर आगे बढ़े और दुबारा पूरे पत्र को पढ़ते हुए उसके अन्तिम वाक्य पर जा ठहरे। अब उनके भीतर जैसे कुछ टूट रहा था।... पर उन्होंने अपने-आप को सँभाल लिया था।

यह पहली बार था कि जगदीप जी को दिवाकर के पत्र का जवाब लिखने की होश न थी। अलबत्ता उन्हें यह ज़रूरी लग रहा था कि पत्र का जवाब ज़रूर लिखें। पर फिलहाल उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या लिखें। वे दो दिनों तक इसी सोच-विचार और ऊहापोह में बने रहे थे।

और अन्ततः उन्होंने दिवाकर को लिखा—

प्रिय दिवाकर,

तुम्हारा पत्र मिला है। पढ़ लिया। कुछ अच्छा लगा, कुछ अच्छा नहीं लगा। हमारी जो आर्थिक स्थिति है उसके हिसाब से मैं तुम्हारे लिए जो कुछ कर सकता था वह मैंने किया है। फिर भी कुछ कमियाँ तो रहीं ही। तुमने लिखा है कि 'कौन देखता है योग्यताओं को, क्षमताओं को, यदि आपके चेहरे पर चमक नहीं है, यदि आपके इर्द-गिर्द पैसे का चमत्कार बिखरा हुआ नहीं दिखता है।' सही लिखा है तुमने। पर उसमें इतना जोड़ लो कि इनसान के बड़े होने या छोटे होने को नापने का कोई पैमाना नहीं हो सकता।... बहुत सम्भव है कि किसी 'बड़े' कहे जाने वाले आदमी के भीतर एक बहुत छोटा आदमी बैठा हो; और 'छोटे' कहे जाने वाले व्यक्ति के भीतर बहुत बड़ा आदमी। तब पैसे के चमत्कार के कोई मायने नहीं रह जाते।... यदि 'बड़े', 'छोटे' होने का कोई आधा-अधूरा पैमाना है भी तो इस तहकीकात में कि उस आदमी के सोच-विचार में 'मनुष्यता' का दर्जा कहाँ है? और कहाँ है भी कि नहीं? चेहरे पर कितनी भी चमक लाता हो पैसा, पर वह मनुष्य से बड़ा कभी नहीं हो सकता।... ठीक है, पैसा भी कुछ है इस दुनिया में, पर इसका अर्थ यह नहीं कि पैसा ही सब कुछ है या पैसा ही माई-बाप है।

इच्छाएँ तो मुँह फाड़ती हैं— उस साँप की तरह, जिसके मुँह में उसके आकार से दोगुना, चौगुना, कई गुना आहार आसानी से समा जाता है। पर मनुष्य को उन सर्पमुखी इच्छाओं के ज़हरीले दाँत उखाड़ फेंकने होते हैं।

हमारे अपने इस देश में अधिसंख्य ऐसे लोग रहते हैं जिन्हें छोटी-छोटी समस्याओं— यहाँ तक कि अपनी दो समय की भूख के समाधान के लिए बड़ी-बड़ी तकलीफों का सामना करना पड़ता है, बड़े-बड़े पापड़ बेलने होते हैं। मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगों की तकलीफों और मुसीबतों को जो व्यक्ति ज़रा-सा भी कम कर पाता है, वह बिना चमक के चेहरे के बावजूद 'बड़ा' आदमी होता है।

मुझे उम्मीद है कि तुम इस तरह से भी सोचने की कोशिश करोगे।

हमेशा तुम्हारी प्रसन्नता की कामना के साथ,

तुम्हारा पापा

लिख लेने के बाद जगदीप जी ने पत्र को एक बार फिर पढ़ा, लिफाफे में रखा और वे उसे लेटरबॉक्स में डालने के लिए पोस्ट-ऑफिस की ओर चल दिए थे।

दिवाकर को पत्र भेजने के दो दिन बाद जगदीप जी उसके जवाबी पत्र का इन्तज़ार करने लगे थे। पर दिवाकर का पत्र उन्हें मिला पूरे दो महीने बाद। वह भी उनके पत्र का जवाब न होकर, यह सूचना लिए हुए था कि प्रवेश-परीक्षा के परिणाम के अनुसार उसका पी.जी. के लिए चयन हो गया है। जगदीप जी के लिए यह सूचना भी खुशी की थी। उन्हें इस बात की जानकारी थी कि पी.जी. स्टूडेंट्स को पूरी अवधि भर एक निश्चित रकम हर महीने मिलती है। इसी पत्र में उसने यह सूचना भी थी कि अगले महीने वह मोबाइल फोन ले लेगा और साथ में यह भी लिखा था कि 'आप भी मोबाइल फोन ले लें जिससे कि पत्र लिखने में समय बर्बाद करने की बजाय कभी भी और कहीं भी सम्पर्क की सुविधा हो सके।'।

और वह अगला महीना भी आ गया जिसमें दिवाकर ने मोबाइल फोन ले लिया था और उसी से उसने जगदीप जी से बात की थी। तरीका यह रहा कि पासवाले एसटीडी-बूथ वाले को उसने जगदीप जी को बुलाने और बात करवाने

के लिए कह दिया था। घंटी बजते ही जगदीप जी ने रिसीवर कान से लगाया और 'हलो' कहा, तो उस पर दिवाकर की आवाज़ थी, "अपने ही मोबाइल से बात कर रहा हूँ, साढ़े चार हजार का आया है... अब आप भी मोबाइल ले लो, जिससे बूथ पर जाना बन्द हो।... और हाँ, मेरी 'सेलरी' अभी बीस हजार और समथिंग है।... आप किसी तरह आज ही मोबाइल खरीद लो..."

जगदीप ने कहा था, "हाँ, ले लेंगे..." पर उन्हें सचमुच खुशी इस बात की थी दिवाकर को महीने के बीस हजार मिलते हैं। बीस हजार कोई छोटी रकम नहीं होती। वे खुशी से फूले न समा रहे थे।

दो दिन बाद जगदीप ने मोबाइल ले ही लिया। तीन हजार का आया था। उस दिन उन्होंने घर के भीतर से ही दिवाकर से बात की थी।

जगदीप जी उस दिन 'उत्तर आधुनिक' पढ़ रहे थे। अभी कुछ देर पहले ही वे पुस्तक-मेले से लौटे थे। फूलबाग मैदान में राष्ट्रीय-पुस्तक मेले को लगे चार दिन हो गये थे। पढ़ने-लिखने के अपने शौक से मज़बूर वे आज पुस्तक-मेले गये थे। उत्सुकता थी कि कौन-कौन-सी किताबें आयी हैं मेले में। देर तक घूमते रहे थे वे स्टाल-दर-स्टाल। तभी एक स्टाल पर उनकी निगाह एक किताब पर गयी थी— 'उत्तर आधुनिक'। किताब का नाम था 'उत्तर आधुनिक'। उन्होंने किताब उठायी और खोलकर देखी। अगले पन्ने पर लिखा था— 'उत्तर आधुनिक' और उसके नीचे— 'उत्तर आधुनिक समय से वाबस्ता चन्द कहानियों का संग्रह'। जगदीप जी ने पन्ना पलटकर किताब का मूल्य देखा और दुकानदार से पूछा, "कितने की है...?"

दुकानदार ने कीमत बतायी और जगदीप जी ने तत्काल किताब खरीद ली थी। एक अरसे से दो शब्द अपनी विदेशी और देसी पोशाक के साथ उनके सामने आते रहे थे— 'पोस्टमॉडर्निज़्म' यानी 'उत्तर आधुनिकता' और 'ग्लोबलविलेज' यानी 'विश्वग्राम'। उनके सामने समस्या शब्दों और उनके अर्थों की नहीं, बल्कि आशय की थी; उन शब्दों से मुराद क्या है, समझने की थी। शब्द सामने हों, और उनके आशय स्पष्ट न हों तो कैसी विचित्र स्थिति में फँस जाता है आदमी, इसे जगदीप जी इस तरह कहते रहे हैं— "जैसे पानी के भीतर रहते हुए भी प्यास न बुझ पाए!" और ऐसी स्थिति से निजात पाने की खातिर ही उन्होंने खरीदी थी— 'उत्तर आधुनिक', जो उत्तर आधुनिक समय से सम्बन्धित कहानियों का संग्रह थी।

जगदीप जी घर आकर अपनी कुर्सी पर बैठे 'उत्तर आधुनिक' की पहली कहानी पढ़ रहे थे।

नरभक्षी

उनके भीतर सवालियों की भीड़ थी...

और बीस-इक्कीस दिनों की बेतरतीब-सी उगी दाढ़ी ने उनके चेहरे को दार्शनिकों की-सी सूरत दे रखी थी। पर उन्हें गोया इसका पता ही न हो! इन दिनों वे अपने-आप से बहुत दूर चले गये थे। हमेशा से रोज सवेरे समय पर शेविंग करना उनकी दिनचर्या के शुरुआती कामों का हिस्सा रहा आया था। पर उस एक 'घटना' ने सब कुछ उलट-पुलट कर रख दिया था; और तब से वे सारी दुनिया से बाखबर मगर खुद से बेखबर होकर रह गये थे और उनके भीतर सवालियों की एक गुथमगुथी भीड़ थी जो उन्हें चैन न मिलने देती थी...

उन्होंने अपनी अब तक की ज़िन्दगी को गोया तराश कर चमकदार बनाया हुआ था... यह अनुशासन का नतीजा था— जीने के अनुशासन का, जो उन्हें

विरासत की तरह भी मिला था और आदत की तरह भी। लोगों का ख्याल है कि उनके खानदान को अनुशासन एक मूल्य की तरह मिला रहा आया था और यही वजह रही आयी कि वह देश के उन गिने-चुने घरानों में से एक रहा आया जो अपनी तरह के पाक-साफ़ रहे आये और जिनके साथ कोई ऐसी-वैसी बात कभी नहीं जुड़ सकी।... अपने पिता का कहा उन्हें हमेशा याद रहा आया था, "देखो जगदीश, अनुशासन जीवन की लय है।... अगर मनुष्य की ज़िन्दगी से अनुशासन को निकाल दिया जाए तो कितनी बदसूरत हो जाएगी वह ज़िन्दगी!... दुनिया के ज़र्रे-ज़र्रे में पैवस्त अनुशासन ही उसे सुन्दर बनाता है।... नहीं तो, यदि पेड़ से उसका फल बड़ा दिखाई दे तो कैसा लगेगा? मनुष्य के शरीर में उसका प्रत्येक अंग एक निश्चित अनुपात और सामंजस्य के साथ होता है— और जहाँ यह अनुपात और सामंजस्य गड़बड़ता है वहीं बदसूरती आ बैठती है... भेंगी आँखों वाला आदमी कैसा लगता है— देखा है?... पर अनुशासन बाहर का ही नहीं भीतर का भी होता है...!" कहकर उन्होंने अपनी सारंगी पर निगाह डाली थी और उसके समतल चिकने हिस्से पर धीरे-से हाथ फेरा था, जैसे किसी छोटे और मासूम बच्चे को दुलार रहे हों, "अब मेरी इस सारंगी को देखो, इसका यदि एक तार अपना अनुशासन खो बैठता है तो यह कितनी बेसुरी हो जाती है, बताने की ज़रूरत नहीं। तब इसे सुधारा जाता है, ठोक-पीट कर ठीक किया जाता है।" कहकर उन्होंने अपनी चमकती आँखों से उन्हें, यानी अपने बेटे को इस तरह देखा था जैसे जाँच रहे हों कि उनके कहे का कुछ असर उस पर हुआ है कि नहीं।

उनके पिता मशहूर सारंगीवाज़ थे। जब वे अपना साज़ बजाते थे तो दुनिया को भूल जाते थे। उन्होंने अपने खानदानी परम्परागत हुनर को आगे बढ़ाया था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही संगीत की परम्परा का हुनर! वे गाते भी बहुत सुर के साथ थे। पर अपने बेटे के प्रति इस मायने में अत्यन्त कठोर थे कि उसे एक अच्छे इनसान के रूप में देखना चाहते थे और इसकी खातिर, उससे ज़रा-सी लापरवाही— जिसे वे अनुशासन टूटना कहते थे— होते ही, अपने सारे लाड़-प्यार को भूलकर उसे अपने हाथों थपड़ों से पीट डालते थे। इस मामले में वे किसी भी क्रिस्म की कोई ढील बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और इसका परिणाम ऐसा सुखकर आया कि आगे उनका बेटा जगदीशशरण, अनुशासन की तनी हुई डोरी पर चलने में लगातार सफल रहा। वह अपने सुर-साधक पिता को इस तरह से सुखी करता हुआ, अपने-आप को उनका कृतज्ञ महसूस करता कि उन्होंने एक अच्छे पिता की भूमिका का निर्वाह करते हुए उसे एक अनुशासित, मेहनती और अच्छा इनसान बनाने में कोई कसर न छोड़ी।

और 'वह' अब 'वे' हो चुका था।

हालाँकि पिता के जीते जी ही देश की हवाएँ बहुराष्ट्रीय आँधी में बदलने लगी थीं और दुनिया एक गाँव कही जाने लगी थी, और समय को 'उत्तर आधुनिक' नाम का चमकीला परचम थामे चलता पाया जाने लगा था और मनुष्य की हैसियत एक वस्तु के बराबर रह गयी आँकी जाने लगी थी; पर उनके कलाकार का मन अपनी सारंगी के साथ होता था और उनका इस सबसे कुछ लेना-देना नहीं बन पाया था।

पर जगदीशशरण न 'पिता' थे न ही पिता—जैसे कलाकार। वे दुनियादार थे। अलबत्ता पिता के अनुशासन से गहरे जुड़े। उन्होंने अपना पैतृक और पारम्परिक, संगीत का संसार नहीं अपनाया था; बल्कि उसकी एवज़ में उन्हें समय के हिसाब से ठीक लगा था कि वे ऐसा काम करें जो आने वाली पीढ़ी

को भी कुछ दे और जिसके चलते उनकी अपनी आजीविका भी आसानी से चलती रहे। उन्होंने शिक्षण का पेशा अपनाया था— छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाने का काम।

वे पहली से लेकर पाँचवीं कक्षा तक के बच्चों को पढ़ाते थे और नाकाफी तनख्वाह के बावजूद खुश थे कि वह कर पा रहे थे जो करना चाहते थे। अनुशासन से उन्होंने अपनी जिन्दगी को अपने पिता की सारंगी के तारों की तरह कस रखा था, और अपनी जिन्दगी के अनुशासन को वे अपने विद्यार्थियों तक पहुँचाने में कोई कोर-कसर नहीं रखते थे— गोया कागज़ के पन्नों पर मौजूद पाठ के हर एक वाक्य की व्याख्या पर पूर्णविराम जिन्दगी और उसके अनुशासन का ही होता था।

स्कूल बेशक प्राइवेट था। और वह शहर की एक झुग्गी बस्ती में था। ज़ाहिर है उसमें पढ़ने आने वाले बच्चे निचले तबके के थे। इस स्कूल में काम करते हुए उन्हें लगभग दस साल होने जा रहे थे।

स्कूल 'जनाकांक्षा' नाम की एक समाजसेवी संस्था के द्वारा चलाया जा रहा था जिसमें पढ़ने आने वाले बच्चों से कोई फीस नहीं ली जाती थी। यह कुछ ऐसे लोगों के एकजुट हो जाने से बनी संस्था थी जिनके सपने रंगबिरंगे नहीं बल्कि धूसर, दुनियावी और उनकी अन्तरात्मा की पसन्द के थे। 'जनाकांक्षा' विद्यार्थियों से फीस न लेते हुए भी अपने साथ कुछ प्रतिबद्ध—जैसे शिक्षकों को जोड़े हुए थी जो कम से कमतर वेतन लेकर अपने मन का काम यानी शिक्षण कार्य करने के लिए राजी थे। मसलन, जगदीश शरण...! संस्था ने स्कूल के शिक्षकों एवं कर्मचारियों के लिए यथासमय अन्य सुविधाएँ उपलब्ध करा रखी थीं— उन्हीं में से एक थी 'बीच की छुट्टी' में उपयोग के लिए संचालित कैटीन...।

उस समय वे 'बीच की छुट्टी' के दौरान कैटीन में थे। उनके पास बैठे मुकुन्द माट्साब ने चाय पीने के दौरान, अपने भीतर की पतली-सी आशंका की झलमली को उनके साथ शब्दों में बाँटना चाहा और कहा, "शरण बाबू, सुनने में आ रहा है कि यह स्कूल जल्दी ही बन्द हो जाएगा।"

"क्यों?" मुकुन्द माट्साब की बात सुनकर उनके मुँह से जैसे अपने-आप निकल गया और वे मुकुन्द माट्साब के चेहरे पर गौर से देखने लगे कि उन्होंने यह बात किस प्रयोजन से कही है और वहाँ कुछ गम्भीर-जैसा नज़र आ रहा है या यों ही-सा कुछ!

पर मुकुन्द माट्साब के चेहरे और आँखों में फिक्र और उदासी का पारदर्शी घोल फैला हुआ था और वे अब उनके 'क्यों?' का जवाब देने की कोशिश कर रहे थे, "सुनते हैं, कुछ लोग इस जगह पर मल्टी स्टोरी बनाना चाहते हैं... शॉपिंग कॉम्प्लेक्स...! इस जगह को करोड़ों-अरबों के कारोबार में बदलना चाहते हैं वे।" कहकर उन्होंने अपने सामने बैठे शरण बाबू के चेहरे पर इस आशय के साथ देखा कि वे इस बारे में क्या सोचते हैं, और अपनी बात को आगे बढ़ाया, "आप तो जानते हैं शरण बाबू, उस लिहाज़ से इतनी जगह कितनी कीमती है।"

मुकुन्द माट्साब से यह सब सुनकर उनके भीतर एक चकराहट-सी घूमने लगी थी। उनके मुँह से फिर निकला, "यह किसने बताया आपको?"

"अरे, दो-चार दिनों से तो बहुत उड़ रही है यह बात... अपने स्टाफ के ज़्यादातर लोग इस बारे में बात करते हैं..." मुकुन्द माट्साब ने जवाब दिया।

सुनकर उन्होंने मुकुन्द माट्साब से कहा, "पर 'जनाकांक्षा' वाले इसके लिये राजी हैं क्या?"

"देखो", मुकुन्द माट्साब बोले, "उस तरह तो यह ज़मीन किसी की नहीं है... सरकारी है।... और यह 'जनाकांक्षा' जैसी गरीबों और आमलोगों के लिए काम करने वाली समाजसेवी संस्था के नाते, सरकार ने उसे उपयोग के लिए दे रखी है... या पता नहीं कैसे क्या है।... पर इतना मुझे मालूम है कि है यह सरकारी ज़मीन ही!" कहकर उन्होंने शरण बाबू के चेहरे पर नज़रें गड़ाते हुए कहा, "पर ये मल्टीस्टोरी बनाने वाले कौन लोग हैं और इस सरकारी ज़मीन पर ऐसा कैसे हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता...!"

सुनकर जगदीश शरण के भीतर से अचानक उनके भीतर का दुनियादार प्रकट हुआ, "होने को आज के समय में क्या नहीं हो सकता?... कुछ भी हो सकता है!" पर यह कहते हुए उनके चेहरे पर निश्चिन्तता का उजास नहीं था जो कि वहाँ प्रायः रहा करता था।

और चाय खत्म होने के साथ ही दोनों उठ खड़े हुए थे।

उसके बाद के दिनों में कई तरह की ख़बरें उनके कानों तक आती रहीं... कभी सुनाई देता कि 'जनाकांक्षा' वालों से 'उन' लोगों का सौदा पट गया है और कुछ दिनों में स्कूल बन्द कर दिया जाएगा; और यह जगह 'उन' लोगों के लिए ख़ाली कर दी जाएगी? कभी किसी के मुँह से सुनने को मिलता कि 'उन' लोगों ने 'जनाकांक्षा' स्कूल-प्रबन्धन को धमकी दी है कि...? कभी कोई बताता कि 'जनाकांक्षा' वालों ने स्कूल बन्द कर जगह छोड़ने से साफ़ इनकार कर दिया है कि...। इसी प्रकार की अनेकमुँहों बातें। कभी कुछ, कभी कुछ।... और फिर कुछ दिनों में सारी बातें आयी-गयी हो गयी थीं। उस बारे में कहीं कोई चर्चा तक नहीं रह गयी थी जैसे इस तरह की कोई चर्चा कभी चली ही नहीं हो! सब कुछ सामान्य-सा हो गया था।

और फिर इस तरह की सामान्यता के साथ करीब छह महीने गुजर गये थे।

और उसके बाद, एक दिन, वह दिन उनके रू-ब-रू आ खड़ा हुआ था... वह दिन यों बिल्कुल मामूली-सा था, पर जैसा कि होता है, उस मामूली-से दिन में भी कुछ गैरमामूली गतिविधियाँ परिवेश में थीं— मसलन, उस दिन ब्रह्मांड-सुन्दरी-कांटेस्ट-आयोजन में शामिल होने के लिए 'भारत-सुन्दरी' ने रवानगी डाली थी... उस दिन शहर में केन्द्रीय गृहमन्त्री का आगमन हुआ था... उस दिन शेयर बाज़ार के राष्ट्रीय सूचकांक में भारी उछाल की ख़बर अख़बारों में थी... उस दिन शहर के एक सम्प्रान्त हिस्से में एक मल्टीप्लैक्स का उद्घाटन होने जा रहा था... और उस दिन कुछ ज़्यादा ही ठंड पड़ने की आशंका मौसम विभाग ने व्यक्त की थी...

पर इस सबके बावजूद वे बेहद मुतमइन तौर पर स्कूल में चौथी कक्षा के अपने विद्यार्थियों को पढ़ाने में मशगूल थे। विद्यार्थी भी उनकी बातें गौर से सुन और समझ रहे थे। और जैसा कि प्रायः होता था, पढ़ाई के उस पाठ में अनुशासन आनुषंगिक तौर पर उस दिन भी उपस्थित था। उस समय विद्यार्थियों से मुख़ातिब उनके शब्द थे, "देखो, प्रकाश सरल रेखा में यानी सीधा चलता है, इसमें एक खास बात है।... वह क्या है? इसे इससे ठीक उलट उदाहरण से समझा जा सकता है— वह यह कि अँधेरा सरल रेखा में नहीं चलता है। इन दोनों में फ़र्क़ यह है कि प्रकाश अनुशासन का हामी है और अँधेरा नहीं।..." और वे अपनी बात को, अपने सामने बैठे बच्चों के बौद्धिक स्तर के मुताबिक और अधिक स्पष्ट और सरल बनाने के लिए मुँह खोल ही रहे थे कि अचानक उनकी निगाह कमरे की खिड़की पर जा अटकी, जहाँ आग की कुछ छोटी-लम्बी, पीली-नारंगी, चलायमान जीभें

लपलपा रही थीं। वे यह देखकर दंग रह गये और उनके मुँह से निकला, “अरे, आग...!”

अचानक उनके हैरतजदा हाव-भाव देख और मुँह से ‘अरे, आग...’ शब्द सुनकर कक्षा भर के बच्चों का ध्यान खिड़की पर लपकती आग पर जा पहुँचा और उनके चेहरों पर भय चम्पा होने लगा। उन्होंने भय के कारण अपनी-अपनी तरह से प्रतिक्रिया में कुछ-न-कुछ कहा। उनके बीच हलचल मच गयी। वे आग से बचने की खातिर उठने-दौड़ने-भागने और पंछियों की तरह फड़फड़ाने की-सी मुद्रा में आ गये।

यह देखकर उन्होंने बच्चों से कहा, “एऽऽऽ! सब लोग शान्ति से अपनी-अपनी जगह पर बैठ जाओ।... कुछ नहीं होगा।... मैं बाहर जाकर देखता हूँ... तुम सब इधर-उधर मत भागना।”

सुनकर आज्ञाकारी और अनुशासित बच्चे अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये; और खिड़की पर मौजूद आग की और-और लम्बी होती जा रही भयानक जीभों की तरफ देखते रहे।

और बच्चों को आश्चर्य कर वे कमरे के दरवाजे से होकर बाहर की तरफ दौड़े— देखें तो क्या बात है— यह आग का क्या झमेला है।

पर बाहर पहुँचते ही उनके होश फ़ाख़्ता हो गये— वहाँ का नज़ारा ख़ौफ़नाक था— समूचे स्कूल-कैम्पस में आग की उद्दंड लपटों का तांडव मचा था; शिक्षकों और विद्यार्थियों की अपने बचाव के लिए मची अफ़रा-तफ़री थी, घुटा-घुटा-सा शोर था; और आसपास से जुट आये लोगों की हल्ला मचाती भीड़ थी।

उन्हें एक क्षण को ताज़ुब हुआ कि यह शोरगुल उन्हें अपनी कक्षा में क्यों नहीं सुनाई दिया था; और, क्या वे अपने काम में इतने लीन थे कि कमरे के बाहर की दुनिया की कोई ख़बर उन तक नहीं पहुँच पा रही थी। वे अब हतवाक् और किर्कटव्यविमूढ़ की-सी स्थिति में, भौंचक्के-से खड़े उस आग से ख़ुद को बचाने की चिन्ता से भी बाहर थे। आसपास से जुटी भीड़ में से कई लोग अब यथासाधन और यथासामर्थ्य आग बुझाने और बचाव के काम में लग गये हुए थे। लगभग पूरा परिवेश अनियन्त्रित शोरगुल और हबड़-दबड़ से भर गया था। कि तभी अचानक उन्हें अपने उन विद्यार्थियों की याद आयी, जिन्हें वे कक्षा में अपनी-अपनी जगह पर बैठने के लिए कह कर आये थे। वे तेज़ी से अपनी कक्षा की ओर दौड़े, पर कमरे के दरवाजे को देखते ही पसीने में डूब गये— आग कमरे के दरवाजे के किवाड़ों और दूसरे हिस्सों को अपनी गिरफ्त में ले चुकी थी और उसके भीतर जाने का रास्ता रोके खड़ी



लम्बी-लम्बी जीभें लपलपाती अट्टहास कर रही थी। अब उन्हें कुछ नहीं सूझ पा रहा था कि वे क्या करें क्या न करें। और कुछ ही क्षणों में वे आग से घिरे अपने पढ़ाई-कमरे की ओर मुख़ातिब ज़ोर-ज़ोर से अपने उन विद्यार्थियों को नाम ले-लेकर पुकार रहे थे जिनकी उम्र नौ-नौ, दस-दस साल थी और जिन्हें वे पिछले चार सालों से जानते थे, “अरे नरेशा!... रामनगीना!... बिन्द्रावन!... बैजन्ती!... बेबी!... शमशाद!... ज्ञानचन्द!... सोबरन!...”

वे लगातार चिल्लाते हुए नाम पुकारे जा रहे थे, पर उधर से किसी भी बच्चे का जवाब नहीं आ रहा था...

और अगले दिन के स्थानीय अख़बार में ख़बर पहले पेज से लेकर तीसरे और चौथे पेज तक पसरी हुई थी। ‘अग्निकांड में 16 स्कूली बच्चों की मौत’ शीर्षक से छपी ख़बर के साथ घटना-स्थल और मृत बच्चों के फोटोग्राफ और साथ में विद्यालय के संचालन से जुड़ी संस्था ‘जनाकांक्षा’ के पदाधिकारियों के द्वारा घटना की न्यायिक जाँच की माँग और अग्निकांड के पीछे किसी गहरी साजिश के होने की आशंका व्यक्त किए जाने सम्बन्धी वक्तव्य प्रकाशित थे...

उनके सामने अख़बार था; और उनके भीतर सब कुछ उलट-पुलट गया था— वहाँ अब सवालियों की भीड़ थी— समय और चेतना के द्वन्द्व से पैदा हुए सवाल-दर-सवाल— नैतिकता, सामाजिक, अनुशासन, व्यवस्था से सम्बन्धित सवाल-ही-सवाल!... और उनकी आँखों में आ रहे थे। उन बच्चों के चेहरे जो उनकी कक्षा में पढ़ते थे और उनकी सीख के अनुसार अपने-आप को ढाल रहे थे— वे अनुशासित और आज्ञाकारी बच्चे जो झुगियों से आते और निहायत मासूम थे।... उनके कानों में गूँज रही थीं वे ख़बरें जो कुछ महीने पहले लगातार सुनने में आती रही थीं— मुकुन्द मादसाब उनसे कह रहे थे, “शरण बाबू, सुनने में आ रहा है कि यह स्कूल जल्दी ही बन्द हो जाएगा।” ...“सुनते हैं कुछ लोग इस जगह पर मल्टी स्टोरी बनाना चाहते हैं... शॉपिंग कॉम्प्लेक्स... इस जगह को करोड़ों-अरबों के कारोबार में बदलना चाहते हैं वे!” ...“उस लिहाज़ से इतनी जगह कितनी कीमती है।” ...“उस तरह तो यह ज़मीन किसी की नहीं... सरकारी है... पर ये मल्टी स्टोरी बनाने वाले कौन लोग हैं और इस सरकारी ज़मीन पर ऐसा कैसे हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता...!” बाद में किसी ने कहा था, “‘जनाकांक्षा’ वालों का ‘उन’ लोगों से सौदा पट गया है और कुछ दिनों में स्कूल बन्द कर दिया जाएगा...” फिर एक दिन किसी ने कहा था, “‘उन’ लोगों ने ‘जनाकांक्षा’ स्कूल-प्रबन्धन को धमकी दी है कि...!”... उसके बाद कोई बता रहा था, “‘जनाकांक्षा’ वालों ने स्कूल बन्द कर जगह छोड़ने से साफ़ इनकार कर दिया है कि...!” और उनकी आँखों में बार-बार वह आगजदा मंजर नमूदार हो-हो जा रहा था जिसमें वे असहाय-से खड़े छोटे-छोटे बच्चों सहित स्कूल को जलता हुआ देख रहे थे... लौट-लौट कर उनकी आँखों में अपनी कक्षा के उन बच्चों के चेहरे तैर जाते थे जो अब अख़बार की सुखी बन चुके थे।

अख़बार अब भी उनके सामने था जो उनके लिए महज़ बाहरी सूचना का एक ज़रिया था। पर उनके भीतर की सूचना उन्हें ज़्यादा परेशान किए हुए थी— उनके भीतर, उनके कलेजे में जैसे किसी ने खुरच-खुरच कर लिख दिया था— “हम अब नरभक्षी की गिरफ्त में आ गये हैं— उस नरभक्षी की जो अनुशासन पसन्द नहीं करता।” और इसके साथ, उनके भीतर मौजूद सवालियों की भीड़ में से कुछ सवाल उनके सामने बार-बार तनकर खड़े हो-

हो जा रहे थे; जिनसे आँख मिलाने का ताव उनके पास न था।

जगदीप जी ने कहानी पढ़कर पूरी की, और वे उसके निहितार्थ को लेकर देर तक सोच में डूबे रहे। उसके बाद उन्होंने पन्ना पलटकर अगली कहानी पढ़ना शुरू कर दी—

गिरफ्त

वे चारों, महानगर होते शहर के एक उपनगरीय इलाके के एक फटीचर-से सिनेमा-हॉल के सामने खड़े थे और उस वक़्त दोपहर बाद के तीन बजकर पाँच मिनट हुए थे। अभी-अभी उन्होंने इसी सिनेमा-हॉल के लोअर क्लास में बैठ कर एक फोर्थ ग्रेड अँग्रेजी फ़िल्म देखी थी। वे चारों 18 से 20 के बीच की उम्र के थे और शहर की सीमा से सटे गाँव के रहने वाले थे। उनका शहर में लगभग रोज़ाना का आना-जाना था। कुछ काम न होने पर भी— महज़ घूमने के बहाने से ही; और इसलिए भी कि वे शहर के एक सरकारी हायर सेकेंडरी स्कूल में पढ़ने के लिए दाखिला लिए थे। वे सुबह अपने गाँव से निकल कर शाम को ही लौट कर घर पहुँचते थे। उनके घरों में ‘कुछ नहीं’ था। यहाँ तक कि एक छोटा ब्लैक एंड व्हाइट टीवी तक नहीं। इसलिए वे शाम को गाँव में ही किसी-न-किसी के यहाँ टीवी देखने जाते थे। और कभी-कभी शहर के इसी सिनेमा-हॉल में फ़िल्म देखते थे। आज उन्होंने ‘नाइट क्लब’ नाम की अँग्रेजी फ़िल्म यह सोचकर देखी थी कि चलो यार, अँग्रेजी की फ़िल्म भी तो देखी जाय, कैसी होती है। बेशक वे अँग्रेजी नहीं समझ पाते थे। पर तस्वीरें तो समझ में आ ही जाएँगी— यही सोचकर उन्होंने फ़िल्म देखी। और उसे देखने के बाद, अब वे वहीं खड़े होकर आगे की योजना बना रहे थे...

महेन्द्र ने कहा, “अब कुछ करना है... देखो तो, हमारे पास कुछ भी नहीं है... न मोटरसाइकल, न फ़्रीज, न कूलर, न टीवी... अब तो कुछ करना ही पड़ेगा यार...!”

“पर करें क्या?” कमल ने उँगली से कान पर खुजाते हुए, महेन्द्र की तरफ़ देखा।

“यार, मुझे एक बात सूझ रही है...” रमेश ने बीच में हस्तक्षेप किया, और बाक़ी तीनों की ओर देखा।

“क्या ???” टिकू, महेन्द्र और कमल ने एक साथ कहा, और रमेश की ओर देखा।

रमेश ने एक नज़र अपने आसपास देखने के बाद, आवाज़ को धीमी करते हुए कहा, “मैंने पिछले साल जिस घर में नौकरी की थी, उसके बगल वाले घर में जो लोग रहते हैं वे काफ़ी पैसे वाले हैं... सब कुछ है उनके पास!... उनका एक लड़का है— चार-पाँच साल का!... क्यों नहीं उसे उठा लें!” कहने के बाद उसने एक-एक कर महेन्द्र, टिकू और कमल के चेहरों पर देखा, “बड़ी रक़म मिल सकती है उन लोगों से।” कहकर उसने एक बार फिर तीनों के मुँह की ओर देखा। तीनों मुँह सिये खड़े उसकी ओर चमत्कृत-से हुए देख रहे थे।

थोड़ी देर में कमल ने कहा, “पर उसे उठाएँ कैसे?”

“हाँ, यही मैं सोच रहा था।” टिकू ने कहा।

“वो हो जाएगा।” रमेश ने विश्वास के साथ कहा।

“कैसे?” टिकू का चेहरा सवालिया हो गया था।

“वे लोग कितना दे सकते हैं?” बीच में ही महेन्द्र ने अपनी जिज्ञासा रख दी।

“चार-पाँच लाख तो आराम से दे सकते हैं...” रमेश ने जवाब दिया, “और ज़्यादा भी दे सकते हैं।”

“तो फिर, बताओ, कैसे क्या करना होगा?” कहकर महेन्द्र ने तीनों की ओर देखा।

“कैसे क्या?... ” रमेश ने कहा, “वहाँ मेरी जान-पहचान है, इसलिए कोई मुझ पर शक़ नहीं करेगा... मेरा उस घर में आना-जाना भी रहा था... मैं किसी तरह उस लड़के को बहला-फुसला कर ले आऊँगा... आगे क्या करना है, कहाँ ले चलना है, तुम सब देख लो...”

“आगे की आगे देखी जाएगी...” महेन्द्र ने कहा, “पहले काम तो हो।” सुनकर टिकू और कमल ने भी सहमति में सिर हिलाये।

“तो ठीक है...” रमेश ने कहा।

उसके बाद चारों ने एक-दूसरे की नज़रों में नज़रें डालकर देखा।

उस वक़्त, जब शहर के तीन-चौथाई लोग सो चुके थे और एक-चौथाई सोने की तैयारी कर रहे थे, रात के करीब ग्यारह बजे थे और शहर के मोहल्लों, कॉलोनियों, गलियों और सड़कों पर एक ऑटो-रिक्शा चक्कर लगाता फिर रहा था जिसके चलने की आवाज़ में मनुष्य के रुदन की अनुगूँज थी और जिसके भीतर बैठा आदमी लाउडस्पीकर से अपनी आवाज़ लोगों तक पहुँचाने की कोशिश कर रहा था, “एक बच्चा... जिसकी उम्र पाँच साल है, रंग गोरा, हरी नेकर और पीली शर्ट पहने है... जिसका नाम रंजन है... आज शाम से कहीं गुम हो गया है... यह बच्चा किसी सज्जन ने देखा हो या जिस किसी को मिला हो तो मेहरबानी करके स्थानीय थाने में पहुँचाने का कष्ट करें!... ऐसा करने वाले या बच्चे की कोई भी सूचना देने वाले को उचित इनाम दिया जाएगा!...”

रात बढ़ती जा रही थी और ऑटो-रिक्शा वही शब्द बार-बार दोहराता हुआ शहर के अँधेरों-उजालों के बीच सड़क-दर-सड़क, गली-दर-गली, मोहल्ला-दर-मोहल्ला खाक छानता और रिरियाता फिर रहा था, “एक बच्चा... जिसकी उम्र...”

हुआ यह था कि गोपालबाबू को, साढ़े पाँच बजे के करीब, जब वे ऑफिस से घर लौटे तब, रंजन अपने सामने नहीं दिखा तो उन्होंने पत्नी से सहज ही पूछा, “रंजन कहाँ है? दिख नहीं रहा!” तब उनकी पत्नी और बेटियों ने भी ग़ौर किया कि रंजन आसपास नज़र नहीं आ रहा और उन्होंने उसे आवाज़ लगा कर पुकारा। पर रंजन का कोई जवाब नहीं आया। तो उन्होंने उसे घर के कमरों में जाकर देखा। पर उन्हें रंजन घर के किसी भी कमरे में नहीं मिला। इस पर गोपालबाबू की छोटी बेटी करुणा ने कहा, “शरद अंकल के घर होगा।” और वह दौड़ती हुई पड़ोस के शरद कुमार सक्सेना के घर की ओर चली गयी। थोड़ी ही देर में उसने लौटकर बताया, “शरद अंकल के यहाँ तो है नहीं।” यह सुनकर गोपालबाबू और उनकी पत्नी एकाबारगी सनाका खा गये, “तो कहाँ चला गया?” उन दोनों के मुँह से लगभग एक साथ निकला था। तीन बेटियों के बाद पैदा हुआ उनका इकलौता बेटा था रंजन। और फिर रंजन की ढूँढ़ (तलाश) शुरू हुई। पास-पड़ोस के सारे घरों में दरयाप्त किया जाने लगा। इस काम में ऑफिस से अभी-अभी लौटे गोपालबाबू, उनकी पत्नी और बेटियाँ— सविता, नम्रता और करुणा— सब लग गये। पर रंजन का कहीं पता नहीं लग रहा था। यह देखकर पूरा परिवार बदहवास हो उठा था; और उसके बावजूद रंजन की

तलाश में इधर-उधर दौड़-भाग रहा था।

और जब रंजन को ढूँढ़ पाने की एक के बाद एक सारी कोशिशें व्यर्थ होती चली गयीं, तब गोपालबाबू और उनके परिवार को अचानक लगा कि रंजन सचमुच उनके आसपास नहीं है और उसके साथ कुछ हुआ है। तब तक शहर अँधेरे में डूब चुका था। घड़ी की सुइयाँ आठ बजा रही थीं। अब पूरे परिवार के होश फ़ाख़्ता थे और वैसी ही बदहवासी में दोस्तों-रिश्तेदारों को फ़ोन पर बताया गया कि उनका बेटा रंजन कहीं नहीं मिल रहा है।

थोड़ी देर में उनके घर एक भीड़ इकट्ठी होने लगी थी। पड़ोसी, रिश्तेदार, शुभचिन्तक, दोस्त-मित्र। और यह सब होते-होते नौ बज गये। और तब तक सबके द्वारा विचारोपरान्त यह स्वीकार कर लिया गया कि रंजन कहीं गुम हो गया है और अब इस बात की सूचना पुलिस में दी जानी चाहिए। और तब पुलिस में सूचना दर्ज कराने की विधिवत् कार्यवाही कर दी गयी।

गोपालबाबू की बेटियाँ अब खड़ी-खड़ी धार-धार आँसू रोये जा रही थीं; उनकी पत्नी एक ओर बैठी सिसक रही थीं। गोपालबाबू चिन्ता और उदासी से निश्तेज हुआ चेहरा लिये सोफ़े पर बैठे थे। उनके मित्र-दोस्त और रिश्तेदार उन्हें ढाढ़स बँधा रहे थे।

गोपालबाबू अपने पास-पड़ोस ही नहीं, दोस्तों-रिश्तेदारों के बीच भी बेहद सभ्य और मिलनसार आदमी के रूप में जाने जाते थे। अपने विभाग में वे निहायत परिश्रमी और ईमानदार आदमी के रूप में पहचाने जाते थे। परिणामस्वरूप उन्हें पदोन्नतियाँ समय पर मिलती गयी थीं और आज उनके पास एक ठीक-ठाक-सा घर था, गाड़ी थी, खुश-खुश गुजरती ज़िन्दगी थी और साथ में उनके दोस्तों-परिचितों की सद्भावनाएँ थीं।

उनके घर पर मौजूद और उन्हें तसल्ली बँधाते परिचितों-मित्रों में से एक ने अचानक सुझाया था कि “हो सकता है रंजन कहीं भटक ही गया हो, इसलिए क्यों नहीं एक ऑटो लेकर शहर में अनाउंसमेंट कराया जाए कि...”

उदासी की गहरी पर्त में लिपटे बैठे गोपालबाबू ने इस सुझाव को तुरन्त सहमति दी।

और फिर एक अनाउंसमेंट करने वाले व्यक्ति के साथ एक ऑटो-रिक्शा बुलवाया गया।

घोषणा करने के लिए मैटर लिखकर अनाउंसमेंट करने वाले व्यक्ति को दिया गया। वह व्यक्ति जैसे ही वह कागज़ लेकर रिक्शे की पिछली सीट पर बैठा, गोपालबाबू ने उससे कहा, “मैं भी साथ चलूँगा।” और वे रिक्शे के भीतर उसकी बग़ल में जा बैठे।

उन हालात में, वहाँ मौजूद लोगों में से कोई भी उन्हें मना करने की हिम्मत न जुटा सका।

और फिर वह ऑटो-रिक्शा रात के अँधेरों-उजालों के बीच शहर की गलियों में, कॉलोनियों में, सड़कों पर घोषणा करता फिर रहा था, “एक बच्चा... जिसकी उम्र पाँच साल है... रंग गोरा... हरी नेकर और पीली शर्ट पहने है... जिसका नाम रंजन है... कहीं गुम हो गया है...”

‘...रंजन कहाँ है?’ हफ़्ते भर तक अनिश्चितता के अँधेरे कुएँ में बेलौस खड़े रहे इस प्रश्न को सिटी कोतवाली का दारोगा हल करने की कोशिश कर रहा था। थाने के लॉक-अप के भीतर उस वक़्त चार किशोर-वय लड़के मौजूद थे।

दारोगा हाथ में लिये डंडे को हिलाते हुए, एक के बाद एक चारों के

चेहरों पर निगाहें टिकाने के बाद, पूछ रहा था, “बताओ, लड़का कहाँ है?”

“नहीं मालूम सा ‘ब...’” चारों ने एक बार फिर एक साथ सिर हिलाये।

“अरे, जब तुम यह बता चुके हो कि उसका किडनेप तुम्हीं ने किया है, तो फिर तुम्हें अब यह क्यों नहीं मालूम कि अब वह कहाँ है?” दारोगा ने सवाल किया।

“...” जवाब में चारों ने चुप्पी ओढ़ ली।

“मैं जानता हूँ कि तुम जैसे क्रिमिनल कैसे मुँह खोलते हैं !...” चिंघाड़ कर दारोगा ने दो सिपाहियों को नाम लेकर पुकारा और उसके बाद बुदबुदाया, “सच उगलवाने के और भी तरीक़े आते हैं मुझे... मैं सोच रहा था कि तुम नये-नये अपराधी हो, वैसे ही सब बता दोगे... पर तुम ऐसे मुँह नहीं खोलोगे...”

और सवेरे के अख़बार में ख़बर की तफ़सील थी कि ‘18-20 साल की उम्र के चार लड़कों ने ऐशोआराम की ज़िन्दगी जीने की इच्छा पूरी करने के लिए, फिरौती के लिये, पिछले हफ़्ते शहर की एक मध्यमवर्गीय कॉलोनी से गोपाल नारायण वर्मा के पाँच वर्षीय बेटे का अपहरण कर लिया था। पर नौसिखिये अपहरणकर्ताओं ने फिरौती की योजना को अंजाम दे पाने में नाकामयाब रहने पर अपहृत बच्चे की इस कारण हत्या कर दी कि उसके जीवित घर पहुँचने पर पहचान वाले अपहरणकर्ता रमेश का भंडाफोड़ हो जाएगा और उसके बाद सबके सब पकड़े जाएँगे।... पुलिस ने मृत बच्चे का शव बरामद कर लिया है।’

और इस ख़बर ने एकबारगी शहर के नाड़ी-तन्त्र को झटका दिया था। दरअसल ख़बर का भेजा-हिलाऊ सच वह था जो उसकी इन सतरों के बीच मौजूद था— ‘ऐशोआराम की ज़िन्दगी जीने की इच्छा पूरी करने के लिए मासूम बच्चे का अपहरण करने वाले चारों लड़कों के माँ-बाप मज़दूरी करते हैं।’

कहानी पढ़ने के बाद जगदीप जी को लगा कि कभी उन्होंने ऐसी ही घटना के बारे में अख़बार में ख़बर पढ़ी थी। बस फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि ख़बर महज़ एक सूचना थी और कहानी घटना के अर्थ खोलती हुई हमें समय का क्रूर चेहरा दिखा देती है। इस कहानी को पढ़ने के बाद वे अपने भीतर एक वैचारिक बेचैनी की गिरफ़्त में आ गये और देर तक आँखें बन्द किए कुर्सी पर बैठे रहे। अगली कहानी उन्होंने तकरीबन घंटे भर बाद पढ़नी शुरू की—

कहानी रूपलाल की

आज कोई न था।

कोई न था घर में। पर उसका दिमाग़ ख़ाली न था। उसके दिमाग़ में उसका बेटा सन्नी था।... उसे लगता था कि सन्नी उसको शहर में मिलेगा— झूला झूलने को उत्सुक उन तमाम बच्चों के बीच— बिना पैसे वाले बच्चे के रूप में...

और वह घर के दरवाज़े पर ताला लगा रहा था— पहली बार। कुछ दिन पहले तक इस घर में उसका एक परिवार था— घरवाली, एक बेटे और दो बेटियों का परिवार। पर आज... आज कोई न था। आज वह अकेला था और उसके साथ थे कुछ ख़ौफ़नाक दृश्य जो उसकी आँखों में समा कर रह गये थे। दरवाज़े पर ताला डालते हुए वह अच्छी तरह जान रहा था कि उसके घर में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके लिए ताले की ज़रूरत हो। स्टील के चन्द थाली लोटे कटोरे गिलास, कुछ कपड़ों, दो खाटों और एक कनस्तर के अलावा घर में कुछ भी नहीं है। वह तो रोज़ कुआँ खोदकर रोज़ पानी पीने

वाला आदमी है। उसे तो यह भी याद नहीं आता कि उसकी जेब में कभी एक सौ का नोट भी रहा है। रोज़ की कमाई से इकट्ठे होने वाले चालीस-पचास-साठ रुपयों से ज्यादा उसकी गाँठ में कभी नहीं रहे। पर सूने घर को ताला देने का जो दस्तूर है, उसी को निभा रहा था वह। अलबत्ता दरवाज़े पर ताला लटकाते हुए उसका कलेजा मुँह को आया जा रहा था। पर अपने भीतर एक उम्मीद को सँभाले हुए था वह।

वह, यानी रूपलाल!

रूपलाल के बाप के हिस्से में करीब चार बीघा ज़मीन आयी थी जब उसके और भाइयों के बीच बँटवारा हुआ था। उस समय रूपलाल पैदा नहीं हुआ था। उससे बड़ी पाँच बहनें थीं उस समय। और आगे चलकर उन पाँचों के ब्याहों में ही स्वाहा हो गयी थी उसके बाप के हिस्से की सारी ज़मीन। फिर कुछ-कुछ शाहिमजाज आदमी था उसका बाप, और बिना भाई की पाँच-पाँच लड़कियों का पिता होने के चलते हताश और निराश भी। और जब रूपलाल पैदा हुआ तब उसके बाप के खाते में बिस्वा भर भी ज़मीन नहीं बची थी। पर अगली सन्तान को लड़के के रूप में पाकर उसकी खुशी का ठिकाना न रहा था। लड़का होने की खुशी उससे सँभाले न सँभलती थी। और कुछ दिनों बाद उसने लड़के को अपने हाथों में लेकर ग़ौर से देखते हुए उसका नामकरण कर दिया था— रूपलाल।

और रूपलाल जब 17-18 साल का हुआ था, तो जाति-बिरादरी ने उसके ब्याह के लिए दरवाज़े खोल दिए थे। वह देखने-भालने में अपने नाम के अनुरूप रूप-स्वरूप वाला तो था ही, साथ ही शील-स्वभाव से भी सभ्य और मिठबोला था। अपने घर से पाँच-पाँच बेटियों को विदा कर चुके उसके माँ-बाप भी चाहते थे कि घर में जल्दी से उनके बेटे की बहू आये। और इस सूरत में बिरादरी ने उसके माँ-बाप की इच्छा को हाथों-हाथ लिया और रूपलाल का ब्याह हो गया था। उसे घरवाली भी जोड़ की मिली। ज़्यादा हूर-परी तो नहीं, पर गेहूँ आरंग की सुगढ़ और सलोनी लड़की थी वह। शहर से आयी थी और आठवीं कक्षा तक पढ़ी थी वह। सलीके से रहना जानती थी। ससुराल में आकर मैचिंग साड़ी-ब्लाउज पहनती थी। सज़-सँवर कर रहती थी। रोज़ शैम्पू से बाल धोती थी। चेहरे पर क्रीम-पावडर लगाती थी। होठों को लिपस्टिक से रंगती थी। और ब्याह में मायके से लाई 14 इंच वाले ब्लैक एंड व्हाइट टीवी पर फ़िल्में देखती थी। हालाँकि उसका पिता एक मजदूर था। पर उसके घर में मौजूद टीवी पर एक ख़ूबसूरत, दिलकश और रंगबिरंगी दुनिया पायी जाती थी, जिसमें एक लुभावना बाज़ार भी मौजूद था— एक ऐसा बाज़ार, जिसमें 'सस्ते दामों में' ऐसी-ऐसी चीज़ें बिकती थीं जो बदसूरत जिस्म को ख़ूबसूरत, मैले कपड़े को साफ़-शफ़ाफ़ और काली चमड़ी को गोरी-सलोनी त्वचा में बदल देती थीं। इसके अलावा उस बाज़ार में मौजूद तमाम चीज़ें ऐसी थीं जो वहाँ एक बार दिखाई दे जाने पर रात के सपने में भी दिखाई देती थीं।

रूपलाल की घरवाली ने वे सब चीज़ें टीवी के बाज़ार में भी देखी थीं, और उसके बाद में अपने सपनों में भी। कुछ हासिल भी की थीं। और इसीलिए वह ब्याह के बाद जब ससुराल में आयी थी तो अपने साथ स्टील के दो थाली-लोटे, दो गिलास, चार कटोरियों, जार्जेंट की एक साड़ी, नाक की एक लौंग के अलावा सस्ते फाइबर की अटैची में छह लिरिल साबुन, बीस लक्स शैम्पू के पाउच, तीन ब्रा, दो पेंटी, एक पोंड्स पावडर का डिब्बा, एक 'फेयर

एंड लवली' क्रीम की डिबिया और दो व्हिस्पर के पैकेट भी लाई थी। और साथ ही लायी थी वह 'पोटेंबुल बाज़ार' और उसमें बिकती चीज़ों के वे सपने भी जिन्हें वह अपनी नींद में देखती थी।

और ब्याह के बाद, रूपलाल के सामने, कुछ समय तक, एक जादुई इन्द्रधनुष अपने सातों रंगों के साथ छाया रहा था।

इस दरमियान रूपलाल, हर साल की दर से, एक के बाद एक तीन बच्चों का बाप बन गया। बच्चों के नाम रखे गये थे— रेखा, काजल और सन्नी— सबसे पहले पैदा हुई थी लड़की, जिसका नाम रखा गया था रेखा; दूसरे नम्बर पर भी लड़की ही पैदा हुई, जिसका नाम रखा गया था काजल; और दोनों लड़कियों के बाद पैदा हुए लड़के का नाम रखा गया था सन्नी। तीनों बच्चों के नामकरण की ज़िम्मेदारी निभाई थी रूपलाल की घरवाली ने ही, जिसकी फ़िल्मी नामों की जानकारी काफ़ी वसीह थी।

...इस दरमियान समय दौड़ता हुआ गुजरा था।... समय का मिज़ाज अनवरत और अनथक चलते रहने का है, सो वह चलता रहा और पता ही न चला कि साल के बाद साल गुजर गये और रूपलाल के बच्चों ने घर को भरा-भरा-सा कर दिया था। और समय की इसी दौड़-चाल के बीच रूपलाल के माँ-बाप दुनिया से चले गये थे।

पर इसके बाद कुछ और वक्फा गुजरा, तो वही दौड़ता हुआ समय अब घिसट-घिसट कर आगे बढ़ने लगा। अब घर की आमदनी की निस्वत ज़रूरतें ज़्यादा थीं।

रूपलाल गाँव में मजूरी करता। चैत-कार्तिक में काम मिल जाता, पर बाकी महीने काम के न रहते बैठे रहना पड़ता। तब समय की चड़ में फँसे हाथी की तरह खिंचता।

घर में कभी-कभी बच्चों तक के फ़ाकों की नौबत आ जाती।

और तब एक दिन इस मसले पर पति-पत्नी ने मशविरा किया था और उसके बाद रूपलाल बीबी-बच्चों के साथ शहर में आ गया था।

शहर ने रूपलाल के काँधे पर एक झूला रख दिया। झूला, जो छोटे-छोटे बच्चों के झूलने और मनोरंजन का साधन था, और जिसको एक गोल-चिकनी लकड़ी के लट्ठे की धुरी पर इस प्रकार बनाया गया था कि उससे जुड़ी चार छोटी-छोटी पालकियों को, खेल के वक़्त छाते की तरह खोल कर गोल दायरे में घुमाया जा सकता था और खेल समाप्त होने पर छाते की ही तरह बन्द करके काँधे पर रखकर आगे बढ़ा जा सकता था। यह एक चलता-फिरता झूला था।

झूले से धन्धा करने का आइडिया रूपलाल को शहर के उस मेले में मिला था जिसमें घूमने वह शहर आने के बाद एक दिन अपनी घरवाली के साथ गया था। वहाँ उसने एक आदमी को ऐसे ही झूले से धन्धा करते देखा था। और उसने उसी दिन यह झूलेवाला धन्धा अपनाने का मन बना लिया था।

और अब रूपलाल रोज़ सवेरे कुछ खा-पीकर, झूला काँधे पर रख घर से शहर के उन निम्नवित्तीय मोहल्लों और कॉलोनियों की तरफ़ निकलता जिनमें उसके झूले पर झूलने को लालायित बच्चों की कमी नहीं होती थी।

अपने झूले की चारों पालकियों पर छोटे-छोटे बच्चों को बैठाकर वह उन्हें गोल दायरे में घुमाता था। बच्चे खुश होते थे। उसका धन्धा चलता था।

उसके झूले पर झूलने का प्रति बच्चा रेट था— एक बार का एक रुपया।

वह जब किसी मोहल्ले या कॉलोनी में पहुँचकर अपनी विशिष्ट शैली में

आवाज़ लगाता तो छोटे-छोटे बच्चे उसके इर्द-गिर्द आ झिमतते थे। उनमें से जिनके पास पैसे होते थे वे उसके झूले पर झूलने को उतावले होते, और जिनके पास पैसे नहीं होते थे वे दूसरे बच्चों का झूलना देख-देखकर ही अपना मन बहला लेते थे।

कभी-कभार झूले की तीन पालकियाँ भर जातीं, और चौथी पालकी में झूलने के लिए एक रुपया खर्च कर पाने की कुव्वत वाला कोई बच्चा न मिलता तो रूपलाल उन तमाम बच्चों में से ही किसी एक को उठा कर चौथी पालकी में बिठा कर झुला देता जिनके पास पैसे नहीं होते थे। उस समय उस बच्चे को, बिना पैसे लिये झुलाते हुए रूपलाल को ऐसा लगता था कि जैसे उसकी जगह कोई और उसके बेटे सन्नी को झुला रहा है। उस समय उसकी खुशी का ओर-छोर न होता था।

इस तरह से वह रोजाना खुशियाँ बेचने और बटोरने का धन्धा करता और अपने हथझूले की बदौलत दिन भर में कभी पचास, कभी चालीस, कभी साठ रुपये तक कमा लेता था, जिससे उसके घर-परिवार की अनिवार्य ज़रूरतें पूरी होती थीं।

पर रूपलाल की यह पचास के आसपास प्रतिदिन की कमाई उसकी घरवाली को 'आमदनी' लगती थी। उसके भीतर बैठी इच्छाओं की भीड़ रोज़ मुँह उठाकर खड़ी हो जाती थी। एक दिन उसने रूपलाल से कहा, "काल तो मैं बज़ार जाऊँगी..."

सुनकर रूपलाल ने निगाह उठाकर उसकी ओर देखा था।

"डेढ़ सौ रुपइया चाहिएँ!" उसने आगे कहा।

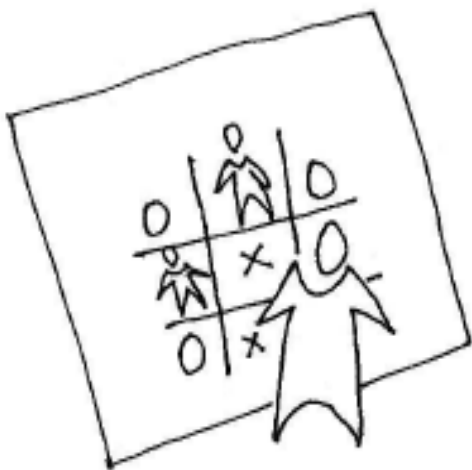
"डेढ़ सौ रुपइया..." रूपलाल के मुँह से निकला और उसने एक बार फिर घरवाली के चेहरे को देखा— ग़ौर से। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह बाज़ार जाकर डेढ़ सौ रुपये का क्या ख़रीदेगी।

घरवाली ने अपने-आप ही आगे की बात साफ़ की, "कछू सामान लेना है।"

"सामान?... कौन-सा सामान?" उसने पूछा।

"मेरा अपना सामान है।..." घरवाली ने तुरन्त जवाब दिया।

"पर इतने रुपइया कहाँ हैं!" रूपलाल ने कहा।



"काए? रुपइया काए नहीं है?" घरवाली ने उसकी तरफ़ आँखें फाड़ कर देखा।

"बचें तब तो रुपइया होंड।" रूपलाल ने कहा, "दिन की पूर ही मुश्किल से पड़ती है।"

सुनकर घरवाली के चेहरे पर यकायक एक और चेहरा आ चिपका।

उसके बाद कुछ दिनों तक वह रूपलाल के प्रति उसी चेहरे के साथ बनी रही।

अलबत्ता रूपलाल कुछ नहीं कर सकता था क्योंकि वह इस सचाई से भलीभाँति परिचित था कि उसकी कमाई रोज़ कुआँ खोद कर रोज़ पानी पीने जैसी है।

और इसी सूरत के साथ कुछ और दिन बीते। उसके बाद एक दिन फिर घरवाली ने उसके सामने अपनी फरमाइश रखी, "चलो, काल तो फिलम देख आयें..."

उस दिन रूपलाल बहुत थका हुआ था। वह दिन भर झूला लिये गली-मोहल्लों में घूमता रहा था पर उस दिन की कमाई थी कुछ मिलाकर छब्बीस रुपये। और इन्हीं रुपयों में से वह एक किलो आटा और आधा किलो आलू ख़रीद लाया था और उसकी जेब में अब एक और दो रुपये के कुछ सिक्के पड़े रह गये थे। घरवाली की फिल्म देखने चलने की पेशकश पर उसका माथा भन्ना उठा। उसने जवाब इस तरह दिया— "फिलम देख आयें!... और फिलम के टिकट क्या फिरी में मिलेंगे?... यहाँ तो दिन भर जन्तर लादे-लादे कन्धा दूखने लगता है तब कहीं दाल-रोटी लाइक पैसे हो पाते हैं; और उसे फिलम देखने की सूझ रही है।..."

सुनकर घरवाली के चेहरे पर गुस्से की एक मोटी-सी परत आ चढ़ी। पिछले कई दिनों से फ़िल्म देखने की उसकी भयानक इच्छा थी। मायके में वह महीने में कम-से-कम एक बार अवश्य अपनी माँ के साथ टाकीज़ में फ़िल्म देखकर आती थी। यों घर के टीवी पर हफ़्ते में दो-तीन फ़िल्में आती ही थीं पर टीवी पर देखने में वह बात कहाँ जो टॉकीज़ में है। दरअसल फ़िल्म देखने जैसे शौक उसे घुट्टी की तरह मिले थे। यह शहर की उस हवा की तासीर थी जो उस समय गाँव-देहात तक नहीं पहुँची थी।

और यही कारण था कि निपट देहात में जन्मे रूपलाल की मनोरचना दिखने-दिखाने और देखने से ज़्यादा खाने-पीने के शौक से जुड़ती थी। इसलिए जिस दिन उसकी दिन भर की कमाई पचास से ऊपर पहुँच जाती थी उस दिन वह घर के लिए कोई मिठाई या मौसमी फल ज़रूर ख़रीद लाता था। उसके बेटे को अंगूर पसन्द थे इसलिए वह उसके लिए अकसर अंगूर ख़रीद लाता था वह अपनी सामर्थ्य के हिसाब से अपने बच्चों और बीवी को भी खुश रखने का भरसक जतन करता था।

पर एक के बाद एक, तीन बच्चे जन चुकी उसकी घरवाली की इच्छाओं की फेहरिस्त कम न हुई थी। वह दिन भर टीवी पर मेकअप से दमकते सजे-धजे चेहरे देखती और फुर्सत पाते ही उन चेहरों से मिलान करते हुए शीशे में अपना चेहरा निरखती थी। तब उसके सामने 'बाज़ार' झलमलाता था। और जागते-सोते— हमेशा उसकी आँखों में उस बाज़ार के सपने होते थे। सपने में वह कभी नीली आँखों वाली ब्रह्मांड सुन्दरी—जैसी बन जाती थी, कभी अपने बालों को छहराती-फहराती रिटायर्ड हीरोइन जैसी। पर जब भी उन सपनों से बाहर आती, तब वह इस सच्चाई से रू-ब-रू हो जाती कि वह न नीली आँखोंवाली ब्रह्मांड सुन्दरी—जैसी है, और न ही उसके बाल रिटायर्ड हीरोइन जैसे खूबसूरत

हैं। और तब उसे दरकार होती थीं वे चीजें जो नीली आँखों वाली ब्रह्मांड सुन्दरी और रिटायर्ड हीरोइन ने बताई थीं और जो बाज़ार में मिलती थीं। और उस समय उसे यह कतई याद नहीं रह जाता था कि वह रूपलाल नाम के उस आदमी की घरवाली है जो अपने कंधे पर झूला लादे फिरता दिन भर में महज़ चालीस-पचास-साठ रुपये कमाने वाला एक मनोरंजन-मजदूर है।..

उस दिन शाम को रूपलाल जब घर लौटा तो रोज़ की तरह बाहर से ही उसने अपने बेटे को पुकारा, “सन्नीSS!”

नाम सुनते ही सन्नी दौड़ता हुआ भीतर से बाहर निकल कर अपने बाप के सामने आ गया। बाप को देखकर उसकी बाँछें खिल गयीं। उसने कहा, “पापा, मेरे लिए अंगूर लाये?”

रूपलाल को लगा, उससे ग़लती हो गयी। उसे अंगूर लाने की याद ही न रही थी। पर उसने कहा, “अरे, आज रास्ते में अंगूर का कोई ठेला ही नहीं मिला...” और वह बेटे के साथ भीतर अपनी कुठरिया में पहुँचा। झूला उतार कर उसने दीवार के सहारे टिका दिया और एक बार फिर बेटे की तरफ़ देखते हुए कहा, “मैं अभी आया!... आज सब्जी भी नहीं ले पायी है... और तेरे लिए अंगूर भी ले आऊँगा!” कहकर उसने बाहर जाने का रुख़ किया कि तभी वहाँ मौजूद उसकी घरवाली ने उसे टोका, “सुनो नैंक!”

उसने घरवाली की तरफ़ आँख उठाकर देखा। उसके पास ही दोनों लड़कियाँ थीं।

“मेरे लिए दो चोली ले आना... एक फेयर लवली किरिम और पोंड पावडर का डिब्बा... केयरफिरी हू खतम हो गयी है... और एक साबुन ले आना लिरिल...” घरवाली ने उससे कहा।

सुनकर रूपलाल के चेहरे पर आजिजी झलक आयी, दिन भर की थकान भी और खीज भी। उसके मुँह से निकला, “का मेरे पास रुपइयन की खदान खुदी है सो फेयर लवली किरिम, पावडर का डिब्बा और जे-वो पूरा बजार खरीद लाऊँ!... नहीं हैं मेरे पास इतने पइसा...”

“काये नहीं हैं पइसा?” घरवाली ने एकदम चीखते हुए कहा, “मेरे लिए कबहूँ पइसा नहीं रहते... नंगी फिरू क्या मैं?” उस समय उसकी आवाज़ में तलखी थी।

“नंगी नहीं फिर रही है तें!” रूपलाल ने उसको लगभग नज़रअन्दाज़ करते हुए चलते-चलते कहा, “मोंड़ी-मोड़िनी की चिन्ता नहीं है और अपने लिए जे ल्याऊ, वो ल्याऊ।.. हद है गयी।..” कहता हुआ वह बाहर निकल गया।

वहाँ खड़े उसके तीनों बच्चे— सन्नी, रेखा और काजल उसे जाता हुआ देखते रहे। उनकी आँखों में उसे लौटते देखने की लालसा थी।

पर उसकी घरवाली उस समय कुछ और देख रही थी।

थोड़ी देर में एक किलो आलू और सौ ग्राम अंगूर लिये लौटे रूपलाल ने आदतन दरवाज़े के पहले पहुँचते ही आवाज़ लगायी, “सन्नीSS!”

आवाज़ सुनकर उसका बेटा भीतर से दौड़ता हुआ बाहर आया और उसके हाथ से अंगूर की थैली लेने से पहले ही लड़खड़ाता हुआ ज़मीन पर गिर पड़ा।

रूपलाल ने बेटे को इस तरह से गिरता देख फुर्ती से आगे बढ़ कर उठाय़ा और आँगन में जल रहे बल्ब की पीली रोशनी में उसका चेहरा देखा तो

उसके होश फ़ाख़्ता हो गये। उसे लगा, उसका बेटा बेहोश हो गया है। वह ज़ोर से चीखा, “अरे देखो, सन्नी को क्या हो गया। ये सन्नी को क्या हो गया।..” पर उसकी आवाज़ सुनकर भीतर से कोई नहीं आया तो उसने फिर गला फाड़कर आवाज़ लगायी, “अरे देखो, काजल, देखो तो ये सन्नी को क्या हो गया।” आलू और अंगूर एक ओर पड़े थे। वह अपने चार वर्षीय बेटे को छाती से चिपकाये चीखे जा रहा था, “अरे, देखो तो ये सन्नी को क्या हो गया।..” पर इतनी चीख-पुकार के बाद भी कुठरिया के भीतर से न घरवाली निकली, न ही उसकी बेटियाँ। हाँ, पड़ोस में रहने वाले कुछ लोग अवश्य इस ज़िज़ासा के साथ दौड़े आये कि आखिर क्या हुआ है, देखा तो जाए। उनमें से एक ने रूपलाल के हाथों से बच्चे को लेकर देखा तो उसके मुँह से निकला, “अरेSS, इसकी तो देह ठंडी हो गयी।” सुनकर दूसरे ने बच्चे के शरीर को छूकर देखा, फिर नाक के पास हाथ ले जाकर महसूस किया— साँस नहीं चल रही। वे कुछ पलों के लिए हक्के-बक्के रह गये। और फिर बदहवास रूपलाल को सँभालने लगे, जिसके देखते-देखते उसका बेटा प्राण त्याग चुका था। रूपलाल बेटे की ओर देखता हुआ अब भी कह रहा था, “देखो तो, क्या हो गया इसे...!”

उनमें से एक ने रूपलाल को बाँहों में भर लिया, और ढाढ़स बँधाया, “भैया, सन्नी अब नहीं रहा...!”

रूपलाल के भीतर से रूलाई का बुक्का फूटा।

वे लोग रूपलाल को सँभालने लगे। साथ ही उनमें से एक ने ध्यान दिया कि ऐसे समय में रूपलाल की घरवाली और बेटियाँ वहाँ नहीं हैं, तो वह उसकी कुठरिया के भीतर झाँका और वहाँ का नज़ारा देखकर दंग रह गया— वहाँ रूपलाल की घरवाली और उसकी दोनों बेटियाँ ज़मीन पर अस्त-व्यस्त गिरी पड़ी थीं। उसने यह सब और लोगों को बताया तो उन्होंने भीतर जाकर दरयाफ़्त किया— उसकी दोनों बेटियाँ भी बेटे ही की तरह ठंडी हो चुकी थीं और आखिरी साँसें लेती घरवाली के मुँह से झाग निकल रहे थे।..

यह सब देखकर, रूपलाल अवाक् था और कुछ समय तक उसके भीतर एक शून्य—सा व्याप कर रह गया। उस समय वह इस बात को बिल्कुल नहीं समझ पा रहा था कि उसकी घरवाली ने अपनी और अपने बच्चों की हत्या नहीं की है; बल्कि उन सबकी हत्या की है तेज़ लपलपाती जीभों वाली उन अनगिनत इच्छाओं ने जो उसकी कुठरिया में मौजूद एक चौदह इंच के चमचमाते बक्से से निकलती और कभी पूरी नहीं हो पाती हैं।..

और उसके बाद के दिनों में रूपलाल अपनी भोली-भाली दुनिया के राख भरे खँडहरों में भटकता रहा था... वे दिन रूपलाल के लिए ऐसे अँधेरे और अनिश्चितता भरे रहे जैसे कोई भयानक काली रात में अनवरत आँधी-बाढ़-तूफ़ान से घहराती-उफनती नदी में हिचकोले खाती किसी जर्जर डोंगी पर सवार इधर-उधर मारा-मारा फिरता हो और उसे किनारे का कहीं अता-पता तक न नज़र आता हो!

हिल गये थे कहानी पढ़कर जगदीप जी। क्या हमारा समय ऐसा ख़ूँखार है जैसा कहानी में मौजूद है। उन्होंने किताब बन्द की और अलमारी में रख दी। आगे की कहानियाँ पढ़ने की उनके भीतर अब हिम्मत न थी। अलबत्ता वे देर तक पढ़ ली गयी कहानियों को लेकर सोच में डूबे रहे थे।

कुछ दिनों बाद घर में खुशियों का अम्बार लग गया था। सबसे ज्यादा खुश जगदीप जी थे। वजह साफ थी कि दिवाकर, डॉ. दिवाकर वर्मा, एम.डी. होकर लगभग नौ सालों तक दिल्ली में रहने के बाद घर आया हुआ था, और शुभंकर के प्री मेडिकल टेस्ट का रिजल्ट आ गया था जिसके अनुसार वह मेरिट में था और उसका एम.बी.बी.एस पाठ्यक्रम में प्रवेश तय था।

जगदीप जी ने निरन्तरता में बिलाफुर्सत के, मशक्कत से भरे 55 साल का जीवन जी लिया था। अब उनका खुश होना तो स्वाभाविक ही था जबकि उनका बड़ा बेटा डॉक्टर बन चुका था और छोटा बेटा डॉक्टर बनने की राह पर था।

एक दिन खाने के वक़्त खुशी से भरे हुए वे दोनों बेटों से मुख़ातिब बोले, “अब मैं निश्चित हो गया... अगर शुभंकर का मेडिकल में नहीं हो पाता, तो मुझे भी सन्तुष्टि नहीं होती और इसके भीतर भी हीनभावना बनी रहती हमेशा...” कहते हुए उन्होंने शुभंकर की ओर देखा, “लेकिन अब तुम दोनों एक ही लाइन में आ गये हो, यह मेरे लिए सुकून की बात है।...” कहकर उन्होंने दिवाकर की ओर देखा, “अब दिवाकर तुम मेरी बात सुनो... देखो, मैंने तो जो करना था कर लिया। अब तुम सँभालो और मुझे राहत दो... घर पड़ा है, इसे जैसा बनवाना चाहो, वैसा बनवा लो... चाहो तो मार्बल लगवा लो... जो भी करना है, कर लो।... मैं सोच रहा हूँ कि घर के ज़रा ठीकठाक हो जाने के बाद अपने परिचितों-रिश्तेदारों को बुलाएँगे और एक छोटी-सी पार्टी देंगे... अपनी खुशी में उन्हें भी शामिल करेंगे... पर इससे पहले तुम ये बताओ”, कहते हुए एक उचटती-सी निगाह शुभंकर के चेहरे पर डालते हुए दिवाकर की ओर देखा, “अब तुम्हारा क्या इरादा है?... क्या करना है अब तुम्हें?”

सुनकर दिवाकर ने तुरन्त कहा, “मुझे तो कोई भी जॉब मिल जाएगी।”

“पर कौन-सा जॉब?... मुझे भी तो बताओ!” उन्होंने कहा।

“कम्प्यूनिटी मेडिसन, जिसमें मैंने एम.डी. किया है, क्लीनिकल लाइन तो है नहीं, और एम.बी.बी.एस. बेस पर मैं प्रैक्टिस करूँगा नहीं। मेरा सब्जेक्ट ऐसा है कि इसमें तीस-चालीस हजार परमन्थ का जॉब तुरन्त मिल जाएगा... कई स्वयंसेवी संस्थाएँ हैं...”

“कौन-सी स्वयंसेवी संस्थाएँ हैं?” उन्होंने बीच में ही पूछ लिया।

“यूनीसेफ और डब्ल्यू. एच. ओ. से रिलेटेड बहुत-सी संस्थाएँ हैं।”

“ये संस्थाएँ कहाँ पर हैं?” उन्होंने पूछा था।

“दिल्ली में।”

“तो क्या अब नौकरी भी दिल्ली में ही करोगे?”

“हाँ, वहीं करूँगा!” दिवाकर ने तपाक से कहा, जैसे वह सब कुछ पहले से ही तय किए बैठा हो।

सुनकर जगदीप जी तनिक मायूस हुए और बोले, “दिल्ली में तो पूरे नौ साल रहकर आये ही हो, अब अपने शहर में हमारी आँखों के सामने रहकर करो, जो भी करना है।”

“पर यहाँ तो ऐसी कोई संस्था है नहीं, जिसमें मुझे जॉब मिल सके।”

“तो... देखो दिवाकर, सच कहूँ तो दिल्ली मुझे डराती है। दो बार दिल्ली गया हूँ तो दोनों बार दिल्ली मुझे डरावनी लगी थी।... मुझे लगता है कि दिल्ली में अगर कोई रास्ता भूल जाए, तो किसी के पास उसको उसका रास्ता बताने की भी फुर्सत नहीं है। सबको अपनी-अपनी पड़ी है वहाँ।... मुझे तो वहाँ के लोग बेतहाशा दौड़ते-भागते लगते हैं— किसी मशीन की तरह। और फिर दिल्ली में कुछ भी करते रहो, बात वही होगी कि जंगल में मोर नाचा किसने देखा।”

“पर यहाँ क्या करूँगा मैं?” दिवाकर ने उनसे पूछा।

“कुछ भी करो, पर अपनों के बीच रह कर करो।” वे बोले।

“ये अपने, पराये कुछ नहीं होता।” दिवाकर ने कहा, “लोग कहाँ-कहाँ काम करते हैं...!”

सुनकर एक झटका-सा लगा था उन्हें। जवाब में वे बोले, “अपने, पराये कुछ कैसे नहीं होता...?” कहते हुए वे तनिक आवेश से भरे उठे और उनकी आवाज़ रूखी-सी हो उठी, “क्या मुझमें और किसी अजनबी में तुम्हारे लिए कोई फ़र्क़ ही नहीं होगा?”

उनकी इस बात के जवाब में दिवाकर ने कुछ नहीं कहा। उसने उनके तमतमा आये चेहरे को एक बार देखा भर, और चुप्पी साध ली।

पर जगदीप जी के दिमाग़ में उसका कहा— ‘अपने, पराये कुछ नहीं होता’ ही घूम रहा था और वे अब उससे कह रहे थे, “दिल्ली में रह के तुम इनसान भी रह गये हो या नहीं, जो तुमने ऐसी बात कही... हद हो गयी। तुमने आख़िर ऐसी बात कह कैसे दी!... क्या दिल्ली ने तुम्हें इनसान की जगह मशीन बना डाला है...”

जवाब में दिवाकर वहाँ से उठा और चला गया था। शुभंकर और वे बैठे रह गये— बेआवाज़, बेबातचीत। थोड़ी देर बाद शुभंकर भी उठ गया था। वे अकेले बैठे रह गये थे। अलबत्ता तब भी दिवाकर के कहे शब्द उनके दिमाग़ में लगातार घूम रहे थे— ‘अपने, पराये कुछ नहीं होता...’।

अगले दिन दिवाकर एक बड़ा-सा बैग कन्धे से टाँग और सूटकेस हाथ में लटका कर दिल्ली के लिए निकल गया था। निकलते वक़्त उसने जगदीप जी से कहा था, “दिल्ली जा रहा हूँ...!”

जगदीप जी ने सुना, पर कहा कुछ नहीं। उनके भीतर अब तक पिछले दिन की बातचीत की पीड़ा थी। दिवाकर आगे बढ़ गया था।

उसके करीब हफ़्ते भर बाद उसका फोन आया था। फोन पर वह बता रहा था कि उसे सर्विस मिल गयी है।

“कहाँ?” जगदीप जी के मुँह से अनायास ही निकला था।

“यहीं... दिल्ली में... ज्वाइन कर लिया हूँ... सेलरी पैंतीस हजार पर मन्थ है।”

“ठीक है...” उन्होंने कहा था, “क्या है नौकरी?... मतलब काम क्या है?”

“कन्सल्टेंट की पोस्ट है...।”

“कन्सल्टेंट?... ”

“हाँ, अब मैं कार ले रहा हूँ।”

“कार? पर कार की अभी क्या ज़रूरत है!”

“ज़रूरत तो है!”

“पर अभी इतना पैसा है तुम्हारे पास?” उन्होंने पूछा था।

“फाइनेंस करा रहा हूँ...”

“फाइनेंस?... पर फाइनेंस कराके कार लेने की क्या ज़रूरत है? फाइनेंस कराने का मतलब कर्ज़ लेना ही तो है। और कर्ज़ लेकर कार लेने की क्या अटकी पड़ी है? अगर इतनी जल्दी है कार लेने की, तो सेकेंडहैंड ले लो, पर मेरा कहना यह है कि लो नगद ही। कर्ज़ फाइनेंस करा के इस तरह की चीज़ लेना मुझे बिल्कुल भी पसन्द नहीं है।”

“मैं कोई अकेला थोड़े ही हूँ जो फाइनेंस करा के कार ले रहा हूँ... अब तो सब इसी तरह लेते हैं।”

“सब से हमें कोई लेना-देना नहीं है... मैं अपनी बात कर रहा हूँ।”
 “वो तो ठीक है; पर इस तरह तो कभी भी कार नहीं ले पाएँगे।”
 “कभी क्यों नहीं ले पाओगे?... नौकरी का पैसा कहाँ जाएगा?”
 “पर मैं तो पेपर सब्मिट कर चुका हूँ फाइनेंस के लिए।”
 “पेपर तो वापस भी लिए जा सकते हैं...”
 “पन्द्रह हजार का पेमेंट भी कर चुका हूँ...”
 “अब सब कुछ कर ही चुके हो तो मुझे बताने की भी ज़रूरत क्या है...
 जैसा सही समझो, करो!... कार लेने पर मुझे कोई ऐतराज नहीं है। पर कर्ज
 लेकर लेने से ऐतराज है।... लेना ही है तो नगद भुगतान करके लो, अभी नहीं
 तो कुछ और समय के बाद।”
 “अब मूड बन गया है पापा, कार तो लेना ही है... फाइनेंस कराने में कोई
 बुराई नहीं है... हर कोई फाइनेंस कराके ही ले रहा है आजकल।” दिवाकर
 ने कहा।
 “फाइनेंस कराके तो किसी दफ़्तर का बाबू भी कार ले सकता है, उसमें
 क्या बड़ी बात है?... फिर एक डॉक्टर और क्लर्क में फ़र्क क्या रहा?”
 “वो तो ठीक है, पर इस तरह कोई नहीं सोचता जैसे आप सोचते हैं, इस
 तरह सोचकर तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता कभी...”
 “अच्छी बात है... जैसा सही समझो, वैसा करो।”
 “रखता हूँ!” कहकर उसने फोन काट दिया था।
 उसके बाद उसने उसी दिन फोन किया था, जिस दिन कार की डिलेवरी
 लेकर लौटा था। वह फोन पर बेतरह खुश लग रहा था, “कार आ गयी है
 पापा। अभी खुद ही चला कर लाया हूँ...”
 “तुमने कार चलाना कब सीखा?” वे उसे पूछ रहे थे।
 “ड्राइविंग तो मैंने नेक्स्ट इयर ही सीख ली थी... मुझे अच्छी तरह चलाना
 आता है।”
 “ठीक है,” कहते हुए उन्होंने भरसक कोशिश की कि उनकी आवाज़ में
 असहमति या नाराज़गी का अंश मात्र भी न झलके, “फिर भी अभी
 सावधानी से ही चलाना!... कार कौन-सी है?”
 “मारुति आल्टो है— ए.सी. है।” उसने कहा था।
 “अच्छी बात है।” वे बोले थे।
 “अच्छा, अब रखता हूँ।” कहकर उसने फोन काट दिया था।

लगभग दो महीने गुजर गये थे। रोज़ की तरह उस दिन जगदीप जी अख़बार
 देख रहे थे कि उनकी निगाह एक विज्ञापित पर जा अटकी जिसमें शहर के
 सरकारी मेडिकल कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफेसर्स की रिक्तियों को भरने के
 लिए आवेदन चाहे गये थे। जिन विषयों के पदों की पूर्ति हेतु आवेदन चाहे
 गये थे, उनमें पी.एस.एम. यानी कम्यूनिटी मेडिसिन भी था।
 यह देखकर जगदीप जी ने तुरन्त दिवाकर को फोन लगाया था,
 “दिवाकर यहाँ मेडिकल कॉलेज में पी.एस.एम. डिपार्टमेंट में असिस्टेंट
 प्रोफेसर्स के लिए आवेदन माँगे गये हैं।”
 “मुझे मालूम है।” उधर से दिवाकर ने कहा था।
 “तुम्हें कैसे मालूम है?”
 “इंटरनेट पे देख लिया था।”
 “अच्छा, तो इसके लिए अप्लाई क्यों नहीं करते?”
 “असिस्टेंट प्रोफेसर की नौकरी में क्या रखा है?”

“क्यों?... आखिरकार असिस्टेंट प्रोफेसर एक गजटेड ऑफिसर की
 पोस्ट होती है। फिर सरकारी नौकरी है। अप्लाई करने में क्या जाता है। हो
 जाए तो ठीक है, तब वैसा देख लेना। पहले नियुक्ति तो मिल जाए।” उन्होंने
 उससे कहा था।
 “ठीक है, देखता हूँ।”
 “देखता हूँ नहीं, लास्ट डेट से पहले-पहले सारी फार्मलिटीज़ पूरी करके
 फॉर्म जमा कर दो।”
 “कोई नहीं करता ये टीचिंग का जॉब...”
 “अरे, टीचिंग का जॉब है तो क्या? डॉक्टर तो कहे ही जाओगे। और
 फिर टीचिंग किसी प्राइमरी स्कूल में नहीं करनी है, मेडिकल कॉलेज में करनी
 होगी। फिर पहले नियुक्ति तो मिले।”
 “ठीक है, आता हूँ किसी दिन...”
 “अप्लाई करना ही है तो जल्दी कर लो, कल-परसों तक आ जाओ।
 सारे ज़रूरी डाक्यूमेंट्स लेके आना।”
 “आता हूँ...” कहकर उसने फोन काट दिया था।
 और उनके आग्रह पर उसने बेमन से फॉर्म सब्मिट कर दिया था।
 लास्ट डेट निकलने के तीन-चार दिन बाद इंटरव्यू के लिए कॉललेटर घर
 के पते पर आ गया था, जिसके अनुसार निर्धारित दिनांक को उसे साक्षात्कार
 हेतु भोपाल पहुँचना था।
 उन्होंने उसी दिन फोन करके उसे सूचित कर दिया था।
 इंटरव्यू के पाँच-छह दिन बाद मेडिकल कॉलेज का चपरासी घर के पते
 पर आकर एक पत्र दे गया था। उसे खोलकर पढ़ने के बाद जगदीप जी की
 खुशी की सीमा न रही थी। वह दिवाकर की असिस्टेंट प्रोफेसर पद पर
 नियुक्ति का पत्र था। वह किसी सपने के सच होने जैसा था जगदीप जी के
 लिए। वे इस बात से फूले नहीं समा रहे थे कि उनका बेटा आनन-फानन में
 सरकारी नौकरी में आकर मेडिकल कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफेसर बन गया है।
 उन्होंने उसी समय फोन करके दिवाकर को सूचना दी थी ज्वाइन करने की
 अन्तिम तिथि के बारे में बता दिया था, जो लगभग महीने भर आगे की थी।
 पर दिवाकर ने यह सूचना पाकर कोई बहुत उत्साह नहीं दिखाया था।
 उसने कहा था, “हाँ, मुझे पता था कि मेरी नियुक्ति हो जाएगी।”
 “तो फिर जल्दी आ जाओ और ज्वाइन कर लो। अपने शहर में नौकरी
 अपने घर पर रहना। इससे अच्छा हमारे लिए और क्या हो सकता है।” वे
 उत्साहित कह रहे थे।

पर उसकी तरफ से कोई उत्साह नज़र नहीं आ रहा था। वह ‘ठीक है
 देखता हूँ’, ‘ठीक है, देखता हूँ’ ही कहे जा रहा था।
 उसके बाद, कई दिन यों ही निकल गये। धीरे-धीरे ज्वाइन करने की अन्तिम
 तिथि नज़दीक आती जा रही थी कि अन्तिम तिथि से ठीक दो दिन पहले उसने
 उन्हें फोन पर कहा था, “मैं आ रहा हूँ... परसों तक ज्वाइन कर लूँगा।”
 वह आया था, और ज्वाइनिंग की औपचारिकताएँ पूरी करने के बाद,
 अपने सामान और कार को लेने के लिए दिल्ली चला गया था।
 तीसरे दिन जगदीप के छोटे-से घर के सामने एक मारुति आल्टो आ लगी थी।
 उसके बाद दिवाकर कार से मेडिकल कॉलेज जाने आने लगा था।
 जगदीप जी की दुनिया खुशनुमा और रंगभरी हो उठी थी। जगदीप जी अपने-
 आप को दुनिया का सबसे सुखी आदमी महसूस करने लगे थे।

और इसी तरह कोई चार महीने बीत गये थे।

...उस दिन रविवार था। देखने में सब कुछ सामान्य-जैसा लग रहा था। घर के भीतर टीवी की आवाजें थीं और उन्हीं आवाजों के साथ दोपहर गुजर गया था। दूसरे तमाम छुट्टी के दिनों की तरह कार घर के सामने रखी थी।

जगदीप जी यहीं— इसी कुर्सी पर बैठे थे कि तकरीबन चार बजे के आसपास दिवाकर उनके सामने आकर खड़ा हो गया और बोला, “हम जा रहे हैं...।”

सुनकर उन्होंने दिवाकर के चेहरे पर देखा और पूछा, “कहाँ जा रहे हो?”

“कहीं भी।” दिवाकर ने कहा।

“मतलब...?” वे हैरान-से उसकी ओर देख रहे थे।

“मतलब कुछ नहीं। हम थोड़ा ढंग से रहना चाहते हैं, ढंग की जगह पर रहना चाहते हैं...।” दिवाकर ने कहा था।

“तो क्या यहाँ ढंग से नहीं रह रहे?... क्या कमी है यहाँ?... फिर जाना कहाँ चाहते हो, यह तो बताओ!”

“कहीं भी! पर यहाँ नहीं रहना चाहते।”

“क्यों?” वह इस अप्रत्याशित स्थिति के लिए तैयार न थे; इसलिए उनके दो टूक स्वभाव के तहत शब्द तनिक सख्त हो उठे, “पर ढंग से रहने के लिए कहीं और जाने की क्या ज़रूरत है?... यह क्या घर नहीं है?”

“घर तो है, पर भिखारियों जैसा! इस घर के सामने तो मेरी कार भी रखी हुई बुरी लगती है।...” उसने कहा था।

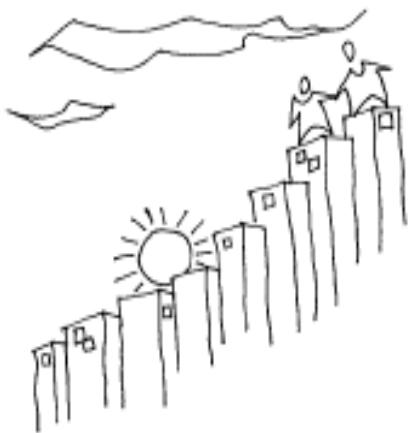
सुनकर वे अवाक् थे।

और दिवाकर लौटकर घर के भीतर चला गया था। वह कुछ सलाह लेने या किसी बहस के लिए उनके पास नहीं आया था बल्कि अपने निर्णय की सूचना भर देने के लिए आया था।

कुछ ही देर में वह घर के भीतर से सामान से भरे बैगों और पैकेटों को ला-लाकर कार की डिक्की में रखने लगा था। सामान लाने में उसकी मदद शुभंकर भी कर रहा था।

वे सकते में थे। आखिर यह हो क्या रहा है, वे समझ नहीं पा रहे थे। और अब वे अपने कमरे से निकलकर बाहर आ खड़े हुए थे।

सामान कार में शिफ्ट कर लेने के बाद दिवाकर कार की ओर बढ़ा, तो उन्होंने उससे कहा, “दिवाकर, यह अपना घर है। जैसा भी है, है तो अपना घर। तुम कहाँ जा रहे हो इस तरह।...” मत जाओ बेटा।”



सुनकर दिवाकर ने उनकी ओर देखा— ऐसी निगाह से जो यह कह रही थी कि इस विषय में हमने आप से कोई सलाह नहीं माँगी थी, जो यह सब कह रहे हो।

दिवाकर के पीछे ही शुभंकर भी कार की तरफ बढ़ रहा था, तो उन्होंने उससे कहा था, “शुभू, क्या तुम भी यहाँ नहीं रहोगे?”

शुभंकर ने जवाब में धीरे-से कहा, “नहीं।”

“क्यों?”

“मैं भी भैया के साथ ही रहूँगा।” शुभंकर ने इस तरह कहा गोया उसके मुँह से बोल ही नहीं निकल रहा हो।

जगदीप जी ने देखा कि उन दोनों के पीछे ही उनकी माँ भी खड़ी थी। उन्होंने उससे कहा, “तुम इनसे कुछ क्यों नहीं कह रही हो।”

सुनकर उसने अपना सपाट चेहरा उनकी ओर किया और कहा, “मैं का कहूँ, और काये के काजें कहूँ... मैंने कौन-से सुख भोगे हैं जा घर में। मैं तो जे रहेंगे तहाँ रहोंगी।”

सुनकर वे ‘सुख’ पर अटक गये और सोचने लगे कि सुख की परिभाषा और पहचान दुनिया के हर आदमी के लिए अलग-अलग होती है फिर सुख के बाबत पत्नी से क्या कहा जाए।

उन्होंने दिवाकर से फिर कहा, “देखो दिवाकर, ये अपना घर है... भिखारियों-जैसा है या राजाओं-जैसा, है तो अपना।... इसे जैसा चाहो, वैसा बनवा लो। पर रहो यहीं।”

जवाब में दिवाकर बोला, “घर को जैसा चाहें बनवा लें, पर इस मोहल्ले का क्या करें। यह मोहल्ला ही फटीचर— सड़े हुए लोगों का है।... यहाँ कुछ नहीं हो सकता।”

कहकर दिवाकर ने कार की ओर बढ़कर उसका दरवाजा खोला और वह उसके भीतर समा गया। उसके पीछे ही शुभंकर और उसकी माँ भी पिछले पल्ले को खोलकर उसके भीतर को सरक लिये।

दिवाकर ने चाबी लगाई तो कार आहिस्ता से गुर्राई। यह देखकर जगदीप जी कार के सामने जा खड़े हुए और जोर से बोले, “नहीं जाओगे तुम इस तरह।”

देखकर दिवाकर कार से बाहर निकल आया और उनके कन्धे से हाथ लगाते हुए बोला, “हट जाइए, और हमें निकलने दीजिये।”

“नहीं जा सकते तुम लोग।” वे चीखे।

आवाज सुनकर अड़ोस-पड़ोस के घरों के चेहरे बालकनियों, मुँहरों और दरवाजों पर आ प्रकट हुए।

जगदीप जी कार के सामने खड़े चीख रहे थे, “मैंने क्या नहीं किया तुम लोगों के लिए। और अब डॉक्टर बन गये, कार वाले बन गये तो...” कहते हुए जगदीप जी काँप रहे थे और कार के ठीक सामने अड़कर खड़े थे।

दिवाकर ने उन्हें लगभग धकियाते हुए कहा था, “हट जाइए और हमें जाने दीजिए यहाँ से।” वह उन्हें कार के सामने से हटा रहा था। जो हो रहा था वह उनके लिए अपमानजनक और नागवार था। उनकी करीब 55 साला जिन्दगी में किसी ने इस तरह उनके शरीर को हाथ नहीं लगाया था और उनका अपना ‘बड़ा आदमी’ बन गया बेटा उन्हें धकियाने की हद तक जा रहा था— यह देखकर उन्होंने अपना हाथ बढ़ा कर दिवाकर की शर्ट का गेरबान जकड़ लिया, और कहा, “पढ़-लिखकर और नौकरी पाकर क्या खुदा हो गया है तू... देखता हूँ तुम कैसे यहाँ से जाते हो... लेकर जाओ कार

मेरे ऊपर से निकाल कर।” कहते हुए उन्होंने एक झटके के साथ उसकी शर्ट का कॉलर छोड़ दिया था और थर-थर काँपते शरीर के साथ कार के सामने डटे रहे थे।

लोगों के लिए यह अजीब ‘तमाशा’ था, जिसे वे देख रहे थे— चुपचाप, आँखें फाड़े। इसके अलावा उन्हें और क्या करना। वे किसी के फटे में क्यों पैर डालें? शहर की यही तो तासीर है। यहाँ किसी-को-किसी से क्या लेना देना। बस, फुर्सत हो तो ‘तमाशा’ देखो, और टाइम न हो तो आगे बढ़ो।

दिवाकर अब घर और कार से कुछ दूर जाकर मोबाइल पर किसी से बात कर रहा था।

वे कार के आगे खड़े थे डटे हुए। करीब बीस-पचीस मिनट इसी यथास्थिति में बीत गये। शुभंकर और उसकी माँ अब कार से बाहर आकर उसकी बगल में खड़े थे। दिवाकर बार-बार किसी से मोबाइल पर बात करता दिख रहा था कि उसी समय गली के मुहाने से एक मोटरसाइकिल ‘फट्-फट्’ करती हुई उनके द्वार के सामने आ खड़ी हुई थी, जिस पर से दो वर्दीधारी पुलिसमैन उतरकर उनसे मुखातिब हो गये, “क्यों? क्या बात है?... और झगड़ा कहाँ हो रहा है?”

दिवाकर तुरन्त उनके पास आया और बोला, “मैंने ही कंट्रोल-रूम फोन किया था।”

सुनकर पुलिस वालों ने उसकी ओर देखा और उनमें से एक जिसकी शर्ट की बाँह पर फीती चिपकी थी बोला, “क्या बात है?... झगड़ा कहाँ हो रहा है?”

जगदीप जी सारा माजरा तुरन्त समझ गये थे। उन्होंने पुलिस वालों से कहा, “भाई साहब, सड़क पर से इधर आ जाइए द्वार पर... मैं आपको सारी बात बताता हूँ।” कहकर वे अपने घर के मुख्य द्वार के पास आ खड़े हुए और बोले थे, “ये हमारा घर है और ये मेरा बेटा है,” कहते हुए उन्होंने कार के पास खड़े दिवाकर की ओर इंगित किया, “ये डॉक्टर है।... ये इस घर को छोड़कर जाना चाहता है, और मैं इसे जाने नहीं देना चाह रहा हूँ। अब इसमें झगड़े की क्या बात है?... ”

सुनकर दोनों पुलिस वालों ने दिवाकर की तरफ देखा। दिवाकर ने कहा, “हाँ, हम ज़रा ठीक-ठाक जगह पर रहना चाहते हैं इसलिए आ रहे हैं।”

“आपकी शादी हो गयी है?” पुलिस वाले ने उससे पूछा था।

“नहीं।”

“तो फिर अभी क्यों जा रहे हो?”

“मैंने बताया ना कि हम थोड़ा ठीक जगह पर रहना चाहते हैं, यहाँ नहीं।”

“हम से मतलब और कौन?” पुलिसमैन ने नुक्ता पकड़ा था।

दिवाकर ने अपने पास खड़े शुभंकर की ओर इंगित किया, “ये मेरा छोटा भाई है और वे मेरी माँ हैं...” कहते हुए उसने शुभंकर के पास खड़ी अपनी माँ की ओर इंगित किया था।

“तो तुम अपने भाई और माँ को अपने साथ ले जाना चाहते हो?”

“हाँ।”

“और ये कौन हैं तुम्हारे?” पुलिसमैन ने जगदीप जी की ओर देखकर दिवाकर से पूछा था।

“ये मेरे पापा हैं।”

“फिर तुम अपनी माँ को अपने साथ ले के चले जाओगे, तो इनका क्या होगा?... इनका खाना... और...”

“इनका हम इन्तजाम करेंगे।”

“क्या इन्तजाम करोगे?”

“सब इन्तजाम करेंगे...।”

“जब सभी लोग जा रहे हो तो इनको भी साथ ले के जाओ।” पुलिस वाले ने तर्क किया था।

“नहीं, इन्हें यहाँ रहने की आदत है... इसलिए...”

“इन्हें यहाँ रहने की आदत है, या अपने साथ रखना नहीं चाहते?” कहकर पुलिस वाले ने दिवाकर के चेहरे पर देखा था।

जवाब में दिवाकर ने कुछ नहीं कहा।

“तुम्हारा भाई और माँ तुम्हारे साथ जाना चाहते हैं?”

“हाँ...”

“ठीक है, यह तुम्हारे घर का मामला है, इसमें पुलिस क्या कर सकती है।” फीतीवाले पुलिसमैन ने कहा था।

“तो फिर हम निकलें?” पुलिस वाले से मुखातिब दिवाकर को जैसे वहाँ से चले जाने की जल्दी थी।

“ठीक है...” पुलिस वाले ने सिर हिलाते हुए सहमति जताई।

सुनकर दिवाकर, शुभंकर और उसकी माँ लगभग पीछा छुड़ाने की-सी हड़बड़ी के साथ कार में आ बैठे।

कार स्टार्ट हुई और आगे बढ़ गयी थी।

जगदीप जी देखते रह गये थे— अकेले, अवाक्।

फीतीवाले पुलिसमैन ने चलते-चलते जगदीप जी से कहा, “देखो भाई साहब, लड़के बड़े हो गये अब...” इसके साथ ही मोटर-साइकिल स्टार्ट हुई और आगे बढ़ गयी थी।

उस दिन की शाम हो चली थी। शाम तो रोज ही होती थी; पर ऐसी शाम इसके पहले कभी नहीं हुई थी। जगदीप जी को कुछ सूझ नहीं रहा था। उन्हें लगता था कि वे एक अँधेरी-काली रात के बीच हैं। और शहर अनन्त विस्तार वाला एक जंगल है, जिसके बीचोंबीच वे अकेले हैं और उन्हें यह अन्दाज़ा नहीं हो पा रहा है कि किस तरफ़ को चलें कि जंगल से बाहर मनुष्यों की बस्ती में पहुँच जाएँ।...

वे अभी अपने कमरे में अपनी कुर्सी पर थे कि बाहर किसी चीज़ के गिरने की आहट हुई थी। उन्होंने उधर देखा— हॉकर शाम का अख़बार फेंक गया था। वे उठे और अख़बार को लेकर अपनी कुर्सी पर आ बैठे। खोला, देखा— कवर पेज की मुख्य ख़बर का शीर्षक बड़े-बड़े और मोटे अक्षरों में था— ‘सेंसेक्स 17000 के पार।’ नीचे, उससे छोटे अक्षरों में सुखी लगी थी— ‘रिकॉर्ड छलांग, ऊँचाई का शिखर छुआ।’ शीर्षक और उपशीर्षक पढ़ने के बाद ख़बर की डिटेल्स पढ़ने की उनकी इच्छा न रही। वे सोचने लगे थे कि पता नहीं कल के अख़बार में किस ‘छलांग’ की ख़बर लीड पर हो। सवाल प्राथमिकताओं का है, जो अब बदल रही हैं।

उनकी आँखों के सामने अब काला-निविड़ अन्धकार था।

ई डब्ल्यू एस—395, दर्पण कॉलोनी, थालीपुर, ग्वालियर—

474011

मो. 09827257361

तारा जब टूटता है ज्ञान चतुर्वेदी

बहुत प्यार करते थे दोनों। बहुत ही ज्यादा।

आज देखो तो ख़ैर विश्वास ही नहीं हो। पर करते तो थे। और ऐसा कि बस्स...। ऐसी ऐसी बातें। ऐसे ऐसे वायदे। ऊटपटांग परन्तु प्यारी बातें जैसी कि प्यार करने वाले न केवल किया करते हैं बल्कि उस समय तो उन बातों में पूरा विश्वास भी करते हैं। बातें तो ख़ैर हवा हुई सो अभी क्या बताएँ परन्तु उन दिनों के उनके पत्र पढ़ लें—वह सितारे तोड़ लाने की बातें लिखता और वह प्यार में मर जाने की कसमें खाती—और दोनों ही ये बातें बहुत शिद्दत से महसूस करके ही लिखते थे। उन दिनों, यदि मौका आता तो वे एक दूजे के लिए मिट भी जाते। ऐसी मुहब्बत। ऐसा लगाव। जिसे हम आप सच्चा प्यार बताते हैं न, ठीक वैसा। नींद ही नहीं आती। बौराये से भटकते। ख्याल, बस उसी के। यादों में वह। साँसों में वही। चिन्ता उसी की। दिन उसी के नाम। रातों पर उसी की कब्जा। धड़कनें सुनो तो उसी का राग। कानों में उसी का बातें। सन्नाटा उसी से भरा हुआ। ...वे सारी बातें जो प्यार में होती हैं। हमने कहा ही कि बहुत प्यार करते थे वे दोनों।

और आज वह मिला। कुछ वर्ष बाद बताने लगा कि तलाक के लिए केस लगा रहा है और आपके पास यूँ आया हूँ कि आप उसे ठीक से समझा दें कि यहाँ वहाँ की कानूनी चालाकियाँ खेलकर कोर्ट में मामला न घसीटे। सीधे से तलाक दे दे तो मेहरबानी होगी। कहने लगा कि आप तो हम दोनों को ही जानते रहे हैं। पढ़ाया है आपने। आपकी इज्जत करती है वह। अपना प्रभाव इस्तेमाल करें। मान जाये तो बेहतर। वरना, सर ऐसा है कि मैं भी कमीनेपन पर उतर आऊँ तो मैं उससे कोई कम नहीं—एक मिनट में सारे खानदान को निबटवा दूँगा।

मैं उसका मुँह देखता रह गया। वही तो है यह जो तब कहता था कि सर, घरवालों को समझाएँ कि हाँ नहीं कहेंगे तो हम दोनों ट्रेन के आगे कूद जाएँगे। वही तो है। वही शख्स। वही चेहरा। वही तो। तब घंटों बैठा रहता था उस लड़की के पास। बाद में घंटों उसी की बातें करना चाहता था। पिटा भी था। छाती तानकर बाप के सामने खड़ा हो गया था कि मारना हो तो मार लो, पर उसे नहीं छोड़ूँगा। बाद में छुप छुपकर मिलता था। दूर से ही देख पाता तो ऐसा तृप्त कि क्या कहें? आँखों में इतने सपने कि पलकें झपकाले की जगह नहीं। शहर भर में बदनाम। लोग कहते कि दोनों पगला गये हैं। सुनते कि कल उसने कुछ खा लिया—मरते मरते बची। रस्सा ख़रीद रखा था इसने। न जाने कब लटकना पड़े। कुएँ देख रहे थे कि किसमें कूदेंगे। हमेशा उसी की सोचता। जो चूड़ी देखता, मानता कि उसी के लिए बनी है। हर चुन्नी उसी को ओढ़ा देता। हर सितारा उसके आँचल में टाँक देता। हवा पर उसका नाम लिखता। किरणें संजोता। ...पगला कहीं का और वही क्यों। वो तो इससे ज्यादा ही थी।

पर अब?... हुआ क्या होगा? इतना प्यार था। फिर? क्या हुआ होगा?

मैं उसकी बात सुनकर अवाक था, यह तो नहीं कहूँगा। अपना भी बुढ़ापा आ चला है मित्रो। दुनिया इतनी देख डाली है कि अब अवाक कर देने वाली

बहुत कम चीज़ें बची हैं। परन्तु आश्चर्य तो अभी भी होता है। दुख भी। घबराहट भी। बेचैनी भी क्योंकि एक उम्र के सपने तो कहीं बने रहते ही हैं जो मरते नहीं। हाँ, प्यार और आदमी के इतने रंग तथा हश्र देख चुका हूँ कि अब ऐसी घटनाएँ भी हिलाती नहीं हैं। हर बार चकित अवश्य करती हैं। हर बार पता करने को मन करता है कि पूछूँ कि कहाँ क्या बदल गया या बिगड़ गया होगा? इतना गहरा रंग और कितनी तेज़ी से उतर गया? रंग कच्चा था या पैरटन ही ख़राब निकला? हर बार जब ऐसा होता है तो मैं कोशिश करता हूँ परन्तु कोई ठीक-ठीक बता नहीं पाता। वे बता नहीं पाते। शायद वे स्वयं नहीं जान पाते। जान पाते तो ऐसा होने ही क्यों देते। नहीं जान पाता है कोई कि यह कैसे हुआ?

“कैसे हुआ यह सब?” मैंने पूछा है उससे।

क्या बताता वह? क्या तो बताना था? वही बातें। सदियों से दोहराई जा रही शिकायतें। वो तो मुझे समझ ही नहीं सकी। शादी के बाद तो उसके रंग ही निराले। इतना शक करती है सर की बस! और हर मामले में चाहती है कि उसी की चले। मानो कि मैं कुछ हूँ ही नहीं। बहुत एडजस्ट किया सर। पर कब तक? रोज़ लड़ाई। रोज़ शिकायतें। रोज़ के टंटे। कभी ये। कभी वो। बच्चे को डाँट दिया तो नाराज़। खाने में नमक ज्यादा है पर बोलो मत! किसी लड़की से बातें करते पा ले तो मान लेगी कि मेरा अफेयर चल रहा है उससे। खुद अपने आफिस में दस आदमियों से उसकी दोस्ती!... अघा गया सर। न जाने क्या क्या बोलता रहा वह। वह तो मिली नहीं। मिलती तो उसके पास भी इसके लिए ऐसी ही बातें होती।

“फिर?” ... मैंने पूछा, “कहो तो उससे बात करूँ? समझाऊँ कि तुम लोग यूँ क्यों अलग...?”

“वो बात न करें सर।... भाड़ में गयी स्साली... सारी सर... पर आप यह ज़रूर कह दें उससे कि बाप और वकीलों के झाँसे में आकर केस को न घसीटे... बस,” उसने बड़ी कड़वाहट भरे स्वर में कहा और अचानक उठ गया। चुपचाप खड़ा रहा थोड़ी देर। फिर वह सीढ़ियाँ उतर गया। मैंने थोड़ी ही देर बाद छप्पे से झाँका। सड़क पर शायद वही तो था। भीड़ के बीच। समझ ही नहीं आया। सड़क पर भागती भीड़ में बिला गया था वह। ... मुझे उसके वे दिन याद आये जब वह उसके प्यार में डूबा रहता था। कई बार आता था मेरे पास। ऐसे ही अचानक सीढ़ियाँ उतरकर चला भी जाता था। पर तब कभी छप्पे से देखता था तो भीड़ के बीच वह सड़क पर एक कौंध की तरह दूर तक और देर तक दमकता दीखता रहता। अलग दिखता था। जीवन से भरा। चमकीला। दमकते तारे सा।

प्यार का तारा जब टूटता है तो पीछे कितना अँधेरा—सा छूट जाता है आसमान में—सड़क देखते हुए, छप्पे पर खड़ा सोच रहा हूँ मैं।

ए-40, अलकापुरी, भोपाल-462 024

मो.: 09425604103